समराइच्चकहा एक सांस्कृतिक अध्ययन

लेखक
डॉ० झिनकू यादव

भारती प्रकाशन
वाराणसी–१

प्रकाशक
भारती प्रकाशन
बी २७/९७, दुर्गाकुण्ड रोड,
वाराणसी–१

प्रकाशन वर्ष
सन १९७७
(भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त)

मुद्रक
वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहर नगर कालोनी, वाराणसी

परमपूज्यगुरुवर्याणां

भारतीयसंस्कृतिपुरातत्वविषयाधिगतविशेषवैदुष्याणां

प्रतिभावताम्, श्रीमतां लल्लनजी गोपाल महाभागानां

करकिसलयोः सादरार्पितम्

इदं पुस्तक प्रसूनम् ।

प्राक्कथन

इतिहास-संरचना की अपनी सीमायें और विशेषतायें हैं। इतिहासकार अतीत से प्राप्त सामग्री के माध्यम से घटनाओं एवं स्थितियों के स्वरूप का निर्धारण करता है। उसके प्रमाण ही उसकी सीमायें हैं। जिन घटनाओं और स्थितियों के विषय में संयोग से कोई ऐतिहासिक प्रमाण शेष नहीं बचा है उनके बारे में इतिहास प्रायः मौन ही रहता है। इतिहासकार का कार्यक्षेत्र उपलब्ध प्रमाणों की सीमा से घिरा है। वह अतीत को प्राप्त प्रमाणों की आँखों से ही देखता है। किन्तु प्रमाणों का मूल्यांकन करके इतिहास-संरचना करने में उसे तर्क एवं कुछ मात्रा में कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। प्रमाण जिस रूप में उपलब्ध होते हैं इतिहासकार उन्हें उसी रूप में श्रद्धा एवं भक्ति के साथ स्वीकार नहीं कर सकता। प्रमाणों के प्रति श्रद्धाभाव इतिहासकार का अवगुण माना जाता है। जो प्रमाण अतीत के अवशेष या पदार्थ के रूप में उपलब्ध होते हैं वे स्वाभाविक ही मौन होते हैं। किन्तु इतिहासकार को इसके कारण विशेष असुविधा नहीं होती। ये प्रमाण मुखर तो नहीं हो पाते किन्तु इनका साक्ष्य अधिक वैज्ञानिक होता है। इनके विषय में यह आशंका नहीं रहती कि किसी ने विशेष उद्देश्य से प्रयास-पूर्वक एकपक्षीय उल्लेख किया है। ऐसी आशंका लिखित प्रमाणों के विषय में अधिक घटित होती है। लिखित सामग्री, वह अभिलेख के रूप में हो अथवा ग्रन्थ के रूप में, इस प्रकार के दोष से ग्रसित हो सकती है।

रचनाओं में उनके लेखकों के व्यक्तित्व और उनके उद्देश्यों की स्पष्ट छाप दिखलाई पड़ती है। लेखक का व्यक्तित्व अनेक तत्वों के प्रभाव से निर्मित होता है। जाने या अनजाने ये तत्त्व उसकी रचनाओं के स्वरूप को निर्धारित करते हैं। जीवन और समाज पर धर्म का गहरा प्रभाव देखते हुए हम कह सकते हैं कि लेखक का निजी धर्म उसके व्यक्तित्व के निर्माण में प्रमुख तत्त्वों में से रहा होगा। अनेक ग्रन्थों की रचना में लेखक के निजी धर्म के किसी विशेष तत्त्व की पुष्टि ही उद्देश्य के रूप में स्पष्ट उल्लिखित हुई है।

अतीत के किसी तथ्य के विषय में यदि विभिन्न दृष्टिकोणों से विवरण उपलब्ध हैं तो तुलनात्मक विवेचन के द्वारा उसके सही स्वरूप का निर्धारण किया जा सकता है। प्राचीन भारत के धार्मिक और सामाजिक जीवन का जो विवरण ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है वह प्रायः आदर्श पक्ष को ही प्रस्तुत

करता है। इन संस्थाओं के स्वरूप का मूल्यांकन करने के लिए यह आवश्यक है कि इनके आलोचकों के विचारों का भी अवलोकन किया जाय। कभी-कभी आदर्श व्यवस्था के साथ ही यथार्थ को समझने के लिए भी अन्य लेखकों द्वारा दिये गये विवरण उपयोगी होते हैं।

प्राचीन भारतीय साहित्य में से जैन ग्रन्थों को इतिहास-संरचना में उनका उचित स्थान नहीं मिल सका है। ऐसा क्यों हुआ इसकी विवेचना हम नहीं करना चाहेंगे। जैन प्रमाणों का अपना महत्त्व है। अनेक विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि जैन परम्परा में अनेक तथ्य अति प्राचीन हैं। ये अन्य ग्रन्थों से प्राप्त सामग्री के सही मूल्यांकन में तो सहायक हैं ही, कुछ विषयों के संबन्ध में तो हमें कदाचित् केवल इन्हीं का सहारा है।

जैन साहित्य मुख्यतः प्राकृत एवं अपभ्रंश में है। इन ग्रन्थों के प्रामाणिक प्रकाशन एवं ऐतिहासिक मूल्यांकन की दिशा में कुछ प्रयास तो हुए हैं, किन्तु प्रगति की गति संतोषजनक नहीं है। स्वाभाविक है कि प्रारंभ में शोध-कार्य ग्रन्थ अथवा लेखक विशेष के द्वारा प्रदत्त सामग्री के विश्लेषण के रूप में सम्पादित होगा। जब इस प्रकार की सामग्री प्रभूत मात्रा में उपलब्ध हो जायगी तो उसके समग्र विवेचन और मूल्यांकन की ओर प्रयास किया जा सकता है। डा० झिनकू यादव का प्रस्तुत प्रयास इस दृष्टि से सराहनीय है। उन्होंने इतिहासकारों द्वारा उपेक्षित-प्राय प्राकृत एवं अपभ्रंश ग्रन्थों की सामग्री को इतिहास-संरचना में उचित महत्त्व दिलाना ही शोध का अपना कार्यक्षेत्र स्वीकार किया है।

जैन प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य पूर्वमध्यकालीन इतिहास के लिए विशेष रूप से उपयोगी है। इसमें राजस्थान, गुजरात और समीपवर्ती क्षेत्रों के इतिहास और सामाजिक तथा धार्मिक जीवन की वास्तविकता के विषय में बहुमूल्य सूचनाओं का भंडार निहित है। हरिभद्रसूरि की रचना समराइच्चकहा का इसमें पूर्व उपयोग यदा-कदा ही हुआ था। पूरे ग्रन्थ की सामग्री का संकलन और सांगोपांग विवेचन डा० यादव ने अपने प्रस्तुत ग्रन्थ में उपस्थित किया है। उन्होंने अन्य समकालीन प्रमाणों से तुलनात्मक विवेचन कर उपलब्ध तथ्यों का ऐतिहासिक मूल्यांकन किया है। इसी प्रकार किसी भी तथ्य का पूर्व इतिहास प्रस्तुत करके उन्होंने उसको उचित इतिहास-क्रम में आंका है।

हरिभद्रसूरि आठवीं शताब्दी ईसवी में हुए थे। आठवीं शताब्दी कई अर्थों में संक्रान्ति काल था। प्राचीन काल की व्यवस्थायें दीर्घकालीन विकास के बाद परिवर्तन की ओर बढ़ रही थीं, किन्तु मध्यकाल की अवस्थायें अपने सही रूप में प्रगट नहीं हुई थीं। इस संधि अवस्था में प्राचीन और मध्यकालीन व्यवस्थायें

परस्पर मिली-जुली दिखलाई पड़ती हैं। समराइच्चकहा में सामंत-प्रथा के जो विवरण मिलते हैं वे समकालीन स्थिति को परिलक्षित करते हैं। समराइच्चकहा में राजप्रासाद, मंत्री, सैन्य-व्यवस्था, दण्ड-व्यवस्था और पंचकुल आदि के विषय में महत्वपूर्ण सामग्री मिलती है। पारंपरिक वर्ग-व्यवस्था के साथ ही हरिभद्रसूरि ने जाति-संबंधी समकालीन वास्तविकता का भी अंकन किया है। विवाह की विधि का विवरण धर्मशास्त्रों में प्राप्त संक्षिप्त निर्देश का पूरक है और तत्कालीन सामाजिक जीवन के एक महत्वपूर्ण पक्ष का सच्चा चित्र प्रस्तुत करता है। व्यापार और उद्योगों के विषय में भी प्रचुर उपयोगी उल्लेख हैं। सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न पक्षों पर भी इस ग्रंथ से समुचित प्रकाश पड़ता है। हरिभद्रसूरि ने जैन धर्म और दर्शन के विषय में प्रामाणिक सामग्री के साथ ही समकालीन धार्मिक कृत्यों और विश्वासों की ओर भी निर्देश किया है।

मुझे आशा है कि पूर्वमध्यकालीन समाज और जीवन की वास्तविकताओं को समझने में प्रस्तुत शोध-प्रबंध सहायक होगा। इसका प्रकाशन जैन साहित्य के अध्ययन के मार्ग पर अग्रसर होने में डॉ० यादव के उत्साह का वर्धक हो, ऐसी मेरी शुभकामना है।

लल्लनजी गोपाल

प्रमुख, कलासंकाय एवं

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं

पुरातत्व विभाग

६-३-७३ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

दो शब्द

समराइच्च कहा श्वेताम्बर जैनाचार्य श्रीहरिभद्र सूरि की एक महत्वपूर्ण प्राकृत रचना है। हरिभद्र सूरि का काल आठवीं-नौवीं शताब्दी मे माना जाता है। कथा का प्रमुख उद्देश्य धर्मकथा सुना कर लोगों को जैन धर्म में दीक्षित कर मोक्ष की तरफ अग्रसर करना था। समराइच्च कहा में आदर्श और यथार्थ का संघर्ष दिखा कर अंत में आदर्श की प्रतिष्ठा करायी गयी है। इस ग्रन्थ में जनसाधारण से लेकर राजा-महाराजाओं तक के चरित्र को विस्तार एवं सूक्ष्मता के साथ चित्रित किया गया है। पूर्व मध्यकालीन प्राकृत कथाओं में समाज एवं व्यक्ति की विकृतियों पर प्रहार करके उनमें सुधार लाने का प्रयास किया गया है। इन प्राकृत कथाकारों ने लोक प्रचलित कथाओं के द्वारा लोक प्रचलित जनभाषा में अपने संदेश लोगों तक पहुँचाने के प्रयास किये हैं। इसी प्रकार समराइच्च कहा में भी समाज के विभिन्न वर्गों के वास्तविक जीवन का चित्र प्रस्तुत किया गया है। यह ग्रन्थ अपने समय की भौगोलिक, आर्थिक, प्रशासनिक, सामाजिक, धार्मिक आदि विभिन्न स्थितियों के अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण श्रोत है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल भारतीय इतिहास में संक्रांति का काल माना जाता है। वैदिककाल से चली आ रही प्राचीन परंपराएँ जर्जरित हो गयी थी तथा नयी चेतनाएँ पुष्पित हो रही थी। इस प्रकार की स्थितियों का विवरण कथाकार ने अपनी कथाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया है; यह पूर्व मध्यकालीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति का एक सबल प्रमाण स्रोत है।

समराइच्च कहा को अपने शोध विषय का आधार प्रदान करने की सलाह मुझे प्रोफेसर लल्लनजी गोपाल से मिली। मैंने उनसे काफी विचार-विमर्श करने के पश्चात् इस ग्रन्थ का सम्पूर्ण अध्ययन करके उसकी प्रचुर सामग्रियों पर एक सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत करने का निश्चय किया। तत्पश्चात् उन्हीं के निर्देशन में मैंने जनवरी १९७० में पी० एच० डी० के लिए इसी विषय पर शोध कार्य प्रारम्भ किया।

प्रोफेसर लल्लनजी गोपाल जो मेरे गुरु हैं, उनकी पत्नी डॉ० श्रीमती कृष्ण कांति गोपाल तथा डॉ० रघुनाथ सिंह जी (भूतपूर्व संसद सदस्य) के सानिध्य में मैंने अपने जीवन का प्रमुख उद्देश्य अध्ययन एवं अध्यापन ही निश्चित किया। प्रोफेसर लल्लनजी गोपाल के मधुर व्यवहार एवं विद्वत्तापूर्ण निर्देशन का ही परिणाम था कि मैं अपना शोधकार्य तमाम कठिनाइयों के होते हुए भी पूरा कर

सका। उनके अपूर्व स्नेह तथा विद्वत्तापूर्ण सुझावों के लिए मैं उनके प्रति आजीवन आभारी रहूँगा। डॉ० श्रीमती कृष्ण कांति गोपाल तथा डॉ० रघुनाथ सिंह जी से मुझे समय-समय पर महत्त्वपूर्ण सुझाव तथा कार्य करने की प्रेरणा मिली मैं उनके प्रति हृदय से आभार प्रकट करता हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ को पूरा करने में मुझे 'प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व' विभाग के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री सुरेशचन्द्र घिण्डियापाल से पुस्तकों की पूरी-पूरी सहायता प्राप्त हुई जिसके लिए मैं उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ। इसी प्रकार पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के अध्यक्ष डॉ० मोहनलाल मेहता, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के पुस्तकालयाध्यक्ष तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के गायकवाड ग्रन्थालयाध्यक्ष के प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ जहाँ से मुझे पुस्तकीय सहायता मिली।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् के अध्यक्ष प्रोफेसर राम शरण शर्माजी का मैं हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने समुचित सुझाव देकर इसके प्रकाशनार्थ अनुदान स्वीकृत किया। मैं इस पुस्तक के प्रकाशन में भार्गवी प्रकाशन, वाराणसी के श्री प्रकाश पाण्डेय के तथा वर्द्धमान मुद्रणालय का भी आभारी हूँ जिनकी सहायता से ही यह पुस्तक इस रूप में प्रकाशित हो सकी।

प्रूफ पढ़ने में कुछ अशुद्धियाँ अनजाने में रह गयीं जिसके लिए मैं पाठकों से क्षमा प्रार्थी हूँ। प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के अध्ययन की दिशा में मेरा यह अल्प प्रयास सफल हो, यही मेरी ईश्वर से प्रार्थना है।

वाराणसी

मार्च २२, १९७७। झिनकू यादव

संकेताक्षर सूची

आदि०—आदि पुराण
इपि० इंडि०—इपिग्रैफिया इंडिका
इंडि० ऐंटी०—इंडियन ऐंटीक्वेरी
इंडि० इपि०—इंडियन इपिग्रैफिकल ग्लासरीज
इंडि० हिस्टा० क्वार्ट०—इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली
कामं०—कामंदकनीतिसार
गौतम०—गौतम स्मृति
गौतम०—गौतम धर्मसूत्र
नीतिवाक्या०—नीतिवाक्यामृत
पराशर०—पराशर स्मृति
पृ०-पृष्ठ
बृह०—बृहस्पति स्मृति
मनु०—मनुस्मृति
याज्ञ०—याज्ञवल्क्य स्मृति
वशिष्ठ—वशिष्ठ स्मृति
समं० क०—समराइच्च कहा
सं०—संपादक

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

अध्याय : ४

अध्याय : ५

अध्याय : ६

अध्याय : ७

अध्याय : ८

प्रथम–अध्याय

हरिभद्र सूरि का काल निर्धारण

समराइच्च कहा को शोध प्रबन्ध का आधार बनाने से पूर्व उसके रचयिता का समय निर्धारण कर लेना आवश्यक है। समराइच्चकहा और धूर्ताख्यान आदि प्राकृत कथाओं के रचयिता हरिभद्र सूरि थे जो एक जैन श्वेताम्बराचार्य के नाम से प्रख्यात थे। इनका समय निर्धारण अधोलिखित ढंग से किया जा सकता है।

कुवलयमाला कहा के रचयिता उद्योतन सूरि ने हरिभद्र सूरि को अपना गुरु माना है[1] तथा उन्होंने कुवलयमाला कहा को शक संवत् ७०० (७७८ ई०) में समाप्त किया था।[2] जिससे स्पष्ट होता है कि हरिभद्र की तिथि ७७८ ई० के पूर्व ही रही होगी।[3] मुनि जिन विजय ने हरिभद्र के समय निर्णय नामक निबन्ध में हरिभद्र द्वारा उल्लिखित आचार्यों की नामावली उनके तिथि क्रम के अनुसार इस प्रकार दी है—धर्म कीर्ति (६००-६५० ई०), वाक्यपदीय के रचयिता भर्तृहरि (६००-६५०), कुमारिल (६२०-७०० ई०), शुभगुप्त (६४०-७०० ई०) और शांत रक्षित (७०५-७३२ ई०)।[4] हरिभद्र सूरि द्वारा उल्लिखित इस नामावली से स्पष्ट होता है कि हरिभद्र का समय ई० सन् ७०० के बाद ही रहा होगा। अतः उद्योतन सूरि के कुवलयमालाकहा के आधार पर हरिभद्र सूरि का अभ्युदय काल ७०० ई० से ७७८ ई० तक माना जा सकता है।

प्रो० आयंगर ने हरिभद्र के ऊपर शंकराचार्य का प्रभाव बतलाकर उन्हें शंकराचार्य के बाद का विद्वान माना है।[5] किन्तु मुनि जिन विजय ने हरिभद्र को शंकराचार्य का पूर्ववर्ती माना है। उनके अनुसार शंकराचार्य का समय ७७८ ई०

---

१. कुवलयमाला, अनुच्छेद ६, पृ० ४—"जो इच्छई भवविरहं को ण बंदए सुयणो। समय सय सत्थ गुरुणो समरमियंका कहा जस्स ॥"

२. वही अनुच्छेद ४३०, पृ० २८२—"सो सिद्धतेण गुरुजुत्ती सत्थेहि जस्स हरिभद्दो। बहु सत्थ गंथ-वित्थर पत्थारिय पयड सव्वत्थो ॥"

३. इसका समर्थन डा० दशरथ शर्मा तथा यस० सी० मोदी ने भी किया है। देखिए—दशरथ शर्मा—अर्ली चौहान डाइनेस्टीज पृ० २२२; तथा यस० सी० मोदी—सम० क० इन्ट्रोडक्शन।

४. मुनि जिन विजय—हरिभद्राचार्यस्य समय निर्णयः।

५. विंशतिविंशिका—प्रस्तावना।

में ८२० ई० तक स्वीकार किया जाता है और तर्क में बताया है कि हरिभद्र ने अपने पूर्ववर्ती सभी विद्वानों का उल्लेख किया है किन्तु शंकराचार्य का[1] नहीं जिससे हरिभद्र का काल शंकराचार्य के पूर्व निश्चित होना अभीष्ट है।

उपमितिभवप्रपंचा कथा के रचयिता सिद्धर्षि ने अपनी कथा की प्रशस्ति में हरिभद्र को अपना गुरु मान कर उनकी वंदना की है।[2] प्रो० आम्यंगर ने हरिभद्र को सिद्धर्षि का साक्षात् गुरु मान कर उनका समय विक्रम संवत् ८००-९५० माना है; परन्तु जिन विजय के अनुसार आचार्य हरिभद्र द्वारा रचित ललितविस्तरावृत्ति के अध्ययन से सिद्धर्षि का कुवासनामय विष दूर हुआ था। इसी कारण सिद्धर्षि ने उसके रचयिता को धर्मबोधक गुरु माना है।[3]

ऊपर के विवरण को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि जो हरिभद्र कुवलयमाला कहा के रचयिता उद्योतन सूरि के गुरु रह चुके थे (जिन्होंने ७७८ ई० में कुवलयमाला कहा की रचना की थी) वह सिद्धर्षि (जिनका समय दशवीं शताब्दी के प्रारम्भ का माना जाता है) के गुरु कदापि नहीं हो सकते और न तो उन पर शंकराचार्य का प्रभाव ही सिद्ध किया जा सकता है।

हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय श्लोक ३० में जयन्त भट्ट की न्यायमंजरी के कुछ[4] पद्य जैसे के तैसे प्राप्त होते हैं। पंडित महेन्द्र कुमार ने जयन्त की न्याय मंजरी का रचना काल ई० सन् ८०० के लगभग मानकर हरिभद्र का समय ८०० ई० के बाद का स्वीकार किया है[5]। किन्तु यह तिथि मान लेने पर हम उन्हें उद्योतन सूरि का गुरु नहीं मान सकते। नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार संभवतः हरिभद्र और जयन्त इन दोनों ने किसी एक ही पूर्ववर्ती रचना से उक्त पद्य को उद्धृत किया है।[6]

सटीकनयचक्र के रचयिता मल्लवादी का निर्देश हरिभद्र ने अनेकान्तजय-

---

१ मुनि जिन विजय—हरिभद्राचार्यस्य समय निर्णयः।
२ वही पृ० ३।
३ नेमि चन्द्र शास्त्री—हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन पृ० ४८।
४ न्यायमंजरी, विजय नगर संस्करण, पृ० १२९—गम्भीर गर्जितारंभ—निभिन्न गिरिगह्वरा। रोलम्बगवल व्यालतमालमलिनत्विषः ॥ त्वंगता-डिल्लतासंगपिशंगोत्तु विग्रह। वृषि व्यभिचरंतहि नैव प्रायः प्रयोमुचः ॥"
५. सिद्धिविनिश्चय टीका की प्रस्तावना, पृ० ५२॥
६. नेमिचन्द्र शास्त्री—हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ० ४६॥

पताका की टीका मे किया है। नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार हरिभद्र सूरि मल्लवादी के समसामयिक विद्वान थे जिनका काल ८२७ ई० के आस पास माना गया है[1]। अतः कुवलयमाला कहा के रचयिता उद्योतन सूरि के शिष्यत्व को ध्यान में रखते हुए हरिभद्र का समय ७३० ई० से ८३० ई० तक माना है।[2]

इन उपरोक्त तर्कों को ध्यान मे रखते हुए यह कहा जा सकता है कि हरिभद्र सूरि ७०० ई० के बाद से लेकर ८२७ ई० के कुछ बाद तक जीवित रहे। चूंकि ऊपर हरिभद्र द्वारा उल्लिखित अपने पूर्व आचार्यो की सूची में शांत रक्षित का काल ७०५ ई० से ७६२ ई० तक बढ़ाया गया है। अतः स्पष्ट है कि यदि शांत रक्षित की तिथि सही हैं तो हरिभद्र ७०५ ई० के बाद ही हुए होंगे। मुनि जिन विजय ने इनका जो काल निर्धारण ७०० से ७७० ई० तक किया है वह ७०५ ई० के बाद का ही तर्क संगत प्रतीत होता है और हरिभद्र सूरि को मल्लवादी की समकालीनता को ध्यान में रखते हुए उनकी तिथि ७३० ई० के बाद से लेकर ८३० ई० के लगभग मानी जा सकती है।

हरिभद्र सूरि का जीवन वृत्तांत

हरिभद्रसूरि की ही रचनाओं मे उनके जीवन वृत्तान्त सम्बन्धी कुछ विवरण प्राप्त होते हैं। आवश्यकसूत्र टीका प्रशस्ति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हरिभद्र श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विद्याधरगच्छ के शिष्य थे। गच्छपति आचार्य का नाम जिन भट्ट और दीक्षा गुरु का नाम जिनदत्त था। इनकी धर्ममाता याकिनी महत्तरा थी।[3] मुनिचन्द्र द्वारा रचित उपदेशपद टीका प्रशस्ति (११७४ ई०), जिनदत्त का 'गणधरमार्धशतक' (११६८ से ११२१ ई०), प्रभाचन्द्र का 'प्रभावकचरित' (वि० सम्वत् १३३४), राजशेखर द्वारा रचित 'प्रबन्धकोष' एवं सुमतिगणि द्वारा रचित 'गणधरमार्धशतक वृहद् टीका' (वि० स० १२८५) आदि के आधार पर हरिभद्र सूरि का जीवन वृत्तान्त स्पष्ट होता है। ये राजस्थान के चित्रकूट (चित्तौड़) नामक स्थान में जन्म लिये थे। इनका जन्म एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था और अपनी विद्वता के कारण ही वहां के राजा जीतार्य के राज पुरोहित नियुक्त हुए थे। बाद में इन्होंने दीक्षा ग्रहण कर

---

१. नेमिचन्द्र शास्त्री—हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ० ४६।

२. वही, पृ० ४७।।

३. नेमिचन्द्र शास्त्री—हरिभद्र सूरि के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ० ४८।।

जैन श्रमण के रूप में अपना जीवन राजपूताना और गुजरात में व्यतीत किया। समराइच्च कहा की कथा में उल्लिखित जनपदों एवं नगरों आदि के वर्णन के आधार पर कहा जा सकता है कि हरिभद्रसूरि ने समस्त उत्तर भारत का भी भ्रमण किया था। किन्तु उनकी रचनाओं में दक्षिण भारत का विशेष वर्णन नहीं मिलता है जिससे प्रतीत होता है कि हरिभद्र ने मुख्यतया उत्तरी भारत, राजपूताना और गुजरात में ही श्रमण के रूप में भ्रमण किया होगा।

हरिभद्र सूरि के जीवन की महत्वपूर्ण घटना उनका धर्म परिवर्तन है। उनकी यह प्रतिज्ञा थी कि 'जिसका वचन मैं स्वयं न समझूं उनका शिष्य हो जाऊं।' संयोगवश हरिभद्र सूरि एक बार एक बिगड़े हुए हाथी से बचने के लिए याकिनी महत्तरा नाम की साध्वी के आश्रम में पहुँचे। वहां उन्होंने उस साध्वी द्वारा 'हरिपणंग चक्कीण केसवो चक्की। केसव चक्की केसवदुचक्की केसव चक्की य[1]' कहे गये गाथा का अर्थ न समझने पर साध्वी से उसका अर्थ पूंछा। साध्वी ने उन्हें गच्छ पति आचार्य जिनभट्ट के पास भेजा और आचार्य से अर्थ सुनकर वे उन्हीं के द्वारा दीक्षित हो गये। कालान्तर में वह उन्हीं के पट्टधर आचार्य बन गये।

हरिभद्र सूरि ने अपने को याकिनी सूनु कहा है क्योंकि याकिनी महत्तरा के ही प्रभाव से इन्होंने अपना धर्म परिवर्तित कर जैन धर्म में दीक्षा ग्रहण की थी। सत्य रूप से उन्होंने याकिनी को अपनी धर्म माता स्वीकार किया। हरिभद्र सूरि भवविरह सूरि अथवा विरहांक कवि के रूप में भी जाने जाते थे जिसका उल्लेख उद्योतन सूरि के कुवलयमाला कहा तथा हरिभद्र की स्वयं की रचनाओं में आया है। हरिभद्र ने अपने ग्रन्थों की अन्तिम गाथा तथा श्लोक में कभी भव विरह और कभी विरहांक कवि आदि का प्रयोग किया है।

हरिभद्र सूरि जिनभट्ट आचार्य के पास जब गये तो उनसे धर्म का फल पूछा। आचार्य ने धर्म के दो भेद बतलाये—सस्पृह (सकाम) और निःस्पृह (निष्काम)। सकामधर्म का आचरण करने वाला स्वर्गादि सुख का भागी बनता है तथा निष्काम धर्म का आचरण करने वाला भव विरह मोक्ष (जन्म, जरा मरणादि से छुटकारा पाना) पद का अनुगामी होता है। हरिभद्र ने भव विरह को ही श्रेय समझ कर ग्रहण किया[2]। अतः किसी के द्वारा नमस्कार या वन्दना किये जाने पर वे उसे 'भव विरह करने में उद्यमवन्त होओ' कहकर आशीर्वाद

---

१. जैकोबी द्वारा लिखित समराइच्चकहा की प्रस्तावना, पृ० ८ ॥

२. नेमिचन्द्र शास्त्री—हरिभद्र सूरि के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ० ५० ॥

देते थे। भक्त लोग 'भव विरह सूरि' चिरंजीवी हों', कहते हुए प्रस्थान कर देते थे। इस प्रकार 'भव विरह' रूप में लोक प्रिय होने के कारण हरिभद्र ने स्वयं भव विरह शब्द को ग्रहण किया और उसी नाम से कवि अथवा आचार्य कहे जाने लगे।[1]

रचनाएं

आचार्य हरिभद्र सूरि द्वारा लिखे गये ग्रन्थों की सूची के विषय में विद्वानों में मतभेद है। अभयदेव सूरि ने पंचाशग की टीका में, मुनि चन्द्र ने उपदेश पद की टीका मे और वादिदेव सूरि ने अपने स्याद्वाद रत्नाकार में हरिभद्र को १४०० प्रकरणो का रचयिता बताया है, राजशेखर सूरि ने अपनी अर्थ दीपिका मे तथा विजय लक्ष्मी सूरि ने अपने उपदेश प्रासाद में इनको १४४४ प्रकरणों का प्रणयनकर्ता माना है।[2] राजशेखर सूरि ने अपने प्रबन्ध कोश में इनकी रचनाओं की संख्या १४४० बतायी है[3]। लेकिन अब तक के उपलब्ध ग्रन्थों की सूची देखते हुए लगभग १०० ग्रन्थों के नामों का पता लगा है जो हरिभद्र सूरि द्वारा रचित कहे जा सकते हैं। डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने हरिभद्र सूरि की रचनाओं की एक तालिका दी है[4], जिनमे आगम ग्रन्थों और पूर्वाचार्यों की कृतियों पर टीकाओं की संख्या १६ है, स्वरचित ग्रन्थों मे टीका सहित मौलिक ग्रन्थ ७ है एवं टीका रहित मौलिक ग्रन्थ जिनमे समराइच्च कहा, धूर्ताख्यान, षड्दर्शन समुच्चय आदि ग्रन्थ भी सम्मिलित है, की संख्या २७ है तथा कुछ संदिग्ध रचनायें भी हैं जिनकी संख्या ४३ हैं।

समराइच्चकहा की संक्षिप्त कथावस्तु

समराइच्चकहा की कथा नौ भव में कही गई है। इन नौ भवों में समरादित्य के नौ जन्मों की कथा आई है। प्रथम भव में गुणसेन और अग्नि शर्मा की कथा कही गई है। अग्नि शर्मा अपने बाल्यावस्था के संस्कार और हीनत्व की भावना के कारण ही गुणसेन द्वारा पारण के दिन भूल जाने के कारण उसके ऊपर क्रुद्ध हो जाता है और जन्म-जन्मान्तर तक बदला लेने की भावना लेकर मृत्यु को प्राप्त होता है। परिणामतः वह अनन्त संसार की ओर अग्रसर होता

---

१. नेमिचन्द्र शास्त्री—हरिभद्र सूरि के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ० ४५॥

२. वही, पृ० ५१॥

३. वही, पृ० ५१॥

४. वही, पृ० ५२–५४॥

है। इधर गुणसेन पश्चाताप की अग्नि में जलते हुए अपने सात्विक गुणों के कारण धर्म की ओर उन्मुख होता है। अन्त में दोनों मर कर दूसरे जन्म में पिता और पुत्र रूप में उत्पन्न होते हैं। गुणसेन सिंह कुमार के रूप में तथा अग्नि शर्मा आनन्द के रूप में जन्म लेते हैं जिनकी कथा दूसरे भव में कही गई है। आनन्द अपने पिता सिंह कुमार द्वारा दिये गये राज्य से संतुष्ट न होकर पूर्वजन्म के संकल्प के अनुसार पिता को बन्दी बना लेता है और अन्त में मार डालता है। तृतीय भव में अग्नि शर्मा की आत्मा जालिनी और गुणसेन की आत्मा शिखिन के रूप में चित्रित किये गये हैं। इस भव में भी माता जालिनी अपने पुत्र शिखिन को अपने पूर्व जन्म के प्रण का लक्ष्य बनाती है और विषमिश्रित लड्डू खिला कर मार डालती है। चतुर्थ भव में वही गुणसेन और अग्नि शर्मा क्रमशः धन और धनश्री (पति-पत्नी) रूप में दिखाये गये हैं और अंत में धन भी धनश्री के पूर्वजन्म के कोप का भाजन बनता है। पंचम भव में जय और विजय की कथा कही गई है। इस भव में विजय कुमार पूर्व जन्म के कुत्सित संस्कार के ही फलस्वरूप जय को षडयंत्र से मार डालता है। छठे भव मे धरण और लक्ष्मी की कथा कही गई है जो परस्पर पति और पत्नी के रूप में चित्रित किये गये हैं। इस भव मे भी लक्ष्मी (पत्नी) को बदले की भावना प्रज्ज्वलित होती है और धरण को मार डालने का षडयंत्र करती है। सप्तम भव में सेन और विशेण की कथा कही गयी है और अंत में सेन श्रमण धर्म का आचरण करते हुए भ्रमण करते हैं तथा विशेण उसे पूर्व भव के विकार से उत्पन्न दोष के कारण मारने का प्रयास करता है; किन्तु क्षेत्र देवता के प्रभाव से असफल रहता है। आठवें भव में गुण चन्द्र और बानमंतर की कथा आती है। गुण चन्द्र अपने पूर्व जन्मों के सत्कर्मों के प्रभाव से शुद्ध आत्मा तथा बानमंतर दुष्कर्मो द्वारा उत्पन्न विकार के फलस्वरू दुश्चरित्र बनता है। इस भव में भी वानमंतर गुणचन्द्र को मारने का निरंतर प्रयास करता है लेकिन वह गुणचन्द्र के अन्दर उत्पन्न दैवी प्रभाव के कारण असफल रह जाता है। अंत में नवें भव मे समरादित्य और गिरिषेण की कथा कही गयी है। समरादित्य अपने पूर्व जन्मों के सतकर्मों के प्रभाव से संसार से निवृत्त हो जाता है और मोक्ष प्राप्त करता है, जबकि गिरिषेण अपने दुष्टाचारण के परिणाम स्वरूप संसार गति को प्राप्त होता है।

समराइच्चकहा अपने समय की संस्कृति एवं सामाजिक रीति रिवाजों का एक प्रमुख स्रोत है। इस ग्रन्थ में प्राचीन भारत के अन्त तथा पूर्व मध्यकाल के प्रारम्भ के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक संगठनों का नया रूप देखने को मिलता है। अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही भारतीय

परम्पराओं का ह्रास तथा नयी चेतना का विकास इस ग्रन्थ की विशेषता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारतीय सामाजिक परम्पराओं का क्रमिक ह्रास तथा नये सामाजिक संगठनों का प्रारम्भ किस प्रकार हुआ इसका प्रमाण और विवेचन हमें समराइच्चकहा में देखने को मिलता है।

इस ग्रन्थ के रचयिता श्वेताम्बर जैनाचार्य हरिभद्र सूरि हैं। वैदिक धर्म का आचरण करने वाले तपस्वी एवं मुनिजनों के आचार एवं विचार का यत्र तत्र वर्णन करते हुए जैन विचारों की विशेषता बता कर जैन धर्म में लोगों की प्रवृत्ति पैदा करना इस ग्रन्थ का लक्ष्य है। समराइच्चकहा एक जैन ग्रन्थ होने के साथ-साथ आठवीं शताब्दी के भारत की सम्प्रदायों एवं प्रचलित विचार धाराओं की सूचना का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की सूचनायें जैन धर्म से प्रभावित जान पड़ती हैं जिसकी पुष्टि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के अध्यायों में यथोचित की गयी है।

समराइच्चकहा तत्कालीन समाज की आर्थिक अवस्था का एक प्रधान स्रोत है। देश के अन्दर तथा देश के बाहर के द्वीपों के साथ जलमार्गों द्वारा व्यापार का जितना सुविस्तृत उल्लेख समराइच्च कहा में मिलता है उतना अन्यत्र विरल है। उस समय के व्यापारियों के सामने स्थल एवं जल मार्गों में उत्पन्न कठिनाइयों का विस्तृत वर्णन समराइच्चकहा में देखने को मिलता है। इस ग्रन्थ की एक अन्य विशेषता यह है कि इसके अधिकतर पात्र व्यापार एवं वाणिज्य करते हुए दिखलाये गये हैं और इन्हीं नायकों को अन्त में जैन धर्म में प्रवृत्त हुआ दिखलाया गया है। सम्भवतः जैन धर्मावलम्बियों के सिद्धान्त में कृषि कर्म को प्राथमिकता न देकर व्यापार-वाणिज्य को अधिक प्रश्रय दिया गया है जो अहिंसावादी जैन धर्म के प्रभाव के कारण प्रतिपादित जान पड़ता है।

समराइच्च कहा के प्रत्येक भव की कथा शिल्प, वर्ण्य विषय, चरित्र, स्थापत्य, संस्कृति निरूपण एवं सन्देश आदि विभिन्न दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। यहाँ आदर्श और यथार्थ का संघर्ष दिखा कर अन्त में आदर्श की प्रतिष्ठा की गयी जान पड़ती है। कुछ अन्य विचारकों ने भी यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्राकृत कथा साहित्य बहुत ही उपयोगी है। जनसाधारण से लेकर राजा-महाराजाओं तक के चरित्र को जितने विस्तार एवं सूक्ष्मता के साथ प्राकृत कथाकारों ने चित्रित किया है उतना अन्यत्र दुर्लभ है।[1] प्रायः सभी प्राकृत कथाओं में यह

१. नेमिचन्द्र शास्त्री—हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ० ३९९।

स्पष्ट रूप में देखने को मिलता है कि वे पाठकों के समक्ष जगत का यथार्थ उपस्थित कर आत्म कल्याण की ओर प्रवृत्त करने वाला सिद्धान्त उपस्थित करते हैं।[१] समराइच्च कहा के हर भव में प्रायः ये सारी विशेषताएँ पायी जाती हैं।

यह प्राकृत कथाएँ आगम काल से ही प्रारम्भ होकर पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी तक विकसित होती रही। इन प्राकृत कथाओं में समाज और व्यक्ति की विकृतियों पर प्रहार कर उनमें सुधार लाने का प्रयास किया गया है। प्राकृत कथा साहित्य की प्रमुख विशेषता यह है कि कथाकारों ने लोक प्रचलित कथाओं को लोक प्रचलित जन भाषा में व्यक्त किया और उन्हें अपने धार्मिक ढाँचे में ढाल कर धर्म प्रचारार्थ एक नया रूप दिया। विंटरनित्स ने भी प्राकृत कथा साहित्य की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए—लिखा है कि जैनों का कथा साहित्य वास्तव में विशाल है। साहित्य की अन्य शाखाओं की अपेक्षा हमें जन-साधारण के जीवन की झाँकियाँ स्पष्ट रूप से देखने को मिलती हैं। जिस प्रकार इन कथाओं की भाषा और जनता की भाषा में अनेक साम्य हैं उसी प्रकार उनका वर्ण्य विषय भी विभिन्न वर्गों के वास्तविक जीवन का चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करता है।[२] उन्हीं के विचार से जैन आचार्यों ने जन सामान्य के हित को ध्यान में रखते हुए प्राचीन जैन आगम ग्रन्थ तथा उनपर प्रारम्भिक टीकाएँ प्राकृत भाषा (मागधी और महाराष्ट्री) में लिखीं जो सर्वसाधारण की भाषा थी।[३] समराइच्च कहा आठवीं-नौवीं शताब्दी की जनप्रचलित भाषा में अंकित एक वृहद् कथा साहित्य है जिसमें राजा-महाराजाओं से लेकर समाज के निम्नस्तर तक के व्यक्तियों का सही स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। इसमें तत्कालीन भारतीय समाज में प्रचलित रीति-रिवाजों, रहन-सहन के ढंग, सामाजिक संगठन, राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति का स्पष्ट चित्रांकन किया गया है। प्राकृत कथा साहित्य में इसका अपना विशिष्ट स्थान है जो प्राकृत कथाओं की संपूर्ण विशेषताओं का भंडार स्वरूप जान पड़ता है।

●

१. नेमिचन्द्र शास्त्री—हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ० ३९९।
२. विंटरनित्स—हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २, पृ० ४७५।
३. वही पृ० ४२७।

द्वितीय-अध्याय

भौगोलिक उल्लेख

समराइच्च कहा में भारत की भौगोलिक सीमा के अन्तर्गत पूर्व में कामरूप-आसाम, पश्चिम में हस्तिनापुर, दक्षिण में सौराष्ट्र, और उत्तर में हिमालय तक के प्रदेशों का उल्लेख है। इस सीमा के बाहर कुछ द्वीपों यथा—चीन द्वीप, सिंहल द्वीप, रत्न द्वीप, महाकटाह आदि का उल्लेख है। विभिन्न द्वीपों और नगरों के साथ-साथ अनेक वन, पर्वत और नदियों का भी उल्लेख है जिनके आधार पर हरिभद्र द्वारा उल्लिखित भारत की भौगोलिक दशा का वर्णन किया जा सकता है।

द्वीप

समराइच्च कहा में निम्नलिखित द्वीपों का उल्लेख मिलता है।

जम्बू द्वीप[1]—समराइच्च कहा में जम्बू द्वीप की स्थिति आदि के बारे में विस्तृत उल्लेख नहीं है। किन्तु जैन परम्परा में इस द्वीप का विशेष महत्व बताया गया है। जम्बू वृक्ष के नाम के कारण ही इस द्वीप का नामकरण हुआ। इसका आकार गोल है और इसके मध्य में नाभि के समान मेरु पर्वत स्थित है। जम्बू द्वीप का विस्तार १००००० योजन है और परिधि ३,१६२२७ योजन ३० कोस १२८ धनुष १३।। अंगुल बताई गयी है।[2] इसका घनाकार क्षेत्र ७९० करोड़ ५६९४१५० योजन है।[3]

जम्बू द्वीप (एशिया) हिमवन (हिमालय), महाहिमवन, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी—इन छः पर्वतों के कारण भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत नाम के सात क्षेत्रों में विभाजित है।[4] भरत क्षेत्र २५६ [illegible] योजन विस्तार वाला है जो क्षुद्र हिमवन्त के दक्षिण में तथा पूर्वी और पश्चिमी

---

१. सम० क० १, पृ० ७५, २, पृ० १३०; ३, पृ० १६२; ४, पृ० ३६३; ६, पृ० ५७६; ७, पृ० ६१२-७१३; ८, पृ० ७३१।

२. हरिवंश पुराण, ज्ञानपीठ संस्करण, ५।४-५।

३. वही, ५।६-७।

४. जगदीश चन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, परिशिष्ट १, पृ० ४५६।

समुद्र के बीच स्थित है। इस क्षेत्र के बीचोबीच वैताढ्य पर्वत स्थित है। गंगा-सिंधु आदि नदियों तथा इस वैताढ्य पर्वत के कारण यह क्षेत्र छः भागों में विभाजित है।[१] विदेह क्षेत्र पूर्व विदेह, अपर विदेह, देवकुरु और उत्तर कुरु नामक चार भागों में विभक्त हैं। इसी प्रकार पूर्व विदेह और अपर विदेह अनेक विजयों में विभक्त हैं।[२]

जम्बू द्वीप के बीचोबीच सुमेरु पर्वत है[3] जिसकी उँचाई एक लाख योजन बतायी गयी है। यह द्वीप चारो तरफ लवण समुद्र (हिन्द महासागर) से घिरा है।[४]

चीन द्वीप[५]—समराइच्चकहा में चीन द्वीप की भौगोलिक स्थिति का उल्लेख नहीं है। अपितु भारतीय व्यापारियों द्वारा व्यापार के निमित्त उक्त द्वीप की यात्रा का वर्णन है। निशीथ चूर्णी में भी चीन द्वीप का उल्लेख है।[६] चीनी रेशम के लिए यह द्वीप प्रसिद्ध था। यह वर्तमान पूर्व एशिया का मध्यवर्ती सुप्रसिद्ध एवं विस्तृत देश है। पार्जिटर के अनुसार चीन द्वीप के अन्तर्गत तिब्बत तथा हिमालय की पूरी शृंखलाएँ सम्मिलित थीं।[७] इस विस्तृत देश के पूर्व में चीन सागर एवं पीला सागर, दक्षिण पूर्व में उप द्वीप, पश्चिम में तिब्बत, तथा उत्तर में प्रसिद्ध चीन की प्राचीर (दीवाल) है।

महाकटाह द्वीप—हरिभद्र कालीन भारतीय व्यापारियों के जलयान महाकटाह द्वीप को भी आया-जाया करते थे।[८] प्राचीन कटाह को ही आधुनिक केडाह नाम से जाना जाता है जो मलाया प्रायद्वीप के पश्चिमी तट पर स्थित है।[९]

भारत के प्रसिद्ध बंदरगाह वैजयन्ती से भारतीय जहाज महाकटाह की तरफ

१. जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति १।१० ।
२. जगदीश चन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, परिशिष्ट १, पृ० ४५६ ।
३. बी० सी० ला—इंडिया डिस्क्राइब्ड, पृ० २ ।
४. जगदीश चन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, परिशिष्ट १, पृ० ४५६ ।
५. सम० क० ६, पृ० ५४०-४१-५४३-५५२-५५५ ।
६. निशीथचूर्णी, २, पृ० ३९९ ।
७. मार्कण्डेय पुराण, पार्जिटर द्वारा अनूदित—पृ० ३१९ ।
८. सम० क० ४, पृ० २५०; ५, पृ० ४२६; ७, पृ० ७१३ ।
९. आर० सी० मजूमदार—"सुवर्णद्वीप" पृ० ५१ ।

प्रस्थान करते थे। कटाह द्वीप का स्थानीय नाम कडाह द्वीप था।[1] कथासरित्सागर में कटाह को सम्पन्न एवं उन्नतिशील द्वीप बताया गया है।[2] प्रसिद्ध कहानी 'देवस्मित' में गुहासेन द्वारा ताम्रलिप्ति बंदरगाह से कटाह द्वीप तक की यात्रा का उल्लेख प्राप्त होता है।[3] यह कटाह द्वीप ही महाकटाह द्वीप के नाम से प्रसिद्ध था।

रत्न द्वीप—समराइच्च कहा मे व्यापारियों के जलयान द्रव्य संग्रह के निमित्त अन्य द्वीपों के साथ-साथ रत्न द्वीप को भी जाते थे।[4] संभवतः यह भाग भारत और चीन के बीच एक टापू था, जहाँ रत्नों की प्राप्ति का संकेत प्राप्त होता है। तत्कालीन चीन द्वीप को प्रस्थान करने वाले भारतीय व्यापारियों के जलयान रत्न द्वीप में भी रुकते थे जो रत्न गिरि नामक पर्वत के पास स्थित था।[5]

सिंहल द्वीप—समराइच्च कहा में व्यापारिक जलयान ताम्रलिप्ति से सिंहल द्वीप आते-जाते दिखाई देते हैं।[6] गरुड़ पुराण तथा वायु पुराण में भी इस द्वीप का नाम आया है।[7] यह द्वीप भारत के दक्षिण में स्थित है और रामेश्वर तथा सेतुबन्धु नामक पर्वत तथा जलगर्भस्थ शैलमाला द्वारा भारत के साथ मिला हुआ है। इस तरह के शैल और द्वीप श्रेणी के रहने पर भी उसके अन्दर से नाव तथा जहाज ले जाने का मार्ग है।

सुवर्ण द्वीप—समराइच्च कहा में सुवर्ण द्वीप का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[8] इसे स्वर्ण प्राप्ति का स्रोत समझ कर लोग सुवर्ण भूमि भी कहा करते थे। यह द्वीप आधुनिक सुमात्रा के नाम से जाना जाता है। मलय-उप-द्वीप और चीन सागर को हिन्द महासागर से पृथक् रखकर सुमात्रा पेनंग की एक समानान्तर रेखा से आरम्भ होकर वण्टम की समान्तराल रेखा तक विस्तृत है। इसकी लंबाई ९२५ मील और चौड़ाई ९० मील के करीब है। कथासरित्सागर में भी

१. के० ए० नीलकांत शास्त्री—दी चोलाज, पृ० २१८।
२. आर० सी० मजूमदार—सुवर्ण द्वीप, पृ० ५१।
३. वही पृ० ५१।
४. सम० क० २, पृ० १२६—दव्व संगह निमित्तं गया रयणदीवं। विटताइं रयसगइं, कथा संजुत्ती पयट्टानिपदेशमागन्तुं।"
५. वही ६, पृ० ५४५।
६. सम० क० ४, पृ० २५४; ५, पृ० ३९९-४०३-४०७-४२०।
७. आर० सी० मजूमदार—सुवर्ण, द्वीप पृ० ५१।
८. सम० क० ५, पृ० ३९७-३९८; ६, पृ० ५४०-५४४।

भारतीय व्यापारियों के जलयान व्यापार के निमित्त सुवर्ण द्वीप को आते-जाते दिखाए गए हैं।[१] इस द्वीप का प्रसिद्ध नगर कालसापुर था जो व्यापारिक सामग्रियों के क्रय-विक्रय का केन्द्र था।[२] इसके साथ-साथ सुवर्ण द्वीप का उल्लेख ग्रीक, लैटिन, अरबी और चीनी लेखों एवं साहित्य में भी मिलता है।

जनपद

द्वीपों की भांति समराइच्च कहा में कुछ अधोलिखित जनपदों के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं जिससे हमें हरिभद्रसूरि कालीन भारत की स्थिति एवं समृद्धि आदि की जानकारी प्राप्त होती है।

अवन्ति—समराइच्च कहा मे इसे एक जनपद के रूप में बताया गया है;[३] किन्तु इसकी स्थिति आदि पर प्रकाश नहीं डाला गया है। यह प्राचीन भारत के सोलह महाजनपदों मे से एक था।[४] पौराणिक परम्परा के अनुसार इस जनपद को मध्य देश के अन्तर्गत बताया गया है।[५] रैप्सन के अनुसार उज्जैन अथवा उज्जयिनी जो कि अवन्ति की राजधानी थी तथा शिप्रा नदी के तट पर स्थिति थी, आधुनिक मध्य भारत अथवा ग्वालियर मे स्थिति उज्जैन है।[६] बौद्ध साहित्य में उज्जयिनी से माहिष्मती तक के प्रदेश को अवन्ति जनपद के अन्तर्गत माना गया है[७]। दीघनिकाय के अनुसार माहिष्मती कुछ समय तक अवन्ति की राजधानी थी[८]। इस जनपद मे अत्यधिक अन्न पैदा होता था तथा वहां के लोग धनी, समृद्ध एवं खुशहाल थे।[९] जैन ग्रन्थ निशीथचूर्णी मे भी अवन्ति को एक जनपद के रूप मे उल्लिखित किया गया है जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी।[१०]

प्राचीन अवन्ति दो भागों मे बटा था, उत्तरी भाग जिसकी राजधानी उज्जैन

---

१. आर० सी० मजुमदार—सुवर्ण द्वीप पृ० ३७, ६४।
२. कथा सरित्सागर, तरंग. ५४, पंक्ति ९७।
३. सम० क० १, पृ० ९५१, 'अन्नयाय समागओ अवन्ति जणवयं।'
४. वी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ एंसियन्ट इंडिया, पृ० ३५८, ३६२॥
५. मत्स्य पुराण, प्रथम खण्ड, पृ० ३४९, श्लोक ३६॥
६. रैप्सन—ऐंसिन्ट इंडिया, पृ० १७५॥
७. नेमिचन्द्र शास्त्री—आदि पुराण मे प्रतिपादित भारत, पृ० ४६॥
८. दीघनिकाय, २,२३५॥
९. अंगुत्तर निकाय ४,२५२–२५६–२६२॥
१०. निशीथ चूर्णी १, पृ० १३, १०२॥

थी तथा दक्षिणी भाग (दक्षिणपथ अवन्ति) जिसकी राजधानी माहिष्मती थी।[1] यह जनपद वर्तमान मालवा का वह भाग है जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी।

उत्तरापथ—समराइच्च कहा में इसे जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में स्थित एक विषय (जनपद) के रूप में बताया गया है[2]। उत्तरापथ का उल्लेख निशीथचूर्णी में भी आया है[3]। यह पृथूदक का उत्तरी भाग था जिसका (पृथूदक का) वर्तमान नाम पिहोवा है तथा जो सरस्वती नदी के तट पर स्थित है। यह वर्तमान मथुरा जिले का भूभाग रहा है[4]। इस जनपद की जलवायु या तो अधिक गर्म रहती थी या तो अधिक ठंड तथा वहां वर्षा खूब होती थी।[5]

करहाटक—समराइच्च कहा में इसका उल्लेख एक जनपद के रूप में हुआ है।[6] महाभारत से ज्ञात होता है कि पाण्डव कुमार सहदेव ने करहाट को जीता था।[7] आदि पुराण में भी इस जनपद का उल्लेख है[8] जिसके दक्षिण में वेत्रवती तथा उत्तर में कोहना की स्थिति बतायी गयी है। नेमिचन्द्र शास्त्री ने इसकी पहचान सतारा जिले के कराड से की है।[9]

कलिंग—समराइच्च कहा में इसे भी एक विषय (जनपद) के रूप में उल्लिखित किया गया है।[10] अष्टाध्यायी में भी कलिंग जनपद का उल्लेख है[11]। महावंश में कलिंग और वंग देश के राजाओं के बीच वैवाहिक संबंधों का वर्णन है।[12] कलिंगराज खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने

---

१. ज्योग्राफिकल इन्साइक्लोपीडिया आफ एंसियन्ट एण्ड मेडिवल इंडिया, पृ० ८०–८१।

२. सम० क० ७, पृ० ७११—'अत्थि इहेव जम्बुद्दीवे भारहेवासे उत्तरावहे विसये—गया'।

३. निशीथचूर्णी १, पृ० २०, ५२, ६७, ८९, १५४; २, पृ० ८२, ९५; ३, पृ० ३९; ४, पृ० २७।

४. मधुसेन—एकल्चरल स्टडी आफ निशीथ चूर्णी, पृ० ४०६।

५. वही, पृ० ४०६।

६. सम० क० ४, पृ० ३०८—इओ य................करहाडय विसये घण्णऊरय संनिवेसंमि....।

७. महाभारत—सभा पर्व, अध्याय ३१।

८. आदि पुराण, १६।१५४।

९. नेमिचन्द्र शास्त्री—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ५१।

१०. सम० क० ४, पृ० ३१८—'सा कलिंग विसये....समुप्पन्नों, तथा पृ० ३२६।

११. अष्टध्यायी, ४।१।१७०।

१२. बी० सी० ला—ज्योग्राफी आफ अर्ली बुद्धिज्म, पृ० ४९४–९५।

अंग एवं मगध से जिन प्रतिमा को लाकर यहां स्थापित की थी। कलिंग की राजधानी कंचनपुर (भुवनेश्वर) थी[1]। कनिंघम के अनुसार कलिंग जनपद की प्रथम राजधानी चिकाकोल थी जो कलिंग पाटम से २० मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित थी। यह जनपद ५००० ली अथवा ८३३ मील विस्तृत था।[2] कलिंग जनपद में तोसलि नामक एक महत्वपूर्ण स्थान था जहां तीर्थंकर महावीर ने विहार किया था। यहां पर तोसलिक नामक एक क्षत्रिय राजा था जो जैन धर्म का प्रेमी था; वहां एक सुन्दर जिन प्रतिमा भी विद्यमान थी।[3]

कामरूप—समराइच्च कहा में इसे मात्र एक जनपद के रूप में उल्लिखित किया गया है;[4] किन्तु इसकी स्थिति आदि पर प्रकाश नहीं पड़ता। कनिंघम के विचार से कामरूप असम का प्राचीन नाम है जो मध्य भारत में पुण्ड्रवर्धन (पुब्ना) से ९०० ली अथवा १५० मील पूर्व में स्थित था।[5] संभवतः यह जनपद १०,००० ली अथवा १६०० मील विस्तृत भूभाग वाला था।[6] इसके उत्तर में भूटान, पूर्व में नौ गांग तथा दारंग जिला, दक्षिण में खासी की पहाड़ियां और पश्चिम में गोल्पर स्थित था[7]। इसकी राजधानी प्राग्ज्योतिषपुर थी।[8] कामरूप का वृहद् भाग एक लंबे मैदान के रूप में है, जिसके निचले भाग से ब्रह्मपुत्र नदी (पूरब से पश्चिम की तरफ) बहती है। इस नदी के दक्षिण वाला भाग पहाड़ियों के द्वारा अधिक टूटा हुआ है।[9] इसकी पहचान आधुनिक गौहाटी से की गयी है।[10] हर्षवर्धन के समय में वहां का राजा भास्कर वर्मा था।

काशी[11]—समराइच्च कहा में काशी का उल्लेख एक जनपद के रूप में हुआ

१. ओघ निर्युक्ति भाष्य ३०।९७।
२. कनिंघम—एंसियन्ट ज्योग्राफी आफ इंडिया, पृ० ५५०।
३. नेमिचन्द्र शास्त्री—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ५१।
४. सम० क० ९, पृ० ९०४—अत्थि कामरुव विसये मयणउरंनामनयरं।
५. ज्यूलियन—ह्वेनसांग, ३, पृ० १७६।
६. कनिंघम—एंसियन्ट ज्योग्राफी आफ इंडिया, पृ० ५७२–७३।
७. वी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ एंसियन्ट इंडिया, पृ० २६८।
८. कालिका पुराण, अध्याय ३८।
९. वी० सी० एलेन—कामरूप, आसाम डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, खण्ड ४, अध्याय १।
१०. जर्नल आफ दी रायल एशियाटिक सोसायटी, १९००, पृ० २५।
११. सम० क० ८, पृ० ८४५—तओ य पउत्त पुरिसेहितो कासियाविसय रंठिय..........राया।

है। भारत के पवित्र स्थानों में काशी अथवा वाराणसी सबसे प्रसिद्ध था। प्राचीन भारत के षोडस जनपदों में काशी एक जनपद के रूप में उल्लिखित है।[1] पाणिनि की अष्टाध्यायी, पतंजलि के भाष्य तथा भागवत् पुराण में भी काशी का उल्लेख है।[2] वाराणसी को काशी नगरी अथवा काशीपुरी भी कहा गया है।[3] जातक में इस नगर को १२ योजन विस्तार वाला बताया गया है।[4]

काशी जनपद के उत्तर में कोशल जनपद, पूरब में मगध और पश्चिम में वत्स जनपद की सीमाएं थी।[5] काशी जनपद में ही वाराणसी के पास सारनाथ में भगवान बुद्ध ने प्रथम धर्मचक्रप्रवर्तन किया था।[6] आदि पुराण से इस जनपद का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध होता है।[7]

कोसल—समराइच्च कहा में इसे एक जनपद के रूप में उल्लिखित किया गया है।[8] यह जैन सूत्रों का एक प्राचीन जनपद था।[9] रामायण तथा महाभारत में भी इस जनपद का उल्लेख है।[10] बृहत्कल्प भाष्य से पता चलता है कि इसी जनपद में अचल गणधर का जन्म हुआ था तथा जीवन्त स्वामी की प्रतिमा भी यहीं विद्यमान थी।[11] कोसल का प्राचीन नाम विनीता था। कहा जाता है कि यहां के निवासियों ने विभिन्न प्रकार की कुशलता प्राप्त की थी, इसी कारण विनीता को कुशला नाम से जाना जाने लगा।[12] यह एक स्वतंत्र जनपद के रूप में दो

---

१. सौर पुराण, अध्याय ४, पंक्ति ५; कालिका पुराण ५१, ५३; ५८, ३५।
२. अंगुत्तर निकाय १, २१३; ४, २५२, २५६, २६०।
३. अष्टाध्यायी ४, २, ११६; महाभाष्य २, १, १, पृ० ३२; भागवत् पुराण ९, २२–२३; १०, ५७, ३२; १०, ६६, १०; १०, ८४, ५५; १२, १३, १७।
४. स्कन्द पुराण अध्याय १, १९, २३; योगिनितंत्र १, २; २; ४।
५. जातक ४, ३७७; ६, १७०।
६. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, १, ३१६।
७. दीघ निकाय ३, १४१; मज्झिम निकाय, १, १७०; संयुत्त निकाय ५, ४२०।
८. आदि पुराण १६, १५१; २९, ४७।
९. सम०क० ४, पृ० २८८—कोसलाहिवस्स, तथा ४, पृ० ३३९, कोसलाये-विसयम्मि:, ८, पृ० ८२१, ८३१।
१०. जगदीशचन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ४६८।
११. रामायण, २।६८।१३; महाभारत ११।३०।२३; ३।१।२।१३।
१२. बृहत्कल्प भाष्य ५, ५८२४।
१३. आवश्यक टीका—मलय गिरि, पृ० २१४।

भागों में विभक्त था—उत्तर कोसल जिसकी राजधानी श्रावस्ती थी तथा दक्षिण कोसल जिसकी राजधानी साकेत नगरी थी।[1] यह बौद्धकालीन षोडस महाजनपदों में से एक था।[2] यह वर्तमान फैजाबाद जिले का भूभाग हैं।

कोंकण[3]—समराइच्च कहा में कोंकण राज का उल्लेख मात्र है। कोंकण में जैन श्रमणों ने विहार किया था। इस देश में अत्यधिक वृष्टि के कारण जैन श्रमणों को छतरी रखने का विधान था।[4] यहाँ मच्छर बहुत होते थे।[5] कोंकण देश के निवासी फल-फूल के बड़े शौकीन होते थे।[6] कोंकण पश्चिमी घाट तथा अरब सागर के बीच का भू-भाग था।[7] ह्वेनसांग के अनुसार कोंकण द्राविड (कांजीवरम्) से २००० ली अथवा ३३० मील उत्तर-पश्चिम में स्थित था।[8] यह जनपद ५००० ली अथवा ८३३ मील भू-भाग में विस्तृत था।[9] रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में इसे उपरांत देश कहा गया है।[10] कल्याण तथा बम्बई आदि नगर इसी जनपद के अन्तर्गत थे। शक्तिसंगम तंत्र में कोंकण से पश्चिम सौराष्ट्र और पश्चिमोत्तर आभीर जनपद की स्थिति मानी गयी है।[11] आदि पुराण के अनुसार यह जनपद पश्चिमी समुद्र के तट पर तथा पश्चिमी घाट के पश्चिमी तीर पर अवस्थित था।[12] निशीथचूर्णी में भी इस जनपद का उल्लेख आया है।[13] बम्बई के पास ठाणा जिले के सोपारा नामक स्थान से इसकी पहचान की जा सकती है।

१. जे० सी० सिकदार—स्टडीज इन दी भगवती सूत्र, पृ० ५३५।
२. अंगुत्तर निकाय १।२१३; विष्णु पुराण, अध्याय ४।
३. सम० क०, ६, पृ० ५०१ (सा य········कोङ्कणरायपुत्तस्स सिसुवालस्स।
४. आचारांग चूर्णी, पृ० ३६६।
५. सूत्र कृताङ्ग टीका, ३।१।१२।
६. बृहत्कल्प भाष्य वृत्ति, १।१२३९।
७. डॉ० सी० सरकार—स्टडीज इन दी ज्योग्राफी आफ एंसियंट एण्ड मेडिवल इण्डिया, पृ० ११०।
८. जूलियन—ह्वेनसांग, ३, पृ० १४७।
९. कनिंघम—एंसियण्ट ज्योग्राफी आफ इण्डिया, पृ० ६३२-३३।
१०. रघुवंश, ४, ५८ (अपरान्त महीपाल व्याजेन रघवेकरम्)।
११. शक्ति संगम तंत्र ३, ७, १३ (कोंकणात्पश्चिमं तीर्त्वा समुद्रप्रान्त गोचरः हिंगुलाजान्तकोदेवि शतयोजनमाश्रितः)।
१२. नेमिचन्द्र शास्त्री—आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ५६।
१३. निशीथचूर्णी—१, पृ० ५२, १००, १०१, १५४; ३, पृ० २९६।

गान्धार जनपद—समराइच्च कहा में इसकी स्थिति जम्बू द्वीप के विजय क्षेत्र में बताई गयी है।[१] निशीथचूर्णी में भी इसका उल्लेख एक जनपद के रूप में किया गया है।[२] शतपथ ब्राह्मण[३] तथा छान्दोग्य उपनिषद्[४] में गान्धार का बराबर उल्लेख आता है। मज्झिम निकाय की अट्ठकथा में गांधार को सीमान्त जनपद कहा गया है।[५] अंगुत्तर निकाय में इसे षोडस जनपदों में से एक बताया गया है।[६] पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी इसका उल्लेख है।[७] ह्वेनसांग के अनुसार यह जनपद पूरब से पश्चिम में १००० ली से अधिक तथा उत्तर से दक्षिण में ८०० ली से भी अधिक विस्तार वाला था। यह जनपद अत्यधिक उपजाऊ था। यहाँ अत्यधिक गन्ना पैदा होता था तथा यहाँ की जलवायु गर्म थी।[८] कनिंघम के अनुसार गांधार जनपद की सीमा के पश्चिम में लंघान तथा जलालाबाद, उत्तर में श्वेत तथा तूनीर की पहाड़ियाँ, पूरब में सिन्धु, तथा दक्षिण में कालाबाग की पहाड़ियाँ स्थित थीं।[९] इस जनपद के अंतर्गत रावलपिण्डी तथा पेशावर स्थित था।[१०]

पुण्ड्र—समराइच्च कहा में इसे भी एक जनपद के रूप में उल्लिखित किया गया है।[११] इसकी राजधानी विन्ध्यगिरि के पास स्थित सतद्वार थी।[१२] महाभारत में भी पुण्ड्र राजाओं का नाम आया है।[१३] पुण्ड्रवर्धन का उल्लेख गुप्त

---

१. सम० क० १, पृ० ८५—रिट्ठो मये गान्धार जणवयाहिवस्स समरसेणस्स-नत्तुओ; १, पृ० ८८—अत्थि इहेव विजये गन्धारो नाम जणवओ; १, पृ० ५६।

२. निशीथचूर्णी, ३, पृ० १८८।

३. शतपथ ब्राह्मण, ११, ४, ११।

४. छान्दोग्य उपनिषद्, ६, १४—गीता प्रेस।

५. मज्झिम निकाय, २, पृ० ९८२।

६. अंगुत्तर निकाय १, पृ० २१३; ४, पृ० २५२, २५६, २६०।

७. अष्टाध्यायी ४, १, १६८।

८. वाटर्स—आन युवानच्वांग १, १९८–९९।

९. कनिंघम—एंसियन्ट ज्योग्राफी आफ इण्डिया, पृ० ४८; मैकक्रिण्डिल—एंसियन्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड वाई टालेमी, पृ० ८१।

१०. रैप्सन—एंसियन्ट इण्डिया, पृ० ८१।

११. सम० क० ४, पृ० २७५—अत्थि इहेव भरहंमि पुण्डो नाम जणवओ।

१२. जे० सी० सिकदार—स्टडीज इन भगवती सूत्र, पृ० ५३७।

१३. महाभारत, सभा पर्व ७८, ९३।

काल में बुध गुप्त के दामोदर अभिलेख (४८२ ई०)[१] तथा दामोदर ताम्रपत्र अभिलेख (५४३ ई०)[२] में हुआ है। पुण्ड्र जनपद के अन्तर्गत ही पुण्ड्र वर्धन नामक नगर था जो जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र रहा है।

वत्स—समराइच्च कहा में वत्स देश के राजा का ही उल्लेख है।[3] महाभारत से पता चलता है कि भीमसेन ने पूर्व दिग्विजय के समय इस जनपद को जीता था।[४] काशिराज प्रतर्दन के पुत्र का पालन गोशाला में वत्सों (बछड़ों) से हुआ था, इसी कारण इस जनपद को वत्स कहा जाने लगा।[५] काशी, कोशल, अवन्ति आदि जनपदों की भांति वत्स को भी बौद्ध कालीन षोडस महाजनपदों में गिनाया गया है। इसकी स्थिति अवन्ति के उत्तरपूर्व तथा कोशल के दक्षिण यमना के तट से लेकर इलाहाबाद के पश्चिम तक थी।[६] इस जनपद का उल्लेख अन्य ब्राह्मण[७], जैन[८] तथा बौद्ध[९] ग्रन्थों में हुआ है।

विदेह—समराइच्च कहा में इसे केवल पूर्व विदेह कहा गया है।[१०] विदेह निवासिनी होने के कारण महावीर की माता त्रिशला 'विदेह दिन्ना'[११] (विदेह दत्ता) कही जाती थी तथा विदेह निवासिनी चेलना का पुत्र कूणिक वज्जि विदेह पुत्र कहा जाता था।[१२] इसकी राजधानी मिथिला थी जिसका जैन साहित्य में अत्यधिक महत्त्व है। १९वें तीर्थंकर मल्लिनाथ तथा २१वें तीर्थंकर नमिनाथ की चरणरज से यह नगरी पवित्र हुई थी।[१३] शतपथ ब्राह्मण में विदेह का उल्लेख है।[१४] कालि-

१ डॉ० सी० सरकार—सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स, पृ० ३३३।
२. वही, पृ० ३४७।
३. सम० क० ६, पृ० ५०१—"दिन्नाए इमेण वच्छेसर सुयस्स....सिरिविजयस्स।
४. महाभारत, सभा पर्व ३०।१०।
५. वही शान्ति पर्व, ४९।७९।
६. नन्दलाल डे—ज्योग्राफिकल डिक्शनरी, पृ० १००।
७. ऐतरेय ब्राह्मण, ८।१४।३।
८. उपासक दशा २, परिशिष्ट १, पृ० ७; निशीथचूर्णी ५, पृ० ५३७।
९. अंगुत्तर निकाय, १। २१३।
१०. सम० क० ६, पृ० ५७६—'ति समागओ पुव्व विदेहं'।
११ कल्पसूत्र, ५, १०९।
१२ व्याख्या प्रज्ञप्ति, ७, ९, पृ० ३१५।
१३. तिलोय पण्णत्ति, सोलापुर संस्करण—४, ५४४; ४, ५४६।
१४. शतपथ ब्राह्मण, १, ४; १, १०।

दास ने रघुवंश में भी इसका उल्लेख किया है।[1] इसे ही उत्तर काल में तिरभुक्त या तिरभुक्ति कहा गया है जो आधुनिक तिरहुत के नाम से प्रसिद्ध है। यह जनपद गण्डकी नदी से आधुनिक चम्पारन तक विस्तृत था[2] जो मगध के पूर्वोत्तर में स्थित था। सीता-मढ़ी, जनक पुर, सीताकुण्ड, तिरहुत का उत्तरी भाग, तथा चम्पारन का पश्चिमोत्तर भाग प्राचीन विदेह के अंतर्गत था।[3] मिथिला शरण पाण्डेय के अनुसार प्राचीन विदेह जनपद की सीमा के उत्तर में नेपाल की तराई, पूर्व में कोशी नदी, दक्षिण में वैशाली जनपद (जो कि गंगा के उत्तर में स्थित था), तथा पश्चिम में सदानीरा (आधुनिक गण्डक) नदी स्थित थी।[4]

नगर

अयोध्या—अयोध्या[5] को साकेत नाम से भी जाना जाता था।[6] साकेत की स्थिति कोसल जनपद के अन्तर्गत थी।[7] इसे प्राचीन अवध भी कहा जाता था जो आधुनिक फैजाबाद से चार मील की दूरी पर स्थित है।[8] यह रामचन्द्र तथा राजा सगर की भी राजधानी बतायी गयी है।[9] स्कन्द पुराण के अनुसार अयोध्या की स्थिति एक मछली के आकार जैसी है[10] तथा यह सरयू नदी से एक योजन दक्षिण तथा तमसा से एक योजन उत्तर दिशा में स्थित था; किन्तु वर्तमान अयोध्या सरयू नदी के तट पर ही स्थित है। आदि पुराण में अयोध्या को दो द्वीपों में स्थित बतलाया गया है—धातकी खण्ड और जम्बू द्वीप।[11]

---

१. रघुवंश, १२,२६।

२. डी०सी० सरकार—स्टडीज इन ज्योग्राफी आफ एंसियन्ट एण्ड मेडिवल इंडिया, पृ० ९५।

३. नेमिचन्द्र शास्त्री—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ०६७।

४. एम० एस० पाण्डेय—हिस्टारिकल ज्योग्राफी एण्ड टोपोग्रैफी आफ बिहार, पृ० ८७-८८।

५. समक० ८, पृ० ७३१—अत्थि इहेव—अओज्झा नाम नयरी, पृ० ७३६, ७३८,७६४,७६६,७७४।

६. निशीथ चूर्णी २, पृ० ४६६;३, पृ० १९३।

७. समम० क० ४, पृ० ३३०.—'कोसलाए विसये साएए नयरे—।'

८. कनिंघम—एंसियन्ट ज्योग्राफी आफ इंडिया, पृ० ३४१।

९. बी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ एंसियन्ट एंडिया, पृ० ७६।,

१०. स्कन्द पुराण १।६४-६६।

११. आदि पुराण ७।४१; १२।७६।

धातकी खण्डके पूर्व भाग में पश्चिम विदेह के गान्धिल देश की नगरी को अयोध्या कहा गया है तथा जम्बू द्वीप के अंतर्गत भरत क्षेत्र में यह नगरी तीर्थंकरों के साथ भरत चक्रवर्ती की जन्म भूमि बतायी गयी है। रामायण में इस नगरी की स्थिति सरयू नदी के तट पर बतायी गयी है। कनिंघम के अनुसार इस नगर का विस्तार बारह योजन अथवा १०० मील था जो लगभग २४ मील बागीचों (उपवनों) से घिरा हुआ था।[1] प्राचीन काल में यह धन-धान्य से परिपूर्ण एक समृद्धशाली नगर था।

अचलपुर—समराइच्च कहा में इसकी स्थिति उत्तरापथ में बतायी गयी है जो धन-धान्य से सम्पन्न एक व्यापारिक केन्द्र था।[2] इस नगर को आभीर देश में स्थित बताया जाता है।[3] कान्हा और वान नाम की दो नदियाँ अचलपुर के पास से होकर बहती थीं।[4] यह बरार मे अमरावती जिले का आधुनिक इलिच पुर है।[5]

अमरपुर[6]—यह ब्रह्म देश की प्राचीन राजधानी थी। इसकी स्थिति ऐरावत नदी के पूर्व तट पर बतायी गयी है।[7] आदि पुराण में इसका वर्णन इन्द्र पुरी के रूप में आया है।[8] विष्णु कुण्डी वंश के राजा माधव वर्मा के शिलालेख में ब्रह्म देश की राजधानी अमरावती बतायी गयी है।[9] इस नगर के प्राप्त ध्वंसावशेषों से पता चलता है कि यह एक सुन्दर स्थान था जिसके कारण इसे अमरपुर कहा जाता था।

आनन्दपुर—समराइच्च कहा के कथा प्रसंग में ही इसकी चर्चा आई है; किन्तु स्थिति आदि का कोई उल्लेख नहीं है। बी० सी० ला के अनुसार इसका

---

१. कनिंघम—एंसियन्ट ज्योग्राफी आफ इंडिया, पृ० ४५९–६०।
२. सम० क० ६, पृ० ५०९।
३. ज्योग्राफिकल इनसाइक्लोपीडिया आफ एंसियन्ट एण्ड मेडिवल इंडिया, पृ० ३।
४. वही, पृ० ३।
५. इपि० इंडि० १, पृ० १३–जनवरी १९३५।
६. सम० क० ३, पृ० १७१; ६, पृ० ५००।
७. नेमिचन्द्र शास्त्री—हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक-परिशीलन, पृ० ३५४।
८. आदि पुराण ६।२०५।
९. नेमिचन्द्र शास्त्री—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ८३।
१०. सम० क० ५, पृ० ४००।

आधुनिक नाम आनन्द है जो आनन्द तालुक का प्रमुख नगर है।[१] कुछ विद्वान् इसे उत्तर गुजरात का बड़ा नगर मानते हैं।[2] ह्वेनसांग के अनुसार यह नगर वल्लभी के उत्तर-पश्चिम में स्थित था।[3] यह नगर व्यापार, वाणिज्य का भी प्रमुख केन्द्र माना जाता था। आनन्दपुर प्राचीन अनर्तपुर के नाम से भी जाना जाता था।[४] आनन्दपुर अथवा बड़नगर नागर नाम से विख्यात था जो गुजरात के नागर ब्राह्मणों का मूल निवास स्थान था।[५] यह जैन श्रमणों का भी केन्द्र था जहाँ से वे मथुरा को आते जाते रहते थे।[६]

उज्जयिनी[७]—हरिभद्र के काल में यह नगर जैन श्रमणों का प्रमुख निवास स्थान था। यह तत्कालीन भारत का समृद्धशाली नगर था जिसके बाजार माणिक्य, मोती, सुवर्ण आदि से हमेशा सजे रहते थे तथा इसमें आवागमन की सुविधा के लिए चौड़ी व विस्तृत सड़कें एवं सुन्दर मार्ग थे। यह सुन्दर खाइयों एवं जलाशयों से सुशोभित था। अन्य जैन ग्रन्थों से भी पता चलता है कि यह नगर व्यापार-वाणिज्य का प्रमुख केन्द्र था।[८] जीवन्त स्वामी प्रतिमा के दर्शन के लिए उज्जयिनी में राजा सम्प्रति के समकालीन आर्य सुहस्ति पधारे थे।[९] यह दक्षिणा पथ का सबसे महत्त्वपूर्ण नगर था जो उत्तर अवन्ति (मालवा) राज्य का केन्द्र था।[10] कनिंघम के अनुसार यह आधुनिक उज्जैन था जो शिप्रा नदी के तट पर स्थित था।[११] अतः स्पष्ट होता है कि समराइच्च कहा में

---

१. वी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ ऐंसियन्ट इंडिया, पृ० ३२५।
२. मधु सेन—ए कल्चरल स्टडी आफ निशीथ चूर्णी, पृ० ३३९।
३. कनिंघम—ऐंसियन्ट ज्योग्राफी आफ इण्डिया, पृ० ४१६।
४. अलिना का ताम्र पत्र अभिलेख ई० सन् ६४९ और ८५१ का।
५. ज्योग्राफिकल इनसाइक्लोपीडिया आफ ऐंसियन्ट एण्ड मेडिवल इंडिया, पार्ट १, पृ० २१-२२।
६. निशीथचूर्णी ५, पृ० ४३५।
७. सम० क० ६, पृ० ५०१–५०३–५६९–७०–७१; ९, पृ० ८५८–९७९।
८. आवश्यक निर्युक्ति १२७६; आवश्यक चूर्णी २, पृ० १५४; निशीथ चूर्णी १, पृ० १०२; २, पृ० २६१; ३, पृ० ५९, १३१, १४५–४६।
९. बृहत्कल्प भाष्य १।३२७७।
१०. जगदीश चन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ४८०–८१।
११. कनिंघम—ऐंसियन्ट ज्योग्राफी आफ इंडिया, पृ० ४१२।

उल्लिखित इस नगर की पहचान वर्तमान उज्जैन में की जा सकती है जो मध्य प्रदेश में स्थित है।

काकन्दी—समराइच्च कहा में इस नगर की स्थिति जम्बू द्वीप के भारत वर्ष में बताई गयी है।[१] भगवती सूत्र में भी काकन्दी का उल्लेख प्राप्त होता है।[२] काकन्दी काकन्द नामक साधु का निवास स्थान था (काकन्दा सा निवासी काकन्दी)।[३] जैनियों के अनुसार काकन्दी तीर्थंकर सुविधि नाथ का जन्म स्थान था।[४] जैनियों के तीर्थंकर सुविधिनाथ का जन्म स्थान काकन्दी मध्यकालीन भारत का काकन नामक वह स्थान है जो बिहार में मुंगेर जिले के जमुई नामक तहसील में सिकन्दराबाद पुलिस स्टेशन के अन्तर्गत विद्यमान है।[५]

कनकपुर—समराइच्च कहा में इसे एक नगर राज्य बताया गया है जो वहाँ के राजा द्वारा सुरक्षित एवं सुव्यवस्थित था।[६] जैन ग्रन्थ आवश्यक चूर्णी से पता चलता है कि इस नगर की स्थापना विजयासथु नामक राजा ने की थी।[७] प्राचीन परम्परा के अनुसार कनकपुर को राजगृह का दूसरा नाम बताया जाता है[८] जो आधुनिक बिहार मे स्थित था।

कांपिल्य नगर—समराइच्च कहा में इस नगर का उल्लेख कथा प्रसंग मे हुआ है।[९] यद्यपि यहाँ इसकी भौगोलिक स्थिति पर प्रकाश नहीं डाला गया है; किन्तु अन्य साक्ष्यों में इसकी स्थिति आदि का पता चलता है। विविध तीर्थ कल्प में इस नगर की स्थिति गंगा के तट पर बताई गयी है।[१०]

१. सम० क० ५, पृ० ३६३—(अत्थि इहेव जम्बूद्दीवे भारहे वासे कायन्दी नामनयरं)।
२. भगवती सूत्र १०।४।४०४।
३. बरुआ और सिनहा—भरहुत, इन्सक्रिप्सन्स, पृ० १८।
४. डी० सी० सरकार—स्टडीज इन ज्योग्राफी आफ ऐंसियन्ट एण्ड मेडिवल इंडिया, पृ० २५४।
५. वही, पृ० २५४–५५।
६. सम० क० ८, पृ० ७८१।
७. आवश्यक चूर्णी २, पृ० १५८।
८. दी ज्योग्राफिकल इन साइक्लोपीडिया आफ ऐंसियन्ट एण्ड मेडिवल इंडिया, पृ० ८६।
९. सम० क० १, पृ० ४७; ५, पृ० ४७४।
१०. विविधतीर्थ कल्प, पृ० ५०—'पंचाला नाम जणवओ। तत्थ गंगा नाम महानई तरंगमे पक्खालिज्जमाणपामार भित्तिअं कपिलपुरं नाम नयरं।

इस नगर का उल्लेख रामायण तथा महाभारत में भी हुआ है।[१] यह बहुत ही धनी, सम्पन्न नगर था।[२] औपपातिक सूत्र में कांपिल्यपुर अथवा कांपिल्य नगर (कंपिल-जिला फरूखाबाद) गंगा के तट पर अवस्थित बताया गया है।[3] कनिंघम ने भी इस नगर की स्थिति गंगा के तट पर बदायूँ और फरूखाबाद के बीच में बतायी है।[४] स्पष्टतः यह वर्तमान उत्तर प्रदेश में स्थित फरूखाबाद जिले का कंपिल नामक स्थान है।

कुसुमपुर[५]—मगध की प्रसिद्ध राजधानी पाटलिपुत्र को ही कुसुमपुर के नाम से जाना जाता था।[६] यह वर्तमान बिहार प्रदेश की राजधानी पटना है जिसे प्राचीन काल में कुसुमपुर, कुसुमध्वज, पुष्पपुर, पुष्पभद्र तथा पाटलिपुत्र आदि विविध नामों से जाना जाता था।[७] संभवतः कुसुमों (पुष्पों) की बहुलता के कारण ही इसे कुसुमपुर कहा जाने लगा था। निशीथ चूर्णी में भी इसका उल्लेख मिलता है।[८] यह नगर व्यापार-वाणिज्य का भी केन्द्र था तथा यहाँ का माल सुवर्णभूमि तक जाता था।[९]

कौशाम्बी—समराइच्च कहा में जम्बूद्वीप के दक्षिणार्ध भरतक्षेत्र में इसकी स्थिति बतायी गयी है।[१०] कौशाम्बी वत्स अथवा वंग जनपद की राजधानी थी। यह आधुनिक कोसम है जो यमुना नदी के तट पर इलाहाबाद के दक्षिण-पश्चिम में ३० मील की दूरी पर स्थित है।[११] यह नगर चेदिवंश के राजा उपकार वसु के तीसरे पुत्र राजकुमार कौशाम्ब के द्वारा बसाया गया था।[१२] ह्वेन्सांग ने सातवीं शताब्दी में कौशाम्बी की यात्रा की थी। उसके अनुसार यह जनपद ६,००० ली से भी अधिक विस्तृत क्षेत्र वाला था और इसकी राजधानी

---

१. रामायण—आदि काण्ड, सर्ग ३३, पद्य १९; महाभारत १।१३८।७३–७४।

२. जातक ६, ४३३।

३. औपपातिक सूत्र ३९।

४. कनिंघम—ऐंसियन्ट ज्योग्राफी आफ इंडिया, पृ० ४१३।

५. सम० क० १, पृ० ५१; ४, पृ० २४३; ८, पृ० ८१२।

६. जगदीचन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ४६२।

७. जे० सी० सिकदार—स्टडीज इन दी भगवती सूत्र, पृ० ५४५।

८. निशीथ चूर्णी २, पृ० ९५।

९. जगदीशचन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ४६३।

१०. सम० क० ३, पृ० १६२;४, पृ० ३५३;६, पृ० ५७६, ५७८, ५८१, ५८२, ५८४।

११. कनिंघम—ऐन्सियन्ट ज्योग्राफी आफ इंडिया, पृ० ३३०-३४।

१२. महाभारत १।६३।३१।

३० ली के करीब में विस्तृत थी।[1] यह एक पवित्र नगरी थी।[2] यह गर्म जलवायु वाला उपजाऊ भाग था जहां के लोग चावल तथा गन्ना अधिक पैदा करते थे।[3] भगवान् बुद्ध वहाँ ठहरा करते थे तथा भगवान् महावीर ने यहाँ विहार किया था।[4]

कुतंगला—जम्बू द्वीप के विजय क्षेत्र में इस नगर की स्थिति बतायी गयी है।[5] इस नगर की पहचान ठीक-ठीक नहीं की जा सकती।

गांधार नगर—समराइच्च कहा में इस नगर की स्थिति गांधार जनपद के अन्तर्गत बतायी गयी है।[6] किन्तु अन्यत्र इसका प्रमाण नहीं मिलता है और न तो वर्तमान पहचान ही की जा सकती है।

गजपुर[7]—समराइच्च कहा के कथा प्रसंग में इस नगर का उल्लेख मात्र है। आदि पुराण में इस नगर की स्थिति विजयार्ध के दक्षिण में मानी गयी है।[8] गजपुर हस्तिनापुर का दूसरा नाम था जो कुरु जनपद की राजधानी थी।[9] गजपुर का दूसरा नाम नागपुर भी था। वासुदेव हिण्डी में इसे ब्रह्मस्थल कहा गया है।[10]

गन्ध समृद्ध नगर—वैताढ्य पर्वत पर स्थित यह विद्याधरों का एक नगर बताया गया है।[11] मोहनलाल मेहता ने इसे अपर विदेह में स्थित गांधार जनपद का प्रधान नगर माना है।[12] नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार यह मालवा में स्थित रहा होगा।[13]

१. वी० सी० ला--हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ ऐंसियन्ट इंडिया, पृ० ११७।
२. विविध तीर्थ कल्प, पृ० २३; आवश्यक चूर्णी, २, १७९।
३. वी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ ऐंसियन्ट इंडिया, पृ० ११७।
४. जगदीश चन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ४७५।
५. सम० क० ३, पृ० १७३; ७, पृ० ७०८।
६. वही १, पृ० ४८, ५१।
७. वही ७, पृ० ६१८।
८. नेमिचन्द्र शास्त्री—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ८६।
९. जगदीश चन्द्र जैन--जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ४६९।
१०. वासुदेव हिण्डी, पृ० १६५।
११. सम० क० ५, पृ० ४११।
१२. मोहन लाल मेहता—प्राकृत प्रापर नेम्स, पृ० २२२।
१३. नेमिचन्द्र शास्त्री—हरिभद्र सूरि के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ० ३५६।

चक्रपुर—यह नगर जम्बू द्वीप के अपर विदेह क्षेत्र में विद्यमान था।[1] नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार इसे आधुनिक उड़ीसा का चक्रपुर कहा जा सकता है।[2]

चक्रवालपुर—यह जम्बू द्वीप के विजय क्षेत्र में विद्यमान था।[3] वासुदेव शरण अग्रवाल ने इसे वर्तमान चक्रवाल कहा है जो जिला झेलम में विद्यमान है।[4]

चम्पापुरी—समराइच्च कहा मे इस नगरी का उल्लेख कई बार किया गया[5] है तथा इसे समस्त गुणों का भण्डार बताया गया है। चम्पा अंग देश की राजधानी थी जो पहले मालिनी के नाम से विख्यात थी।[6] यह चम्पा नगरी, चम्पा मालिनी, चम्पावती, चम्पापुरी और चम्पा आदि विभिन्न नामों से जानी जाती थी। महाभारत के अनुसार यह एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थान था।[7] औपपातिक सूत्र में इस नगरी को धन-धान्य से परिपूर्ण बताया गया है।[8] चम्पा और मिथिला के बीच साठ योजन का अन्तर बताया गया है।[9] बी० सी० ला के अनुसार यह नगर बिहार प्रदेश के वर्तमान भागलपुर से पश्चिम चार मील की दूरी पर स्थित था।[10] चम्पापुरी की पहचान भागलपुर के पास वर्तमान नाथ नगर से की जा सकती है।

जयपुर—इस नगर की स्थिति जम्बू द्वीप के अपर विदेह क्षेत्र में बतायी गयी है।[11] इसे अपरिमित गुणों का निधान तथा पृथ्वी का तिलक स्वरूप बताया

---

१. सम० क० ८, पृ० ८०३।
२. नेमिचन्द्र शास्त्री—हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ० ३५६।
३. सम० क० २, पृ० ११०; ५, पृ० ४५५, ४६३; ८, पृ० ७३६।
४. वासुदेव शरण अग्रवाल—पाणिनि कालीन भारत, पृ० ८८।
५. सम० क० २, पृ० १०४, १३०; ७, पृ० ६०५, ६१८, ६२३, ६२४, ६५२, ६७०-७१।
६. मत्स्य पुराण अध्याय ४८।
७. महाभारत, वन पर्व, ८५।१४।
८. बी० सी० ला—सम जैन कैनानिकल सूत्र, पृ० ७३ बाम्बे ब्रांच आफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, बाम्बे १९४९।
९. जगदीश चन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ५६५।
१०. बी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ एंसियन्ट इण्डिया, पृ० २५५।
११. सम० क० २, पृ० ७५, १५१।

गया है। यह नगर वैतरणी नदी के तट पर कटक जिले में विद्यमान है। ह्वेन-सांग के समय में यह उड़ीसा की राजधानी थी।[१]

जयस्थल—समराइच्च कहा में इस नगर की स्थिति जम्बू द्वीप के विजय क्षेत्र में बतायी गयी है।[२] इसका उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता है और न तो ठीक-ठीक पहचान ही हो सकती है।

टंकनपुर—यह नगर जम्बू द्वीप के विजय क्षेत्र में स्थित बताया गया है।[३] इस नगर की भी वर्तमान स्थिति का पता नहीं चलता है।

थानेश्वर[४]—समराइच्च कहा में इसका उल्लेख मात्र है तथा वर्णन के समय इसके भौगोलिक स्थिति पर ठीक-ठीक प्रकाश नहीं पड़ता। अन्य साक्ष्यों के आधार पर इस नगर की स्थिति आदि का पता चलता है। इसे स्थानेश्वर नाम से भी जाना जाता था। कहा जाता है कि यहाँ ईश्वर या महादेव का निवास स्थान था इसी कारण इसे स्थानेश्वर कहा जाने लगा।[५] इसका उल्लेख विनय महावग्ग[६] तथा दिव्यावदान[७] में भी हुआ है। प्राचीन भारत का प्रसिद्ध रणक्षेत्र स्थानेश्वर के दक्षिण में स्थित है जो कि अम्बाला से ३० मील दक्षिण तथा पानीपत के ४० मील उत्तर में विद्यमान है।[८] इस नगर में १२०० फीट वर्गाकार एक पुराना टूटा हुआ किला प्राप्त हुआ है।[९] सातवीं शताब्दी में थानेश्वर एक अलग स्वतन्त्र राज्य का केन्द्र था जिसे ह्वेनसांग ने सा-ता-नि-सी-फा-लो अथवा स्थानेश्वर कहा है तथा जो ७००० ली अथवा ११६७ मील विस्तृत क्षेत्र वाला था।[१०] यस० यन० मजूमदार ने इसे आधुनिक पूना (स्थूना) कहा है।[११]

---

१. वी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ ऐंसियन्ट इण्डिया, पृ० १८५।
२. सम० क० ३, पृ० १८५; ५, पृ० ३८८, ३९१।
३. सम० क० ३, पृ० १७२।
४. सम० क० ३, पृ० १८१।
५. वी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ ऐंसियन्ट इंडिया, पृ० १५२।
६. महावग्ग १२-१३।
७. दिव्यावदान, पृ० २२।
८. वी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ ऐंसियन्ट इंडिया, पृ० १५२।
९. कनिंघम—ऐंसियन्ट ज्योग्राफी आफ इंडिया, पृ० ३७६, ७०१।
१०. वी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ ऐंसियन्ट इंडिया, पृ० ३७६-७७।
११. यस० यन० मजूमदार—कनिंघम—ऐंसियन्ट ज्योग्राफी आफ इण्डिया, भूमिका।

दंतपुर[1]—यह नगर कलिंग जनपद की राजधानी थी।[2] इन्द्रवर्मन के जिरजिंगी ताम्रपत्र अभिलेख में दंतपुर का वर्णन मिलता है। इसमें दंत पुर को देवताओं की नगरी अमरावती से भी सुन्दर बताया गया है।[3] यह महाभारत का दंतपुर या दंतकुर है।[4] आवश्यक निर्युक्ति में दंत वक्क को दंतपुर का शासक बताया गया है।[5] यह नगर गोदावरी नदी पर स्थित वर्तमान राजमहेन्द्री (राजमुन्द्री) है।[6] नन्दलाल डे ने इसकी पहचान उड़ीसा में वर्तमान पुरी से की है।[7]

देवपुर[8]—समराइच्च कहा में इस नगर की स्थिति पर प्रकाश नहीं डाला गया है। कुछ विद्वानों ने इसे मध्य प्रदेश के रायपुर जिले में महानदी और पिपरी के संगम पर रायपुर नगर के २४ मील दक्षिण पूर्व में स्थित आधुनिक राजिम बताया है।[9] किन्तु वी० सी० ला ने इसकी पहचान चिकाकोल में स्थित देवदी से की है।[10]

धान्यपूरक[11]—संभवतः यह आदि पुराण का धान्यपुर नगर है।[12] आदि पुराण में धान्यपुर नगर के साथ श्री पाल की कथा का सम्बन्ध बताया गया है। इस नगर के राजा विशाल की कन्या विमल सेना का विवाह श्री पाल के साथ हुआ था।[13] इस नगर की पहचान ठीक ढंग से नहीं की जा सकती।

पाटलापथ—समराइच्च कहा के कथा प्रसंग मे इसका उल्लेख है।[14] यह

१. सम० क० ६, पृ० ५२९।
२. जातक २, ३६७-३७१; ३, ३७६; ४, २३०-२३२-२३७।
३. इपि० इंडि० २५, प्लेट ५, पृ० २८५, अप्रैल १९४०।
४. महाभारत—उद्योग पर्व ६३, १८३।
५. आवश्यक निर्युक्ति १२७५।
६. वी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ ऐंसिएन्ट इंडिया, पृ० १७७।
७. यन० यल० डे—ज्योग्राफिकल डिक्शनरी, पृ० ५३।
८. सम० क० ६, पृ० ५४१, ४२, ५४४, ५४७, ५५०।
९. दी ज्योग्राफिकल इनसाइक्लोपीडिया आफ ऐंसियन्ट एण्ड मेडिवल इंडिया, पृ० १०८।
१०. वी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ ऐंसियन्ट इंडिया, पृ० १७८।
११. सम० क० ४, पृ० ३०८।
१२. आदि पुराण ८।२३०; ४७।१४६।
१३. वही ४७।१४६।
१४. सम० क० ७, पृ० ७१३।

पाटला के नाम से भी जाना जाता था जो सिंधु नदी के मुहाने पर स्थित है।[१] यह सिंधु नदी के निचले भाग से सींचे जाने वाले प्रदेश की राजधानी थी जिसको ग्रीक में पाटलीव कहा गया है।[२]

पाटलिपुत्र[3]—इस नगर का उल्लेख अन्य जैन ग्रन्थों में भी हुआ है।[४] यह नगर राजगृह के पास मगध की दूसरी राजधानी थी। यह आधुनिक पटना है जो बिहार प्रदेश की राजधानी है। इसे पाटलिपुत्र, कुसुमपुर, कुसुमध्वज, पुष्पपुर तथा पुष्प मय आदि विभिन्न नामों से जाना जाता था।[५] पाटलिपुत्र पहले मगध जनपद का एक गाँव था जो पाटलिग्राम के नाम से जाना जाता था।[६] इसकी स्थिति गंगा नदी के दूसरी तरफ स्थित कोटिग्राम के सामने थी।[७] गौतम बुद्ध के समय मगध के दो मंत्री—सुनिध तथा वस्सकार के द्वारा यहाँ पाटलिपुत्र नामक नगर बसाया गया था।[८] मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र का अच्छा वर्णन किया है। उसके अनुसार अन्दर खाई से २४ फीट की दूरी पर चार-दीवालों से घिरे हुए नगर में ६४ फाटक तथा ५७० मीनार विद्यमान थे।[९] फाहियान के समय में यहाँ के लोग धनी, सम्पन्न एवं खुशहाल थे।[१०] ह्वेनसांग ने इस नगर की स्थिति गंगा के दक्षिण तरफ बतायी है।[११]

ब्रह्मपुर—समराइच्च कहा में इस नगर की स्थिति उत्तरापथ में बतायी गयी है।[१२] ह्वेनसांग ने ब्रह्मपुर की यात्रा की थी। उसके अनुसार ब्रह्मपुर राज्य

१. बी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ एंसिएन्ट इंडिया, पृ० १३७।
२. वोगल—नोट्स आन टालेमी, १, पृ० ८४।
३. सम० क० ४, पृ० ३३९।
४. भगवती सूत्र १४।८।५२९; आवश्यक चूर्णी २, पृ० १७९; आवश्यक निर्युक्ति १२७९।
५. सिकदार—स्टडीज इन दी भगवती सूत्र, पृ० ५४५।
६. यम० यस० पाण्डेय—हिस्टारिकल ज्योग्राफी एण्ड टोपोग्रैफी आफ बिहार, पृ० १३५।
७. बी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ ऐंसिएन्ट इण्डिया, पृ० २९५।
८. दीघनिकाय, २, ८६; सुमंगल विलासिनी २, पृ० ५४०।
९. मैकक्रिण्डिल—ऐंसियन्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज एण्ड एरियन, पृ० ६७।
१०. लीग (Legge)—फाहियान, पृ० ७७-७८।
११. वाटर्स—आन युवांग च्वांग २, पृ० ८७।
१२. सम० क० ८, पृ० ८२७; ९, पृ० ९५६।

४००० ली अथवा ७७१ मील में विस्तृत था ।[1] इसके अंतर्गत अलखनन्दा तथा कर्नाली नदियों के बीच का सम्पूर्ण पहाड़ी भाग रहा होगा जो आजकल गढ़वाल और कुमायूं के नाम से प्रसिद्ध है ।[2]

भंभा नगर—समराइच्च कहा में इसका उल्लेख एक नगर राज्य के रूप में हुआ है जिसकी स्थिति जम्बू द्वीप के विजय क्षेत्र में बतायी गयी है ।[3] नेमिचन्द्र शास्त्री ने इसकी स्थिति आधुनिक आसाम में बतायी है ।[4] किन्तु इसकी पहचान ठीक ढंग से नहीं हो पाती ।

मदनपुर—समराइच्च कहा में मदनपुर को कामरूप जनपद के अंतर्गत बतलाया गया है । यहाँ का राजा प्रद्युम्न था ।[5] कामरूप वर्तमान असम माना गया है जिसकी पहचान गौहाटी के आस-पास वाले भाग से की गयी है । अतः मदनपुर की स्थिति भी गौहाटी के आस-पास मानी जा सकती है ।

महासर[6]—इस नगर की पहचान आधुनिक बिहार के शाहाबाद जिले में आरा से ६ मील पश्चिम में वर्तमान काससार से की जा सकती है ।[7]

माकन्दी[8]—समराइच्च कहा में उल्लिखित यह नगर दक्षिण पांचाल की राजधानी थी ।[9] इस नगर की स्थिति हस्तिनापुर के आस-पास रही होगी, क्योंकि महाभारत के अनुसार युधिष्ठिर ने दुर्योधन से जो पाँच गाँव माँगे थे, माकन्दी उनमें से एक था ।[10] यह नगर व्यापार-वाणिज्य का केन्द्र था ।[11]

---

१. कनिंघम—एंशियन्ट ज्योग्राफी आफ इंडिया, पृ० ४०७ ।
२. एन० एल० डे—ज्योग्राफिकल डिक्शनरी आफ एंशियन्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया, पृ० ८० ।
३. सम० क० ८, पृ० ८०५ ।
४. नेमिचन्द्र शास्त्री—हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ० ३५८ ।
५. सम० क० ९, पृ० ९०४ ।
६. वही ६, पृ० ५०८, ५१८ ।
७. एस० एस० पाण्डेय—हिस्टारिकल ज्योग्राफी एण्ड टोपोग्राफी आफ बिहार, पृ० १५७ ।
८. सम० क० ६, पृ० ४९३, ५०० ।
९. जगदीश चन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ४७० ।
१०. महाभारत ५, ७२-७६ ।
११. सम० क० ६, पृ० ५१० ।

मिथिला[1]—समराइच्च कहा में उल्लिखित इस नगर का नाम रामायण तथा महाभारत में भी आया है।[2] मिथिला प्राचीनकाल में विदेह जनपद की राजधानी थी। पुराणों में निमि के पुत्र जो जनक के नाम से विख्यात थे, इस नगरी के निर्माता थे।[3] इसे आधुनिक नैपाल की सीमा के अन्तर्गत रखा जा सकता है। विविध तीर्थ कल्प में बताया गया है कि मिथिला में अनेक कदली वन, मीठे पानी की बावड़ियाँ, कुएँ, तालाब, नदियाँ आदि मौजूद थे। नगरी के चारो द्वारों पर चार बड़े बाजार थे तथा यहाँ के साधारण लोग भी पढ़े-लिखे एवं शास्त्रों के पंडित होते थे।[4]

रत्नपुर—समराइच्च कहा में रत्नपुर को विदेह क्षेत्र के गंधिलावती देश का एक नगर बताया गया है।[5] नेमिचन्द्र शास्त्री ने इसे कोसल जनपद का एक नगर बताया है।[6]

रथनूपुर चक्रवालपुर—यह विद्याधरों का एक नगर-राज्य था जिसकी स्थिति वैताढ्य पर्वत के निकट बतायी गयी है।[7] आदि पुराण में इसे विजयार्ध की दक्षिणी श्रेणी का २२ वाँ नगर बताया गया है।[8] इसकी वर्तमान स्थिति भारत के पूर्वी प्रदेश चाइबासा के निकट मानी जा सकती है।[9]

रथवीरपुर—यह जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र का एक नाम था।[10] इसकी वर्तमान स्थिति का ठीक-ठीक पता नहीं चलता है।

राजपुर—इस नगर की स्थिति विजयार्ध में बतायी गयी है।[11] यह काश्मीर के दक्षिण में स्थित राजौरी माना जा सकता है। कनिंघम के अनुसार राजपुर

---

१. सम० क० ८, पृ० ७७८-७८१।
२. रामायण १, ४८, १०-११; महाभारत, वनपर्व, २५४, ८।
३. भागवत पुराण ९, १३, १३।
४. विविध तीर्थ कल्प, पृ० ३२।
५. सम० क० २, पृ० १२०—'इहेव विदेहे गंधिलावई विजये रयणउरे नयरे।'
६. नेमिचन्द्र शास्त्री—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ९२।
७. सम० क० ५, पृ० ४६३।
८. आदि पुराण १९।४६।
९. नेमिचन्द्र शास्त्री—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ९२।
१०. सम० क० २, पृ० १२५।
११. वही, २, पृ० १०३; ७, पृ० ६३२-३३, ६५२, ६६०, ६६५, ६७२; ८, पृ० ८१३।

उत्तर में पीर पांचाल, पश्चिम में पूनच, दक्षिण में भीमबार तथा पूरब में रिहासी और अकनूर से घिरा हुआ था।[१]

लक्ष्मी निलय—समराइच्च कहा में इस नगर की स्थिति जम्बू द्वीप के विजय क्षेत्र में बतायी गयी है।[२] लक्ष्मी निलय के पास ही लक्ष्मी पर्वत विद्यमान था। किन्तु इसकी स्थिति तथा वर्तमान पहचान नहीं की जा सकती।

वर्धनापुर—यह नगर जम्बू द्वीप के उत्तरापथ में स्थित बताया गया है।[3] किन्तु अन्यत्र इसका उल्लेख नहीं है और न तो पहचान ही की जा सकती है।

बसन्तपुर[४]—सूय निर्युक्ति में इसे मगध जनपद का एक ग्राम बतलाया गया है।[५] कुछ विद्वानों ने इसे पूर्णिया जिले में स्थित बसन्तपुर ग्राम ही माना है।[६]

वाराणसी[७]—यह काशी जनपद की राजधानी थी। वरुणा और असि दो नदियों के बीच में स्थित होने के कारण ही इसे वाराणसी कहा गया है। यह वर्तमान बनारस (वाराणसी) है जो गंगा के तट पर स्थित है। यह काशी जनपद की एक पवित्र व धार्मिक नगरी थी।[८] इसका वर्णन अन्य जैन,[९] बौद्ध[१०] तथा ब्राह्मण[११] ग्रन्थों में आया है। वाराणसी सातवें और बारहवें तीर्थंकर भगवान सुपार्श्व तथा भगवान पार्श्वनाथ का जन्मस्थान था।[१२] यह ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन संस्कृति का विकास क्षेत्र रहा है।

विलासपुर[१३]—इस नगर की स्थिति विजयार्ध के दक्षिण में बतायी गयी है

---

१. कनिंघम—एंसियन्ट ज्योग्राफी आफ इंडिया, पृ० १४८-४९।

२. सम० क० ३, पृ० १६८; १७२-७३-७४, १८८।

३. वही ५, पृ० ७११।

४. सम० क० १, पृ० ११-३३-४३।

५. सूय निर्युक्ति २, ६, १९०।

६. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, पूर्णिया, १९११, पृ० १८५।

७. सम० क० ८, पृ० ८४५।

८. भगवती सूत्र १५।१।५४०।

९. निशीथ चूर्णी २, पृ० ४१७, ४६६; पुन्नवन सुत्त, १।३७; उपासकदशा, पृ० ९०९।

१०. दीघ निकाय, २, १४६; ३, १४१।

११. विष्णु पुराण अध्याय ३४।

१२. उवासक निर्युक्ति ३८२, ३८४, १३०२।

१३. सम० क० ५, पृ० ४०९-४१२।

सम्भवतः यह हिमाचल प्रदेश का विलासपुर नगर है। समराइच्च कहा में इसका वर्णन विद्याधरों के नगर के रूप में हुआ है।[१]

विशालवर्धन[2]—यह नगर कादम्बरी अटवी के पास स्थित था। कादम्बरी अटवी की स्थिति के अनुसार यह बिहार में भागलपुर और मुंगेर के बीच में वर्तमान रहा होगा।

विशाला[3]—यह अवन्ति जनपद के अन्तर्गत एक प्रधान एवं सम्पन्न नगरी थी। समराइच्च कहा में इसे एक नगर राज्य कहा गया है।[४] यह नगर आजकल "बद्री विशाला" के नाम से जाना जाता है जिसे स्कन्द पुराण में 'विशालम् बद्रीम्' कहा गया है।[५]

विश्वपुर[६]—समराइच्च कहा में आये हुए इस नगर की स्थिति का ठीक-ठीक पता नहीं चलता है।

वैराट नगर[७]—हरिभद्र ने इसकी स्थिति श्रावस्ती से आगे समुद्र तट पर बतायी है जो कि काल्पनिक-सा लगता है। अन्य ग्रन्थों में वैराट नगर को मत्स्य देश की राजधानी बताया गया है जो इन्द्रप्रस्थ के दक्षिण में विद्यमान था।[८] मत्स्य देश के राजा विराट की राजधानी होने के कारण भी इसे वैराट नगर कहा जाता था। यह आधुनिक जयपुर की एक तहसील का केन्द्र स्थान है जो दिल्ली से १०५ मील दक्षिण पश्चिम तथा जयपुर से ४१ मील उत्तर में स्थित है।[९]

शंखपुर—समराइच्च कहा में इस नगर की स्थिति उत्तरापथ में बताई गई है।[१०] सम्भवतः यह स्थान राजगृह और द्वारिका के मध्य में था, क्योंकि विविध

१. सम० क० ५, पृ० ४१२।
२. वही, ७, पृ० ६७३।
३. वही, ४, पृ० २८९–३०८–३१२–३१४–३१८–३१९–३२६–३४५।
४. वही, ४, पृ० ३४५।
५. ए० बी० यल० अवस्थी—स्टडीज इन स्कन्द पुराण, पृ० १२६।
६. सम० क० ७, पृ० ६६७, ६६९, ६९०।
७. वही, ४, पृ० २८५।
८. महाभारत; विराट पर्व; गोपथ ब्राह्मण १, २, ९।
९. बी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ एँसियन्ट इंडिया पृ० ३९२–९३।
१०. सम० क० ८, पृ० ७३७, ७४०, ७४२, ७५६।

तीर्थ कल्प के अनुसार द्वारिका से श्री कृष्ण की और राजगृह से जरासंध की सेनाएँ युद्ध के लिए चलीं, ये दोनों सेनाएँ जहाँ मिलीं वहाँ अरिष्टनेमि ने शंखध्वनि की और शंखपुर नगर बसाया।[1]

शंखवर्धन—यह नगर जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र में स्थित था;[2] किन्तु इसकी वर्तमान स्थिति का पता नहीं चलता है।

श्वेतविका[3]—इसे प्राचीन केकय जनपद की राजधानी बताया गया है। समराइच्च कहा में इसे एक नगर राज्य कहा गया है।[4] ताम्रलिप्ति से इसका व्यापार चलता था जो श्रावस्ती के उत्तर-पूर्व नेपाल की तराई में स्थित था।

साकेत[5]—यह नगर दक्षिण कोसल जनपद की राजधानी था। महाभाष्य में इसका उल्लेख आया है।[6] टालेमी ने इसे सागदा तथा फाहियान ने साची कहा है।[7] साकेत को ही अयोध्या भी कहा गया है (स्थिति तथा पहचान के लिए देखिए—अयोध्या नगर)।

सुशर्म नगर[8]—यह गुजरात प्रदेश का एक नगर था। प्राचीन काल में इसे व्यापार-वाणिज्य का केन्द्र माना जाता था जिसमें बड़े-बड़े व्यापारी निवास करते थे।[9]

श्रीपुर[10]—यह आधुनिक सिरपुर है जो वंशधारा नदी के बायें तट पर स्थित सर्वलिंगम के उत्तर पश्चिम में गंजाम जिले में स्थित है।[11] यह विशाखापट्टम

---

१. नेमिचन्द्र शास्त्री—हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ० ३६०।
२. सम० क० ७, पृ० ६१२, ६७३।
३. वही ५, पृ० ३६५–६६–६७, ३७६, ३८८, ३९८, ४०७, ४१६–१७, ४२०; ८. पृ० ८१५, ८३१।
४. वही ५. पृ० ३६५-६६-६७।
५. वही ४, पृ० २३१, २३९।
६. महाभाष्य ३, ३, २, पृ० २४६, १, २, ३, पृ० ६०८।
७. लीग (Ligge)—ट्रेवेल्स आफ फाहियान, पृ० ५४।
८. सम० क० ४, पृ० २३४, २५७, २६८, २७०, ३६१।
९. वही ४, पृ० २६८।
१०. वही ५, पृ० ३९८-९९।
११. इपि० इंडि० ४, पृ० ११९।

जिले का सिरिपुरम भी हो सकता है जो नागवाली नदी से ३ मील दक्षिण में है जिसके उत्तरी किनारे पर कलिंग का प्रसिद्ध जिला वारहावर्दिन स्थित है।[1]

श्रावस्ती[2]—इस नगर का उल्लेख अन्य जैन ग्रन्थों में भी हुआ है।[3] कनिंघम ने इसे आधुनिक सहेत-महेत माना है।[4] यह उत्तर कोशल की राजधानी थी।[5] श्रावस्ती बौद्धों का केन्द्र स्थल था।[6]

हस्तिनापुर—इस नगर की स्थिति जम्बू द्वीप के विजय क्षेत्र में बतायी गयी है।[7] यह प्राचीन कुरु देश की राजधानी थी। इसकी वर्तमान स्थिति मेरठ जिले के मेवाना तहसील में बतायी गयी है।[8] हस्तिनापुर का उल्लेख अन्य जैन[9] तथा ब्राह्मण ग्रन्थों[10] में मिलता है। आदि पुराण में इस नगर का अत्यन्त समृद्ध और स्वर्ग के समान सुन्दर उल्लेख किया गया है।[11] इस नगर को कुरुजांगल जनपद की राजधानी बताया गया है। शांति, कुन्थु, अरह और मल्लिनाथ के सुन्दर एवं मनोहर चैत्यालय इसी नगरी में विद्यमान थे तथा अम्बा देवी का प्रसिद्ध मन्दिर भी यहीं विद्यमान था।[12] अतः पौराणिक दृष्टि से इस नगर का पर्याप्त महत्त्व है।

क्षितिप्रतिष्ठित[13]—यह राजगृह का दूसरा नाम था। समराइच्च कहा के अनुसार यह नगर ऊंची प्राकार खाइयों आदि से सुरक्षित था तथा नगर में

---

१. विशाख वर्मा का कोरासंद-ताम्रपत्र, इपि० इंडि० २१, पृ० २३-२४।
२. सम० क० ४, पृ० २५७, २६१, २७१, २८३-८४-८५-८६।
३. भगवती सूत्र २।१।९०; ९।३३।३८६; १५।१।५५३; निशीथ चूर्णी २, पृ० ४६६; ४, पृ० १०३।
४. कनिंघम—एंसियन्ट ज्योग्राफी आफ इंडिया, पृ० ४६९; देखिए—बी०सी०ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ एंसियन्ट इंडिया, पृ० १२५।
५. जे० सी० सिकदार—स्टडीज इन भगवती सूत्र, पृ० ५३५।
६. जगदीश चन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ४८५।
७. सम० क० २, पृ० १२७, १०५।
८. कनिंघम—एंसियन्ट ज्योग्राफी आफ इंडिया, पृ० ७०२।
९. भगवती सूत्र ११।९।४१७; ११।११।४२८; १६।५।५७७।
१०. रामायण २, ६८, १३; मार्कण्डेय पुराण, अध्याय ५७; भागवत पुराण १३, ६।
११. आदि पुराण ८।२२३; ४३।७६।
१२. नेमिचन्द्र शास्त्री—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ९४।
१३. सम० क० १, पृ० ९, ४३; ९, पृ० ९७०-७१।

साफ-सुथरे त्रिपथ, चतुष्पथ आदि मार्ग थे। यहाँ व्यापार का भी केन्द्र था। निशीथ चूर्णी में भी इस नगर का उल्लेख मिलता है।[1] वर्तमान पटना का राजगिर ही प्राचीन भारत का राजगृह था। जैन ग्रन्थों में राजगृह को ही क्षितिप्रतिष्ठित, चणकपुर, ऋषभपुर अथवा कुशाग्रपुर कहा गया है।[2]

पत्तन—समराइच्च कहा में हमें जनपदों एवं नगरों के साथ-साथ कुछ पत्तनों के भी उल्लेख मिलते हैं। आदि पुराण के अनुसार जो भाग समुद्र के तट पर बसा हो तथा वहाँ नावों द्वारा आवागमन हो उसे 'पत्तन' कहते हैं।[3] मानसार,[4] समरांगण, तथा बृहत्कोष के आधार पर पत्तन को एक प्रकार का बृहत् बन्दरगाह माना जा सकता है जो किसी समुद्र या नदी के तट पर स्थित हो तथा जहाँ पर मुख्य रूप से वणिक लोग निवास करते हों।

व्यवहार सूत्र के अनुसार जहाँ नौकाओं द्वारा आवागमन होता है उसे 'पट्टन' और जहाँ नौकाओं के अतिरिक्त गाड़ी, घोड़ों आदि से आवागमन हो उसे 'पत्तन' कहते हैं।[5] इस प्रकार उपरोक्त साक्ष्यों के आधार पर हम पत्तन को दो भागों में बाँट सकते हैं—'जल पत्तन (पट्टन) तथा स्थल पत्तन'। समराइच्च कहा में उल्लिखित पत्तन का विवरण अधोलिखित है।

अचलपुर—समराइच्च कहा में इसे उत्तरा पथ का श्रेष्ठ व्यापारिक स्थान बताया गया है।[6] जम्बू द्वीप के उत्तरापथ में इसकी स्थिति बतलाई गयी है जो ब्रह्मपुर नगर के पास था। यह प्राचीन भारत का प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था जहाँ के व्यापारी बड़े ही समृद्ध व धनवान होते थे। विशेष जानकारी के लिए देखिए—'अचलपुर' एक नगर के रूप में।

गउजनक—समराइच्च कहा में इसकी स्थिति उत्तरापथ विषय में बतायी

1. निशीथ चूर्णी ३, पृ० १५०; ४, पृ० २२०।
2. जगदीश चन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ४६१।
3. पत्तनं तत्समुद्रान्ते यन्नौभिरवतीर्यते—आदिपुराण १६।१७२।
4. क्रय-विक्रय संयुक्तमब्धितीर समाश्रितम्। देशान्तर गतजनैर्नानाजातिभिरन्वितम्। पत्तनं तत् समाख्यातं वैश्यैरध्युषितं तु यत्।—मानसार, नवम अध्याय।
5. पत्तनं शकटैर्गम्यं घोटकैर्नौभिरेव च।
   नौभिरेव तु यद् गम्यं पट्टनं तत् प्रचक्षते। व्यवहार सूत्र भाग ३, पृ० १२७।
6. सम० क०, ६, पृ० ५०९—धरणोवि—उत्तरावहतिलयभूयं अयलउरं नामपट्टणं।

गयी है।[1] इस पत्तन की भी स्थिति उत्तरापथ जनपद में बतायी गयी है। संभवतः यह मरु देश में सत्यपुर के निकट अवस्थित था जो आधुनिक मारवाड़ जिले में वर्तमान है।

गिरिस्थल[2]—गुजरात के प्रसिद्ध पर्वत गिरिनार के आस-पास गिरिस्थल नामक पत्तन विद्यमान था। स्थल मार्गों से यहाँ का व्यापार होता था।

श्रीस्थल—जम्बू द्वीप के विजय क्षेत्र में इस नगर की स्थिति बतायी गयी है।[3] किन्तु अन्यत्र इसका उल्लेख नहीं मिलता है तथा न तो ठीक ढंग से इसकी पहचान ही की जा सकती है।

शंखपुर—समराइच्च कहा में इसे उत्तरापथ विषय का एक पत्तन बताया गया है जहाँ के राजा का नाम शंखायन था[4]। इसकी स्थिति राजगृह और द्वारिका के मध्य में बतायी जा सकती है (देखिए—शंखपुर नगर)।

बन्दरगाह

आधुनिक काल की भाँति प्राचीन काल में भी व्यापार तथा आवागमन की सुविधा के लिए समुद्र के किनारे बन्दरगाह होते थे। ये बन्दरगाह बड़े जलयान तथा छोटे जहाज एवं नौकाओं के रुकने एवं वहाँ से प्रस्थान करने के केन्द्र स्थल होते थे। भारतीय तथा वैदेशिक व्यापारिक जलयानों का विश्राम स्थल होने के कारण ये बन्दरगाह व्यापारिक केन्द्र भी हो गये जहाँ से स्थल तथा जलमार्गों द्वारा व्यापार होता था। समराइच्च कहा में उल्लिखित दो प्रसिद्ध बन्दरगाहों की जानकारी हमें अधोलिखित ढंग से होती है।

ताम्रलिप्ति—इसका उल्लेख समराइच्च कहा में कई बार किया गया है।[5] पन्नवन सुत्त में ताम्रलिप्ति को बंग देश की राजधानी बताया गया है।[6] जगदीश

१. सम० क० ४, पृ० २७७—अत्थि इहेव भारहेवासे उत्तरावहे विसये गज्जणयं नाम पट्टणं।
२. वही ४, पृ० २७७—'गज्जणय सामिणो वीरसेणस्स समीवे।'
३. वही, ३, पृ० १७४।
४. वही ८, पृ० ७३७—'इओ य उत्तरावहे विसये संखउरे पट्टणों संखायणो नाम राया।'
५. वही १, पृ० ५६; ४, पृ० २४१–४२; ५, पृ० ३६७–६८–६९, ३९८, ४०७, ४१५–१६, ४२०; ६, पृ० ५९६, ५९९; ७, पृ० ६५२, ६७१।
६. पन्नवनसुत्त १, ३७, पृ० ५५।

चन्द्र जैन के अनुसार ताम्रलिप्ति (तामलुक) व्यापार का केन्द्र था जहाँ जल और स्थल दोनों मार्गों से व्यापार होता था।[1] कल्प सूत्र में ताम्रलिप्तिया नामक जैन श्रमणों की शाखा का उल्लेख मिलता है जिससे पता चलता है कि यहाँ जैन श्रमणों का केन्द्र रहा होगा।[2] ताम्रलिप्ति बंगाल के मिदिनापुर जिले का तामलुक है जो हुगली तथा रूपनारायण नदियों के संगम से १२ मील की दूरी पर स्थित है।[3] इसकी वर्तमान स्थिति रूपनारायण नदी के पश्चिमी तट पर मानी जा सकती है। फाहियान ने इसे चम्पा से ५० योजन पूरब दिशा में समुद्र के किनारे स्थित माना है। ह्वेनसांग के अनुसार ताम्रलिप्ति में दस से अधिक बौद्ध मठ तथा लगभग एक हजार से अधिक बौद्ध भिक्षु विद्यमान थे।[4] इस बन्दरगाह का उल्लेख अन्य जैन,[6] बौद्ध[7] तथा ब्राह्मण[8] ग्रन्थों में मिलता है।

वैजयन्ती—समराइच्च कहा में इसकी स्थिति पूर्वी समुद्रतट पर बतायी गयी है।[9] ताम्रलिप्ति की भांति यह भी एक सुप्रसिद्ध बंदरगाह था। बड़े-बड़े विदेशी तथा स्वदेशी व्यापारिक जलयान व्यापार के निमित्त यहाँ आते-जाते रहते थे। बंदरगाह के साथ-साथ यह व्यापारिक केन्द्र भी बन गया था जहाँ भारतीय व्यापारी स्थल मार्गों से भी व्यापार के निमित्त आते जाते रहते थे। समराइच्च कहा के उल्लेख के आधार पर वैजयन्ती को वर्तमान बंगाल की खाड़ी वाला भाग कहा जा सकता है।

अरण्य

प्राचीन काल से ही पर्वत तथा नदियों की भांति अरण्यों का भी भौगोलिक एवं आर्थिक महत्त्व रहा है। विभिन्न प्रकार की भूमि तथा जलवायु के कारण ये अरण्य भांति-भांति प्रकार की वनस्पतियों के उद्गम स्थल रहे हैं जिनका विशिष्ट आर्थिक महत्त्व है। समराइच्च कहा में प्रयुक्त हुए कुछ निम्नलिखित वन्य प्रदेशों का उल्लेख मिलता है।

---

१. जगदीश चन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ४६५-६६।
२. वही पृ० ४६५–६६।
३. कनिंघम—एंसियन्ट ज्योग्राफी आफ इंडिया, पृ० ५७७–७८।
४. वही पृ० ५३२।
५. वाटर्स—आन युवांग च्वांग, २, १९०।
६. भगवती सूत्र ३।१।१३४।
७. कथासरित्सागर-अध्याय २४; महावंश ११, ३८; १९, ६।
८. महाभारत—भीष्म पर्व, ९, ५७; रघुवंश ४।३८।
९. सम० क० ६, पृ० ५३९।

कादंबरी—समराइच्च कहा में अचलपुर और माकन्दी के बीच इस अरण्य की स्थिति बताई गयी है।[1] यह एक महाटवी के रूप में थी जो संभवतः आधुनिक बिहार के मुंगेर जिला में स्थित रही होगी। इस आटवी में कदम्ब के वृक्षों की अधिकता थी। संभवतः इसी कारण इसका नाम कादम्बरी पड़ा था। कदम्ब के साथ-साथ वहाँ चंदन तथा आम्र आदि विशाल वृक्षों की अधिकता थी। सघन वृक्षों व जंगली झाड़ियों के बीच वृषभ, मृग, महिष, शार्दूल, हस्ति, मृगराज जैसे भयंकर जानवर निवास करते थे। कादम्बरी चम्पा के निकट स्थित थी जिसके निकट काली नामक एक पर्वत था तथा जहाँ भगवान पार्श्वनाथ भ्रमण किये थे।[2]

चन्दनवन[3]—यह मलय पर्वत के पास ही स्थित था[4] जिसकी स्थिति मैसूर के दक्षिण और त्रावणकोर के पूर्व में बतायी गयी है। चन्दन के वृक्षों की अधिकता के कारण ही इसे चन्दनवन कहा जाता था।

दंत रत्तिका[5]—चम्पानगरी से ताम्रलिप्ति जाते समय रास्ते में इसकी स्थिति बताई गयी है। समराइच्च कहा में उल्लिखित इस महाटवी की पहचान ठीक ढंग से नहीं हो पाती।

नन्दनवन[6]—इस अरण्य की भी स्थिति का पता नहीं चलता है। यह परम्परागत काल्पनिक नाम जान पड़ता है।

पद्मावती[7]—विन्ध्य पर्वत मालाओं के मध्य भाग में यह अरण्य स्थित था। इस अरण्य में पहाड़ी नदियों के रूप में नून तथा महावार नदियाँ प्रवाहित होती थी।

प्रेतवन[8]—समराइच्च कहा में उल्लिखित इस अरण्य का नाम काल्पनिक सा लगता है।

विन्ध्याटवी[9]—विन्ध्य पर्वत के पास घने एवं विभिन्न प्रकार के वृक्षों से

१. सम० क० ६, पृ० ५१०, ५१५, ५२०, ५३६।
२. बी० सी० ला—सम जैन कैनानिकल सूत्र, पृ० १७७।
३. सम० क० ५, पृ० ४४५; ६, ५४५।
४. वही ५, पृ० ४४५ (मलय सानु)।
५. वही ७, पृ० ६५६।
६. वही ५, पृ० ४१२; ७, ६८०।
७. वही क० ४, पृ० २८५।
८. वही क० ५, पृ० ४०१।
९. वही ८, पृ० ७९९, ८२१।

आच्छादित अटवी को विन्ध्यारण्य कहा गया है। आदि पुराण में इस विन्ध्याचल वन का उल्लेख है।[1] महावंश मे बताया गया है कि अशोक नगर से निकल कर स्थल मार्ग द्वारा विन्ध्याटवी को पार कर एक सप्ताह में ताम्रलिप्ति पहुँचा जा सकता है।[2] महाभारत में भी विन्ध्याचल वन का उल्लेख मिलता है।[3]

सुंसुमार[4]—विजयार्ध की उत्तर श्रेणी के नगरों मे विजयपुर नामक नगर के पास ही सुंसुमार अरण्य स्थित था। सुंसुमार गिरि की पहचान वर्तमान मिर्जापुर जिले मे चुनार की पहाड़ियों से की गई है।[5] सुंसुमार अरण्य मे ही सुंसुमार पर्वत की स्थिति बतायी गयी है अतः सिद्ध होता है कि यह अरण्य भी मिर्जापुर मे चुनार के पास स्थित रहा होगा।

पर्वत

प्रत्येक देश अथवा राष्ट्र की सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के साथ साथ वहां की जलवायु, ऋतु परिवर्तन तथा सुरक्षा की दृष्टि से पर्वतों का अत्यधिक महत्त्व रहता है। भारत की उत्तरी तथा दक्षिणी सीमाओं पर फैली शैल शृङ्खलाओं के साथ अन्य पर्वत मालाओं ने इस देश के सांस्कृतिक स्वरूप के निर्माण मे प्राचीन काल से ही बराबर योगदान मिलता रहा है। समराइच्च कहा में निम्नलिखित पर्वतों का उल्लेख है।

उदयगिरि[6]—समराइच्च कहा मे इसकी स्थिति नहीं बताई गयी है। मात्र वर्णन मे नाम ज्ञात होता है। भुवनेश्वर स्टेशन से लगभग चार मील दूरी पर उदयगिरि और खंडगिरि नामक दो प्राचीन पहाड़ियाँ है जिन्हे काटकर सुन्दर गुफाएं बनाई गई है।[7] ये दोनों पहाड़ियां खारवेल के हाथी गुम्फा शिलालेख के लेखक को कुमार और कुमारी पहाड़ियों के रूप मे ज्ञात थीं।[8] खंडगिरि पहाड़ी पुरी जिला मे भुवनेश्वर से ३ मील उत्तर-पश्चिम की तरफ स्थित है।[9] इस

---

१. आदि पुराण ३०।९२।
२. महावंश १९, ६—हिन्दी संस्करण, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
३. महाभारत—आदि पर्व २०४।७; सभा पर्व १०।३१; वन पर्व १०४।६; विराटपर्व ६।१७।
४. सम० क० २, पृ० १०७ (विजये सुंसुमारं रण्णे सुंसुमार गिरिम्मि)।
५. घोष—अर्ली हिस्ट्री आफ कौशाम्बी, पृ० ३२।
६. सम० क० २, पृ० १३६।
७. जगदीश चन्द्र जैन—जैनागम साहित्य मे भारतीय समाज, पृ० ४६७।
८. वी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ ऐंसियन्ट इंडिया, पृ० १९४।
९. वही पृ० १९४।

पहाड़ी की तीन चोटियाँ हैं—उदयगिरि, नीलगिरि और खण्डगिरि। खण्डगिरि की चोटी १२३ फीट ऊँची है जब कि उदयगिरि की चोटी ११० फीट ऊँची है। यहाँ इस पर्वत श्रेणी (उदयगिरि) के नीचे एक वैष्णव कुटी है तथा इसमें ४० गुफाएँ हैं।[१]

गान्धार पर्वत[२]—यह गांधार देश के अन्तर्गत एक प्रसिद्ध पहाड़ी के नाम से विख्यात था। अन्यत्र इसकी स्थिति का पता नहीं चलता है।

वैताढ्य पर्वत[३]—यह पर्वत छः खण्डों के मध्य में होने के कारण विजयार्ध के नाम से जाना जाता है। वैताढ्य पर्वत की दो श्रेणियाँ हैं (उत्तर श्रेणी और दक्षिण श्रेणी)। इन श्रेणियों में विद्याधर नगर विद्यमान थे। नेमिचन्द्र शास्त्री ने गंध समृद्ध नगर की स्थिति मालवा[४] में बतायी है जो समराइच्च कहा में वैताढ्य के पास स्थित बताया गया है। अतः यह पर्वत भी मालवा में ही होना चाहिए।

मलय पर्वत[५]—समराइच्च कहा में उल्लिखित इस पर्वत का नाम भागवत पुराण तथा मत्स्य पुराण में भी आया है।[६] बी० सी० ला के अनुसार कावेरी के नीचे पश्चिमी घाट का फैला हुआ दक्षिणी भाग ही मलयगिरि का पश्चिमी भाग है जिसे वर्तमान ट्रावनकोर पहाड़ी के नाम से जाना जाता है।[७] डी० सी० सरकार ने भी इसकी पहचान ट्रावनकोर की पहाड़ियों से की है।[८] चंदन की बहुल मात्रा में प्राप्ति के कारण ही इसे मलय पर्वत (मलयगिरि) कहा गया है।

मंदरगिरि[९]—इसे मंदर गिरि अथवा मंदराचल के नाम से जाना जाता

---

१. बी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ एंसियन्ट इण्डिया, पृ० १९४।
२. सम० क०, १, पृ० ४९।
३. वही ५, पृ० ४११, ४५५, ४६०, ४६२, ४६३; ६, पृ० ५००, ५८१-८२, ५९४, ५९५; ८, पृ० ७३६।
४. नेमिचन्द्र शास्त्री—हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, पृ० ३५६।
५. सम० क० ५, पृ० ४३८, ४४१-४२-४३-४४-४५, ४४९, ४५५, ८, पृ० ८२१, ८४६।
६. भागवत पुराण ५।१९।१६; ११।८।३२; ६।३।३५; १२।८।१६; मत्स्य पुराण ६१।३७, ११।१२; देखिए—रघुवंश ४।४६।
७. बी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ एंसियन्ट इंडिया, पृ० २०६।
८. ज्योग्राफिकल डिक्शनरी आफ एंसियन्ट एण्ड मेडिवल इंडिया, पृ० ७१।
९. सम० क० ३, पृ० १९८; ४, पृ० २९६।

था। पुराणों में भी इस पर्वत का उल्लेख है।[1] बी० सी० ला के अनुसार यह भागलपुर जिला के बंका नामक तहसील में स्थित है जो भागलपुर के ३० मील दक्षिण तथा बौंसी के ३ मील उत्तर दिशा मे वर्तमान है।[2] यहाँ भगवान् बुद्ध की प्रतिमा तथा बौद्ध मंदिर के अवशेष मिले है।[3]

मेरु पर्वत[4]—इसकी स्थिति जम्बू द्वीप के मध्य मे बतायी गयी है।[5] मार्कण्डेय पुराण मे पता चलता है कि इस पर्वत के पश्चिम में निषाध और परिपत्र, दक्षिण मे कैलाश और हेमवत तथा उत्तर दिशा मे शृंगवन एवं जरुधि स्थित हैं।[6] इसे सिनेरु की सबसे ऊँची चोटी मानी जा सकती है जो ७, ८०० फी ऊँची है।[7] यह बदरिकाश्रम के करीब है तथा संभवतः एरियन का मेरास पर्वत है।[8] इसे गढ़वाल में स्थित रुद्र हिमालय माना जा सकता है, जहाँ से गंगा निकलती हैं।[9] मेरु पर्वत की यही स्थिति सही जान पड़ती है।

रत्नगिरि[10]—समराइच्च कहा में उल्लिखित यह पर्वत गोपालपुर से चार मील उत्तर-पूर्व तथा किउल की एक शाखा केलुआ नामक एक छोटे से स्रोत के किनारे स्थित है।[11] भरत सिंह उपाध्याय ने इसकी स्थिति प्राचीन राजगृह के पास बतायी है।[12] कनिंघम ने तो प्राचीन बुद्धकालीन पाण्डव पर्वत को ही रत्नगिरि से मिलाया है।[13] यह पाण्डव पर्वत भी राजगृह के पास स्थित था। उपरोक्त साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि यह पर्वत प्राचीन राजगृह के पास ही स्थित रहा होगा।

१. कालिका पुराण, अध्याय १३, २३; भागवत पुराण ८, २३-२८।
२. बी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ एंसियन्ट इंडिया, पृ० २७९।
३. बर्न—भागलपुर, बिहार डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, पृ० १६२-६३।
४. सम० क० ४, पृ० ४३०।
५. कूर्म पुराण, पृ० ४३८, श्लोक १८।
६. मार्कण्डेय पुराण, बंगवासी एडीशन, पृ० २८०।
७. धम्मपद १, १०७; जातक १, २०३।
८. बी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ एंसियन्ट इंडिया, पृ० १३१।
९. बी० सी० ला—ज्योग्राफी आफ अर्ली बुद्धिज्म, पृ० ४२।
१०. सम० क० ६, पृ० ५४५; ७, पृ० ६४८।
११. बी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ एंसिएन्ट इंडिया, पृ० २२०।
१२. भरत सिंह उपाध्याय—बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० १८२।
१३. कनिंघम—एंसियन्ट ज्योग्राफी आफ इंडिया, पृ० ५३१।

लक्ष्मी पर्वत[1]—इसकी स्थिति आसाम के दक्षिण में थी जो लक्ष्मी निलय के नाम से प्रख्यात था। अतः आसाम के अन्तर्गत स्थित एक पहाड़ी क्षेत्र से इसकी पहचान की जा सकती है।

विन्ध्य पर्वत[2]—आदि पुराण में इसे विन्ध्याचल कहा गया है जिसके पश्चिमी छोर को पार कर भरत चक्रवर्ती ने लाट तथा सोरठ देश पर आक्रमण किया था।[3] प्राचीनकाल में यह पर्वत माला मध्यभारत के उत्तर-पश्चिम में विस्तृत था। पद्म पुराण तथा कालिदास के मेघदूत में भी इस पर्वत का उल्लेख आया है।[4] दशकुमार चरित से पता चलता है कि विन्ध्य पर्वत से मिला हुआ विन्ध्यारण्य भी था जहाँ घनी एवं भयंकर जंगली झाड़ियाँ एवं वृक्ष थे जिसमें जंगली जानवरों के रहने की सुविधा थी।[5] ऋक्ष, विन्ध्या और परिपत्र आदि सम्पूर्ण पर्वत श्रेणियों के भाग थे जिसे आधुनिक विन्ध्या कहते हैं।[6] आधुनिक भौगोलिक वेत्ताओं के अनुसार विन्ध्य पर्वत गुजरात से पश्चिम तथा बिहार के पूर्वी भाग में ७०० मील के विस्तृत क्षेत्र में है जिसे भरनेर तथा कैमूर आदि विभिन्न स्थानीय नामों से जाना जाता है।[7] यह टालेमी का औइन्डीओन है जो नर्मदा और ताप्ती नदियों का उद्गम स्रोत है।[8] प्राचीन काल में यह पर्वत औषधियों आदि का केन्द्र था।[9]

शिलोन्ध्र पर्वत[10]—वर्णन के आधार पर अनुमान लगाया जाता है कि संभवतः यह पहाड़ी आसाम के दक्षिण में अवस्थित थी। इस पहाड़ी से लगा घने वृक्षों से आच्छादित एक जंगल था जिसमें सिंह, अजगर जैसे भयंकर जानवर निवास करते थे।

१. सम० क० २, पृ० १२५; ३, पृ० १६२, १७२ ।
२. वही २, पृ० १२७; ६, पृ० ५०१; ७, पृ० ६७१; ८, पृ० ७९८-७९९, ८०१ ।
३. आदि पुराण २९।८८ ।
४. पद्म पुराण—उत्तर काण्ड, श्लोक ३५-३८; मेघदूत-पूर्वमेघ, १९ ।
५. दशकुमार चरित, पृ० १८ ।
६. ला—ज्योग्राफिकल एसेज, १०७ ।
७. बी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ ऐंसियन्ट इंडिया, पृ० ३५५ ।
८. टालेमीज ऐंसियन्ट इण्डिया, पृ० ७७ ।
९. सम० क० ८ पृ० ८०१ ।
१०. वही २, पृ० १२५; ४, पृ० ३०७, ६, पृ० ५१६ ।

सुवेल[1] पर्वत—समराइच्च कहा में उल्लिखित इस पर्वत की स्थिति का ठीक-ठीक पता नहीं चलता है और न अन्यत्र इसका उल्लेख ही मिलता है।

संसुमार गिरि[2]--विजयार्ध की उत्तर श्रेणी के नगरों में विजयपुर एक नगर है। इस नगर के पास सुंसुमार नामक एक अरण्य था और इसी अरण्य में सुंसुमार नामक पर्वत विद्यमान था। वत्स जनपद के राजा उदायन के पुत्र राजकुमार बोधि इसी पर्वत पर रहते थे, जहां कोकनद नामक महल बनवाया था।[3] बौद्ध परम्परा के अनुसार यहां भर्ग राज्य की राजधानी थी और यह एक किले के रूप में प्रयुक्त होता था।[4] कुछ विद्वानों ने इसे आधुनिक चनार की पहाड़ियां बताया है जो मिर्जापुर जिले में स्थित है।[5]

हिमवत (हिमालय)[6]—यह जम्बूद्वीप का प्रसिद्ध पर्वत आधुनिक हिमालय है जो भारत के उत्तर में स्थित है। हिम (वर्फ) से सदा आच्छादित रहने के कारण ही इसे हिमवत अथवा हिमालय कहा जाता है। इस पर्वत का उल्लेख अन्य जैन,[7] बौद्ध,[8] ब्राह्मण ग्रन्थों[9] तथा विदेशी विवरण[10] में मिलता है। भारत के उत्तर दिशा में पूर्व से लेकर पश्चिमी समुद्र तट तक धनुष की डोरी की भांति फैला हुआ हिमालय पर्वत ही प्राचीन हिमवत है। इसे पर्वतराज तथा नगाधिराज कहा गया है। जैन परम्परा के अनुसार यह जम्बूद्वीप का प्रथम कुलाचल है जिसपर ११ कूट हैं। इसका विस्तार १०५२$\frac{१२}{१९}$ योजन है, तथा इसकी ऊंचाई १०० योजन तथा गहराई २५ योजन बतलाई गयी है। हिमालय तीन भागों में विभक्त है—उत्तर, मध्य और दक्षिण। उत्तर माला के बीच

---

१. सम० क० ८, पृ० ३१० ।
२. वही २, पृ० १०७ (विजये सुंसुमारे रण्णे सुंसुमार गिरिम्मि), १०८।
३. बी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ ऐंसियन्ट इंडिया, पृ० १५२।
४. मज्झिम निकाय, १, ३३२-८; २, ९१-९७।
५. घोष—अर्ली हिस्ट्री आफ कौशाम्बी, पृ० ३२; तथा भरत सिंह उपाध्याय—बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल, पृ० ३३६।
६. सम० क० ६, पृ० ५०२ (हिमवन्त पव्वय गयस्स दरिह रूगयं)।
७. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, १, ९; आदिपुराण २९।६८।
८. मलालसेकर—डिक्शनरी आफ पाली प्रापर नेम्स, १, १३२५।
९. ऋग्वेद १०।१२१।४; अथर्ववेद १२।१।२; मार्कण्डेय पुराण, ५४, २४, ५७, ५९।
१०. टालेमीज़ ऐंसियन्ट इंडिया, पृ० १९।

कैलाश पर्वत है।[1] मध्य माला नंग पर्वत से प्रारम्भ होती है जिसकी सबसे ऊँची चोटी २६, ६२९ फुट है। मध्य माला का दूसरा अंश नेपाल, सिक्किम और भूटान राज्य के अन्तर्गत है जहाँ सर्वदा तुषार पड़ती रहती है।

नदियाँ

समराइच्च कहा में निम्नलिखित नदियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

गंगा[2]—समराइच्च कहा के कथा प्रसंग में इसका उल्लेख आया है। गंगा नदी का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद के नदी स्तुति में मिलता है।[3] इसका उल्लेख विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न नामों से हुआ है। महाभारत तथा भागवत पुराण में इसे अलखनन्दा,[4] भागवत पुराण में एक अन्य स्थान पर द्युनदी,[5] रघुवंश में भागीरथी तथा जाह्नवी[6] के रूप में वर्णित किया गया है। तैत्तिरीय आरण्यक के अनुसार गंगा-जमुना के बीच रहने वाले लोग सम्माननीय समझे जाते थे।[7] पद्म पुराण के अनुसार गंगा नदी की सात शाखाएँ थीं, यथा—विताेदका, नलिनी, सरस्वती, जम्बू नदी, सीता, गंगा और सिन्धु।[8] भागीरथी गंगा हिमालय से निकल कर गंगोत्री नामक स्थान में गिरती है। तत्पश्चात् हरद्वार में होते हुए उसके नीचे बुलन्द शहर में दक्षिण की तरफ मुड़ती है जहां यह दक्षिण पूर्व की ओर बहती हुई इलाहाबाद में यमुना नदी में मिलती है। इलाहाबाद से राज-महल तक यह पूर्व दिशा की ओर बहती है और राजमहल से पश्चिम बंगाल में प्रवेश कर बंगाल की खाड़ी में गिरती है।[9] प्राचीन काल से लेकर वर्तमान समय तक के भारतीय जीवन के आर्थिक, राजनैतिक एवं संस्कृति के केन्द्र हरद्वार, कानपुर, प्रयाग, वाराणसी तथा पटना आदि नगर गंगा के ही तट पर स्थित हैं।

१. नेमिचन्द्र शास्त्री—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० १११।
२. सम० क० २, पृ० १५६; ३ पृ० १९८; ४, पृ० २३४।
३. ऋग्वेद १०।७५।५।
४. महाभारत—आदि पर्व, १७०, २२; भागवत पुराण ८, ६, २४; ११, २९, ४२।
५. भागवत पुराण ३, ५, १; १०, ७५, ८।
६. रघुवंश ७।३६; ८।९५; १०।२६।
७. तैत्तिरीय आरण्यक २।२०।
८. पद्मपुराण, स्वर्ग काण्ड, अध्याय २, श्लोक ६८।
९. यन० एल० डे०—ज्योग्राफिकल डिक्शनरी, पृ० ७९; देखिए—बी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ एंसियन्ट इंडिया, पृ० ८९।

सिन्धु[1]—इसका उल्लेख वृहत् संहिता तथा अष्टाध्यायी में भी हुआ है।[2] फाहियान के विवरण में इसे सिंतु कहा गया है।[3] यह हिमालय की ढाल से बहती हुई उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश से होकर पंजाब, सिन्ध तथा अंत में पश्चिमी हिंद महासागर में जाकर मिलती है।[4] प्राचीन ग्रीक विवरण के अनुसार सिन्धु की सात सहायक नदियाँ थीं, यथा—हाईड्रोट्स (रावी), अकेसिन (चेनाब), हाइयेसिस (विपासा-ब्रीज), हाइडास्पस (वितास्त-झेलम), कोफीन (काबुल), पेरेनास, सपेरवास और सियानो।[5] चन्द्र का मेहरौलीस्तम्भ लेख भी सिन्धु के सात मुहाने का वर्णन करता है।[6]

शिप्रा[7]—यह नदी मालवा के पठार से निकल कर उज्जयिनी होती हुई चम्बल मे गिरती है। इसका दूसरा नाम विशाला भी है।[8] कालिदास के अनुसार यह एक ऐतिहासिक नदी है जिसके तट पर उज्जयिनी नामक प्रसिद्ध नगर बसा था।[9] बी० सी० ला के अनुसार यह ग्वालियर राज्य की एक स्थानीय नदी है जो चम्बल (चर्मन्वती) में जाकर गिरती है।[10] स्कन्द पुराण में शिप्रा और साता नामक दो नदियों के संगम को सातासंगम कहा गया है जो तीर्थ यात्रियों के लिए एक महत्वपूर्ण स्थान था।[11] जैन ग्रन्थ आवश्यक चूर्णी में भी इसका उल्लेख मिलता है।[12]

ऋजुबालुका[13]—इस नदी की स्थिति का ठीक-ठीक पता नही चलता है। संभवतः यह विन्ध्यागिरि से निकलने वाली झरने की भाँति कोई छोटी नदी रही होगी।

१. सम० क० २, पृ० १४४।
२. वृहद् संहिता १४, १९; अष्टाध्यायी-४।३।३२-३३; ४।३।९४।
३. लेग (Legge)—फाहियान, पृ० २६।
४. बी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ एंसियन्ट इंडिया, पृ० १२७।
५. जे० सी० सिकदार—स्टडीज इन भगवती सूत्र, पृ० ५५१-५२।
६. चन्द्र का मेहरौली स्तम्भ—'तीर्त्वा सप्तमुखानि·······सिन्धोः' देखिए—डी० सी० सरकार-सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स, पृ० २७५।
७. सम० क० ४, पृ० ३१८-१९।
८. मेघदूत—पूर्वमेघ २७-२९।
९. रघुवंश—६।३५; मेघदूत-पूर्व मेघ २७, २९, ३१।
१०. बी० सी० ला—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ एंसियन्ट इंडिया, पृ० ३४७-४८।
११. स्कन्द पुराण, अध्याय ५६।
१२. आवश्यक चूर्णी, पृ० ५४४।
१३. सम० क० ६, पृ० ५४४; देखिए—जैन धर्म का मौलिक इतिहास, पृ० ३९७-३९९।

तृतीय–अध्याय

शासन-व्यवस्था

राजा

राजतंत्र का अस्तित्व वैदिक साहित्य में ही ज्ञात होता है। वैदिककाल में बहुत से परिवार (कुल) मिलकर एक विस (एक सामाजिक संगठन) और बहुत से विस मिलकर एक जन का निर्माण करते थे। कुल का अधिपति कुलपति कहा जाता था। इस प्रकार एक कुलपति अपने गुण, शौर्य और नेतृत्व की क्षमता के कारण विसपति[1] और विसपति से जनपति बन सकता था।[2] धीरे-धीरे कई जनपद मिलकर महाजनपद और फिर राज्य बने। राज्य का अधिपति राजा कहा जाने लगा। कौटिल्य ने प्रजापालन के लिए राजा का होना आवश्यक बताया है।[3]

प्राचीन काल में राज्य मुख्यतः दो प्रकार के थे, राजतंत्र और गणतंत्र। गुप्तकाल तक आते-आते प्रायः गणराज्य समाप्त हो चुके थे और राजतंत्र का ही प्रचार प्रसार एवं प्रभाव बढ़ता रहा। राजतंत्रात्मक शासन पद्धति में राजा ही सर्वेसर्वा होता था। वही राजतंत्र, सेना, प्रशासन और न्याय पालिका का प्रधान होता था।[4]

समराइच्चकहा में भी राजतंत्रात्मक शासन का उल्लेख है।[5] यद्यपि राजा स्वेच्छाचारी होते थे तथा उनका पद भी वंश परम्परागत होता था फिर भी वे प्रजा के हितैषी एवं शुभचिन्तक होते थे।[6] दुष्ट एवं अत्याचारी राजाओं की निंदा की जाती तथा उनके विरुद्ध विद्रोह भी होते थे।[7]

१. मैकक्रिंडिल-ऐंशियन्ट इंडिया पृ० ३८।
२. ए० एस० अल्तेकर—स्टेट एण्ड गवर्नमेंट इन ऐंशियन्ट इंडिया, पृ० ७९।
३. अर्थशास्त्र, १,१३, (तस्मात् स्वधर्मं भूतानां राजा नव्यभिचारयेत्)।
४. जी० सी० चौधरी-पोलिटिकल हिस्ट्री आफ नार्दर्न इंडिया फ्राम जैन सोर्सेज, पृ० ३३३।
५. सम० क० ४, पृ० २६२; ९, पृ० ८६०-६१, ९५४।
६. वही २, पृ० ११३, ११७; ४, पृ० ३४२, ३६१; ५, पृ० ४८५-८६; ७ पृ० ७०९; ८, पृ० ८४५।
७. वही ५, पृ० ४८२।

राजा के गुण

प्राचीन काल में राज्य के अन्दर शान्ति एवं व्यवस्था बनाए रखने के लिए तथा बाह्य आक्रमणों से रक्षा के लिए राजा की आवश्यकता मानी जाती थी। राजपद अत्यधिक गौरव, महत्त्व तथा जिम्मेदारियों से युक्त था। परिणामतः राजा साधारण व्यक्तियों से भिन्न होता था। समराइच्च कहा में आया है कि राजा को सुकृत (सत कर्म करने वाला) तथा धर्म-अधर्म की व्यवस्था रखने में संलग्न रहना चाहिए, साथ-साथ उसे प्रजा पालन, सामंत मण्डल को वश में रखने वाला, दीन-अनाथों का उपकार करने वाला तथा कीर्तिवान होना चाहिए।[1] इसी ग्रन्थ मे उल्लिखित है कि राजा को शरणागतवत्सल तथा धर्मार्थ साधनों मे रत होना चाहिए।[2] निशीथ भाष्य में बताया गया है कि राजा को सतकर्मों का पक्षपाती होना चाहिए न कि बुरे कर्मों का; साथ-साथ यदि वह धन संचय का प्रयत्न नही करता तो शीघ्र नष्ट हो जाता है।[3] व्यवहार भाष्य से पता चलता है कि राजा को प्रजा से दसवां भाग कर के रूप मे लेना चाहिए; लोकाचार, वेद और राजनीति में कुशल तथा धर्म मे श्रद्धावान होना चाहिए।[4]

आदि पुराण मे उल्लिखित है कि राजा को अपने आंतरिक शत्रुओं (काम, क्रोध, मद, मत्सर, लोभ, मोह आदि) को जीतकर बाह्य शत्रुओं को भी अपने आधीन करना चाहिए; धर्म, अर्थ और काम का सेवन करना चाहिए; राजसत्ता के मद मे न आकर विवेक द्वारा यथार्थ न्याय का पालन करना चाहिए; युवावस्था, रूप, ऐश्वर्य, कुल, जाति आदि गुणों को प्राप्त कर अहंकार नहीं करना चाहिए तथा अन्याय, अत्यधिक विषय सेवन एवं अज्ञान इन तीनों दुर्गुणों से बचना चाहिए।[5] सोमदेव ने यशस्तिलक मे राजा को सद्गुणों का अनुगामी बताते हुए कहा है कि प्रजा को भी राजा का ही अनुकरण करना चाहिए।[6]

अर्थशास्त्र मे राजा के गुणों का वर्णन करते हुए बताया गया है कि उसे अभिगामिक गुण (अक्षुद्र परिवारत्व, वश्य सामन्तता, शुचित्व, प्रिय वादिता, धार्मिकता तथा दूर दर्शिता आदि) प्रज्ञा गुण, उत्साह गुण तथा आत्मसंयत गुण (वाकचातुर्य, स्मरण शक्ति वाला, धीर, वीर, दूरदर्शी, कोष संवर्धन की क्षमता

१. सम० क० २, पृ० १८२; ८, पृ० ७३१-३२ ।
२. वही २, पृ० ८५२ ।
३. निशीथ भाष्य १५, ४७९९; देखिए—आदि० ४।१६३ ।
४. व्यवहार भाष्य १, पृ० १२८ अ ।
५. आदि० ४।१६४-६५-६६-६७-६८-६९ ।
६. यशस्तिलक ४।९५ ।

वाला गंभीर तथा उदार) आदि से युक्त होना चाहिए।[1] याज्ञवल्क्य स्मृति में भी राजा को उत्साही, स्थूल लक्ष्य, कृतज्ञ, वृद्धसेवी, विनययुक्त, कुलीन, सत्यवादी, पवित्र, अदीर्घसूत्री, स्मृतिवान, प्रियवादी, धार्मिक, अव्यसनी, पंडित, बहादुर, रहस्यवेत्ता, राज्य प्रबन्धक, आत्म विद्या और राजनीति में प्रवीण बताया गया है।[2]

इन सब अन्य साक्ष्यों में राजा के गुणों का वर्णन किया गया है जिनमें समराइच्च कहा में प्राप्त सामग्रियों की पुष्टि होती है। समराइच्च कहा तथा अन्य साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि राजा सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों में सर्व गुण सम्पन्न होता था तथा वह सदैव प्रजा-हित का ध्यान रखता था। वह अपने सुख की कामना न करके प्रजा के कल्याण (दीन, अनाथ आदि की सहायता तथा रक्षा) तथा राज्य हित की कामना करता था। किन्तु जो राजा इन सभी गुणों के विरुद्ध आचरण करके स्वेच्छाचारी हो जाते थे, उनके विरुद्ध सर्वत्र विद्रोह होते थे तथा उनकी भर्त्सना होती थी। फलतः उनका राज्य शीघ्र ही नष्ट हो जाता था।

राजा-महत्त्व

प्राचीन काल में राजाओं का अत्यधिक महत्त्व था। समराइच्च कहा में उसे नरपति[3] कहा गया है। कन्नौज के राजा जयचन्द के अभिलेख (संवत् १२२५) में भी राजा के लिए 'नरपति' शब्द का उल्लेख किया गया है।[4] वे मान और विक्रम के धनी होते थे।[5] राजा-महाराजा अंतःपुर, अमात्य, महासामन्त, सामन्त और नगरवासियों से घिरे रहते थे,[6] तथा उनके द्वारा सम्मानित होते थे। उनकी सेवा के लिए प्रतिहारी[7] तथा सुरक्षा के लिए अंगरक्षक[8] नियुक्त

१. अर्थशास्त्र ६. १।
२. याज्ञवल्क्य स्मृति, राजधर्म प्रकरण, श्लोक ३०९-३१०।
३. सम० क० ४, पृ० ३४५, ३५८; ५, पृ० ४४१, ४३४; ७, पृ० ६४७, ६६०, ६९३।
४. इंडि० एंटी० १५, पृ० ६।
५. सम० क० ७, पृ० ६०५।
६. वही ६, पृ० ५६४।
७. वही ५, पृ० ४८१, ४८२; ७, ६९१, ६९५, ७०५; देखिए—वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्ष चरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ४४।
८. वही ५, पृ० ३६७; ८, ७७५; ९, ९०६।

रहते थे। राजाज्ञा का पालन सर्वत्र होता था।[१] राजा धर्मार्थ तथा काम आदि त्रिवर्ग संपादन में रत रहते हुए[२] प्रजा के हित का भी संपादन करता था।[३]

आदि पुराण से पता चलता है कि राजा को न्यायपूर्वक आजीविका चलाने वाले शिष्ट पुरुषों का पालन और अपराध करने वाले दुष्ट पुरुषों का निग्रह करना चाहिए।[४] प्रजाहित के लिए उसे अधिक से अधिक काम करना अभिहित है।[५] समराइच्च कहा में उल्लिखित राजा के पद की गरिमा तथा महत्व उसकी कार्यक्षमता पर आधारित है। राजा का पद अत्यधिक जिम्मेदारियों से परिपूर्ण होता था और जो राजा इस जिम्मेदारी का पालन अपने परिश्रम, कार्य-कुशलता आदि के अनुसार करता था उसका सर्वत्र सम्मान तथा महत्व था। प्रजा सम्मान के साथ उसकी आज्ञा का पालन करती थी। ऐसे नृपति का सम्मान सामन्त, महासामन्त, मंत्री, पुरोहित, नगरवासी तथा सम्पूर्ण अन्य अधिकारी भी करते थे। इन्हीं सब कारणों से राजा को अन्य व्यक्तियों से भिन्न बताकर उसे श्रेष्ठ तथा महत्वपूर्ण व्यक्ति समझा जाता था।

युवराज

प्रशासन को सुव्यवस्थित ढंग से चलाने के लिए राज्य में युवराज, मंत्री, पुरोहित, सेनाध्यक्ष आदि का होना आवश्यक समझा जाता था।

अभिषेक होने के पूर्व की अवस्था को यौवराज कहा गया है।[६] युवराज पद राजकुमार अथवा राजघराने के विश्वसनीय व्यक्ति को ही सौंपा जाता था।[७] वह प्रान्तीय प्रशासन का कार्यभार वहन करता था।[८] युवराज को ही बाद में अभिषिक्त करके राज्य की सत्ता भी सौंप दी जाती थी।[९]

---

१. सम० क० ४, पृ० २६२; ५, ३०४; ६, ५२४, ५६५; ९, पृ० ८६०-६१, ९५४।

२. वही १, पृ० १५; २, पृ० ७६; ९, ८८१।

३. वही २, पृ० ११३, ११७; ४, ३४२, ३६१; ५, ४८५-८६; ७, ७०९; ८, ८८५।

४. आदिपुराण ४२।२०२।

५. वही ४२।१३७-१९८।

६. निशीथ चूर्णी ११, ३३६३ की चूर्णी (दोच्चं युवरायाणांणाभिसिंचति ताव युवरज्जं भण्णति)।

७. सम० क० २, पृ० १४७; ५, पृ० ४८१, ४८५; ६, ५६९; ७, ६०७, ६२९, ६९५।

८. वही ६, पृ० ५६९।

९. वही ५, पृ० ४८५।

मौर्य सम्राट अशोक ने राजकुमार कुणाल और बाद में कुमार सम्प्रति को युवराज के रूप मे उज्जयिनी का शासन प्रबन्ध सौंपा था जिसे कुमारा भुक्ति कहा गया है ।[1] व्यवहार भाष्य मे पता चलता है कि कुछ राजा अपने जीवन काल में ही अपने पुत्र को युवराज पद देते थे जिससे राज्य गृहयुद्ध की विभीषिका से बच जाता था, जिन्हें हम सापेक्ष राजा कह सकते हैं, किन्तु कुछ राजा ऐसे भी थे जिनकी मृत्यु के पश्चात् ही उसके पुत्र को राजा बनाया जाता था, जिन्हें हम निरपेक्ष राजा कह सकते है ।[2]

कभी कभी एक से अधिक राजपुत्रों के होने पर राजा द्वारा उनकी परीक्षा ली जाती थी और जो परीक्षा मे सफल होता उसे युवराज बना दिया जाता था ।[3] किन्तु समराइच्च कहा मे ऐसे उल्लेख नही मिलते । यहाँ राजकुमार को विविध कलाओं और विद्याओं से युक्त बनाया गया है ।[4] राजकुमार के लिए लेख, गणित, आलेख्य, नाट्य, गीत, वाद्य, स्वरगत, पुष्करगत, समताल, द्यूत, जनवाद होरा, काव्य, दकमात्तिकम (भूमि उपज संबंधी विषय), अट्ठावय (अर्थ संबंधी-ज्ञान), अन्नविधि, पान विधि, शयन विधि, आर्या, प्रहेलिका, मागधिका गाथा, गीति, श्लोक, मधुसिक्थ, गंधयुक्ति, आभरण विधि, तरुण प्रीति कर्म, स्त्री लक्षण, पुरुष लक्षण, हय लक्षण, गज लक्षण, गो लक्षण, मेष लक्षण, मणि लक्षण, चक्र लक्षण, छत्र लक्षण, दण्ड लक्षण असि लक्षण, काकिनी लक्षण (सिक्को की जानकारी), चर्म लक्षण, चन्द्र चरित, सूर्य चरित, राहु चरित, ग्रह चरित, सुचाकार (आकार मात्र से रहस्य जानने की कला), विद्यागत, मंत्रगत, रहस्यगत, संभव (सभवन प्रसूति विज्ञान), चार (तेज गमन करने की कला), प्रतिचार (उपचार); व्यूह, प्रतिव्यूह, स्कन्धावारमान (शिविर ज्ञान), नगरमान, वास्तुमान (वास्तु कला), स्कन्धावारनिवेशम (छावनियों का रचनात्मक ज्ञान), नगरनिवेशम, वास्तु निवेश, इष्वस्त्र (बाणविद्या) तत्त्वप्रवाद (तत्त्व ज्ञान), अश्वशिक्षा, हस्ति शिक्षा, मणि शिक्षा, धनुर्वेद, हिरण्यवाद, सुवर्णवाद, मणिवाद, धातुवाद, बाहु युद्ध, दण्ड युद्ध, मुष्टि युद्ध, अस्थि युद्ध, युद्ध, नियुद्ध (कुश्ती लड़ने की कला), युद्ध-नियुक्त (घमासान युद्ध की कला), सूत्र क्रीड़ा, वस्त्र क्रीड़ा, वाद्य क्रीड़ा, नलिका क्रीड़ा, पत्रच्छेद्य, कटकछेद्य (सैन्य भेदक), पतरच्छेद्य, सजीव, निर्जीव, शकुनरुत

---

१. निशीथ चूर्णी २, पृ० २६१-६२ ।

२. व्यवहार भाष्य २,२७ ।

३. वही ४.२०९; ४.२६७ ।

४. सम० क० १, पृ० ८६३ (सयल सत्थकला संपत्ति सुंदरं पत्तो कुमारभाव) ।

आदि कला और विद्या का उल्लेख है।[1] इन कलाओं का विशेष विवरण अध्याय पांच मे दिया गया है। कलिंगराज खारवेल के अभिलेख में युवराज के योग्य लेख—रूप गणना—व्यवहार विधि आदि सम्पूर्ण विद्याओं को प्राप्त होने के बाद खारवेलको युवराज बनाये जाने का उल्लेख है।[2]

सम्पूर्ण कलाओं और विद्याओं से युक्त राजकुमार को युवराज और तत्पश्चात (राजा की इच्छा पर) अभिषेक संस्कार के पश्चात् सम्पूर्ण राजसत्ता सौंप दी जाती थी। यद्यपि बड़ा राजपुत्र राजसत्ता का अधिकारी होता था फिर भी खुशी एवं महत्त्व के अवसर पर राजा द्वारा अन्य राज पुत्रों को पारितोषिक स्वरूप ग्राम, आकर, मडम्ब आदि वितरित किये जाते थे।[3] सम्भवतः अन्य राजपुत्रों को संतुष्ट करने के लिए ऐसा किया जाता था जिससे राज्य में विद्रोह आदि की सम्भावना न रह जाय।

उत्तराधिकारी और राज्याभिषेक

प्राचीनकाल में अधिकतर राजपद वंश परम्परा से ही प्राप्त होता था। राजा-महाराजा अपने जीवन के अन्तिम आश्रम में राज पद अपने अपने बड़े पुत्र को सौंप देते थे। समराइच्च कहा में राजा प्रव्रज्या ग्रहण कर श्रमण धर्म का पालन करने के उद्देश्य से अपने बड़े पुत्र को अभिषिक्त कर राज सत्ता सौंप देते थे।[4] जहाँ बड़े पुत्र को अभिषिक्त कर राजसत्ता सौंप दी जाती थी वहीं छोटे पुत्र को युवराज बना दिया जाता था।[5] वैदिक काल में भी ज्येष्ठ पुत्रों एवं पुत्रियों के अधिकारों की रक्षा की जाती थी।[6] रामायण[7] तथा महाभारत[8] में भी ज्येष्ठ

१. सम० क० ८, पृ० ७३४-३५; देखिए—अग्नि पुराण राजधर्म, पृ० ४०६ (धर्मार्थकामशास्त्राणि धनुर्वेदं च शिक्षयेत् ॥ शिल्पानि शिक्षयेच्चैन नाप्तैर्मिथ्या प्रियं वदेत् ॥); मनु० ७, ४३ में वेद तत्त्ववान आदि की शिक्षा की बात कही गई है।

२. डॉ० सी० सरकार—सेलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स, पृ० २०७—"ततो लेख रूप-गणना-ववहार-विधि विसारदेन सर्व विजावदातेन नव वसानि योवराज पसासितं" खारवेल अभिलेख।

३. सम० क० ८, पृ० ७७३।

४. वही १, पृ० ३१; ८, पृ० ८०५, ८३७; ९, पृ० ९७८; देखिए निशीथ चूर्णी ३, पृ० ८८।

५. वही २, पृ० १४७; ७, पृ० ६०७; ८, पृ० ७७३।

६. पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग २, पृ० ५९५।

७. रामायण २।३।४०, २।११०।३६।

८. महाभारत—सभा पर्व ६८।८।

पुत्र को ही राजपद का भागी बताया गया है। कौटिल्य ने लिखा है कि आपत्ति-काल को छोड़कर ज्येष्ठ पुत्र को ही राजा बनाना श्रेयष्कर है।[1] मनु ने भी लिखा है कि ज्येष्ठ पुत्र अपने पिता से सब कुछ प्राप्त करता है।[2] हर्षचरित में भी उल्लिखित है कि प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के पश्चात् बड़े पुत्र राज्यवर्धन का राज्याभिषेक हुआ था।[3]

समराइच्च कहा में उल्लिखित है कि राजसत्ता प्राप्त करने के पूर्व घोषणा कराई जाती थी और महादान, पूजा आदि के द्वारा अपूर्व उत्साह मनाया जाता था। दूसरे दिन एक बहुत बड़े समारोह में राजा, सामंत, मंत्री, पुरोहित तथा अन्य नागरिकों के मध्य राजा द्वारा विभिन्न नदियों, समुद्रों एवं तीर्थों आदि से लाये गये सुगंधित जल से अभिसिक्त किया जाता था तथा सामंत, मंत्री, पुरोहित आदि आशीर्वाद देते थे। तत्पश्चात् उसे सिंह चर्म पर बैठाया जाता था और राजतिलक लगा कर संप्रभुता का प्रतीक छत्र और सिंहासन प्रदान किया जाता था।[4] राज्याभिषेक के लिए आवश्यक मांगलिक सामग्रियों में दो मछलियाँ, सुगंधित जल से भरा हुआ कनक कलश, श्वेत पुष्प, महापद्म, अच्छत, पृथ्वी-पिण्ड, वृषभ, दधिपूर्ण पात्र, महारत्न, गोरोचन, सिंह चर्म, श्वेत छत्र, भद्रासन, चामर, दूर्वा, स्वच्छ मदिरा, गज मद, धान्य और दुकूल आदि का उल्लेख है।[5]

वैदिक काल में भी राज्याभिषेक के समय होने वाले राजा को सिंह चर्म पर बैठाकर पवित्र नदियों तथा समुद्रों से लाये हुए जल से स्नान कराया जाता था। वैदिक मंत्रों के साथ पुजारी यह संस्कार सम्पन्न करता तथा राजा को शक्ति आदि प्रदान करने वाले देवों की उपासना कराता था। तत्पश्चात् पवित्र धर्म ग्रन्थों की शपथ दिलाई जाती थी।[6] महाभारत में भी राज्याभिषेक के समय धर्म के अनुसार प्रशासन के लिए शपथ ग्रहण करने का उल्लेख है।[7] किन्तु समराइच्च कहा में धर्मग्रन्थों की शपथ का उल्लेख नहीं है।

१. अर्थशास्त्र १।१७।
२. मनु० ९।१०९।
३. हर्षचरित, पृ० २००।
४. सम० क० ७, पृ० ७२६; देखिए—निशीथ चूर्णी २, पृ० ४२०; ६, पृ० १०१।
५. वही २, पृ० १५२; ५, पृ० ४८३-८४।
६. ए० एस० अल्तेकर—स्टेट एण्ड गवर्नमेंट इन ऐंसियन्ट इंडिया, पृ० ७८।
७. महाभारत, १२।५९।१०६-०७ "प्रतिज्ञा चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा। पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत्।

रामायण में भी राम के अभिषेक के समय जामवंत, हनुमान और अन्य दो व्यक्तियों द्वारा चार कलशों में समुद्र का जल ले आने का उल्लेख है। समुद्र के साथ-साथ पाँच सौ नदियों का जल लाया गया। कुल पुरोहित एवं वृद्ध मुनि वशिष्ठ ने राम और सीता को रत्न जटित सिंहासन पर बैठाया। सबसे पहले वशिष्ठ एवं अन्य मुनियों ने राम पर पवित्र एवं सुगंधित जल छिड़का। तत्पश्चात् कुमारियों, मंत्रियों, सिपाहियों एवं वणिक—निगमों ने भी जल छिड़का। वशिष्ठ ने राम के सिर पर अति प्राचीन मुकुट बाँधा।[1]

बाण ने लिखा है कि शुभ मुहूर्त में कुल पुरोहित से अभिषेक सम्बन्धी सभी मंगल कार्य कराये गये और राजा ने स्वयं अपने हाथों मांगलिक जल से परिपूर्ण कलश के मंत्रपूत जल की धार छोड़ते हुए आनन्दपूर्वक चन्द्रापीड़ का राज्याभिषेक किया। उस अवसर पर सभी नदियों, तीर्थों आदि से जल लाया गया। साथ-साथ वैदिक प्रथा के अनुसार सब प्रकार की औषधियाँ, फल, सभी स्थानों की मिट्टी (समराइच्च कहा में इसे पृथ्वी पिण्ड कहा गया है) तथा रत्न आदि एकत्रित किये गये थे।[2]

अभिषेक संस्कार का उल्लेख अन्य ब्राह्मण[3] तथा जैन ग्रन्थों[4] में भी मिलता है।

सामंत

कुछ विचारकों के अनुसार राजनीतिक एवं प्रशासनिक प्रवृत्तियों के कारण राज्य व्यवस्था का सामंतवादी ढाँचा मौर्योत्तर काल और विशेषकर गुप्त काल में प्रारम्भ हुआ।[5] छठवीं शताब्दी में विजित जागीरदारों को सामन्त के रूप में व्यवहृत किया जाने लगा।[6] कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी इन पड़ोसी जागीरदारों की

१. देखिए—रामायण—युद्ध काण्ड।
२. वासुदेवशरण अग्रवाल—कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १२३।
३. महाभारत—शांति पर्व ४०।९, १३; विष्णु धर्मोत्तर २।१८।२-८; अग्निपुराण-अध्याय २१८; हर्षचरित, पृ० १०३।
४. जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति ३।६८; आवश्यक चूर्णी, पृ० २०५; निशीथ चूर्णी, २, पृ० ४६२-६३; ३, पृ० १०१; उत्तराध्ययन टीका, ८, पृ० २४०; ज्ञातृ धर्म कथा, १, पृ० २८; आदि पुराण ११।३९-४५; १६।१९६-२१५; १६। २२५-२३३; २३।६०।
५. आर० एस० शर्मा—भारतीय सामंतवाद, पृ० ७।
६. वही पृ० २४-२५।

स्वतंत्र सत्ता का प्रमाण मिलता है।[1] मौर्यकाल के पश्चात् इसका प्रयोग पड़ोसी भूमि के औचित्य के लिए किया जाने लगा[2] न कि जागीरदार के रूप में।[3]

पाँचवीं शताब्दी में सामंत शब्द का प्रयोग दक्षिण भारत में भूस्वामी के अर्थ में किया जाने लगा; क्योंकि शांतिवर्मन (ई० सन् ४५५-७०) के पल्लव अभिलेख में सामंत चूड़ामणयः का उल्लेख प्राप्त होता है।[4] उसी शताब्दी के अन्तिम काल में दक्षिणी और पश्चिमी भारत के दानपत्रों में सामंत का उल्लेख जागीरदार (भूस्वामी) के अर्थ में प्राप्त होता है।[5] उत्तर भारत में सर्वप्रथम इसका प्रयोग उसी अर्थ में बंगाल अभिलेख और मौखरी शासक अनन्तवर्मन के बराबर पहाड़ी गुफा अभिलेख में उल्लिखित है, जिसमें उसके पिता को सामन्त चूड़ामणिः (भूस्वामियों में सर्वश्रेष्ठ) कहा गया है।[6] दूसरे यशोधरवर्मन (ई० सन् ५२५-५३५) के मंदसौर स्तम्भ लेख में भी सामंत का उल्लेख पाया जाता है, जिसमें वह समस्त उत्तर भारत के सामंतों को अपने आधीन करने का दावा करता है।[7]

समराइच्च कहा में सामंतवादी प्रथा का भी उल्लेख प्राप्त होता है। सामंत[8] लोग राजा-महाराजाओं के आधीन शासन करते थे। वे कर दाता नृपति के रूप में जाने जाते थे तथा राजा महाराजाओं का सम्मान करते थे।[9] सामंतों के पास अपनी निजी सेना एवं दुर्ग रहता था।[10] फिर भी वे स्वतंत्र शासक की आज्ञा के विरुद्ध कार्य नहीं करते थे। वाकाटकों के सामंत नारायण महाराज और शत्रुघ्न

१. अर्थशास्त्र १, ६।
२. मनु० ८. २८६-९; याज्ञ० २. १५२-३।
३. वी० एन० दत्ता–हिन्दू ला आफ इनहेरिटेन्स, पृ० २७।
४. राजबली पाण्डेय–हिस्टारिकल एण्ड लिटरेरी इन्सक्रिप्सन्स, न० २९, १-३।
५. लल्लन जी गोपाल—'सामंत—इट्स वैरिंग सिगनीफिकेंस इन एंसियन्ट इंडिया'–जर्नल आफ दी रायल एसियाटिक सोसायटी अप्रैल १९६३ में।
६. कार्पस इन्सक्रिप्सनम् इंडिकेरम, ३, नं० ४९, १-४।
७. सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स, पृ० ३९४, पंक्ति ५।
८. सम० क० २, पृ० १४७; ५, पृ० ३६५, ३८३, ४८१-८२, ४८५, ४८७; ७, पृ० ६३३, ६३५, ६९४; ८, ८४१; ९, ९३६, ९६१-६२, ९६४, ९७३, ९७६, ९७८।
९. वही ७, पृ० ७२६।
१०. वही २, पृ० १४७-४८।

महाराज, वैन्यगुप्त के सामंत रुद्रट, और कदम्बों के सामंत भानुशक्ति को अपने ही राज्य के कुछ ग्रामों की मालगुजारी दान करते समय अपने सम्राटों की अनुमति लेनी पड़ती थी।[१] राष्ट्रकूट शासक गोविन्द तृतीय का सामंत बुधवर्ष ने भी एक ग्राम दान करने के लिए अपने सम्राट से आज्ञा माँगी थी।[२] राष्ट्रकूट नृपति ध्रुव के सामंत शंकरगण ने भी ग्राम दान की आज्ञा माँगी थी।[३] इसी प्रकार परमार नरेश जयवर्मा के आदेश से उसके सामंत गंगदेव ने भूमि दान किया था।[४]

सामंत नृपति युद्ध-काल में शत्रु पर विजय पाने की लालसा से अपने सम्राटों को सैन्यबल की सहायता भी करते थे।[५] अन्य साक्ष्यों से भी पता चलता है कि सामंत लोग अपने सम्राटों को सैनिक मदद करते थे।[६] दक्षिण कर्नाटक का नरसिंह चालुक्य (९१५ ई०) अपने सम्राट की ओर से प्रतिहार सम्राट महीपाल के विरुद्ध युक्तप्रांत में जाकर लड़ा था।[७]

कभी-कभी सामंत-नृपति स्वतंत्र शासक बनने के लिए अपने स्वामी सम्राट के विरुद्ध विद्रोह भी कर देते थे जिसका दमन करने के लिए स्वामी-नृपति सैन्य शक्ति का सहारा लेते थे।[८] विद्रोही सामंतों को पराजित हो जाने पर बड़ी अपमानजनक यातनाएँ सहन करनी पड़ती थीं।[९] कभी-कभी उनसे विजेता के अश्वशाला, हस्तिशाला आदि में दंड स्वरूप झाड़ू दिलवाई जाती थी।[१०]

केन्द्रीय सत्ता कमजोर पड़ने पर सामंत-नृपति स्वतंत्र भी हो जाते थे। यथा गुर्जर प्रतिहार साम्राज्य की अवनति पर उसके अनेक सामंतों ने 'महाराजाधिराज परमेश्वर' आदि उपाधियाँ धारण कर ली थीं।[११]

---

१. इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली ६, पृ० ५३; इंडियन एंटीक्वेरी ६, पृ० ३१-३२।
२. इंडि० एंटीक्वेरी १२, पृ० १५।
३. इपि० इंडि० ९, पृ० १९५।
४. वही ९, पृ० १२०-३।
५. वही १२, पृ० १०१।
६. अल्तेकर—राष्ट्रकूटों का इतिहास, पृ० २६५।
७. सम० क० १, पृ० २७; २, १४७, १५३-५४; ८, पृ० ७३१-७२।
८. कुमारपाल प्रबंध, पृ० ४२।
९. इपि० इंडि० १८, पृ० २४८।
१०. वही १, पृ० १९३; ३, पृ० २६१-७।

समराइच्च कहा में महासामंतों का भी उल्लेख है जो स्वतंत्र सम्राटों के समान ही वैभव वाले अनेक सामंतों के अधिपति तथा सम्राट के अत्यन्त विश्वसनीय व्यक्ति होते थे।[1] महासामंतों के स्वतंत्र राजाओं से वैवाहिक सम्बन्ध भी होते थे।[2] उनके अधिकार में उनकी निजी सेना, दुर्ग तथा कोष आदि होते थे।[3] अतः वह स्वतंत्र सम्राट का निकटस्थ, विश्वसनीय और लगभग उन्हीं की तरह सम्पन्न समझा जाता था। हर्ष के दरबार में अनेक महासामंत और राजा उपस्थित थे, इनकी तीन श्रेणियाँ थीं—एक शत्रु महासामंत जो जीत लिये गये थे। दूसरी श्रेणी में वे राजा आते थे जो सम्राट के प्रताप से अनुगत होकर वहाँ आये थे। तीसरी श्रेणी के वे नृपति थे जो सम्राट के अनुरागवश आकृष्ट हुए थे।[4] अपराजितपृच्छा ग्रंथ के अनुसार लघु सामंत की आय ५ सहस्र, सामंत की दस सहस्र, महासामंत अथवा सामंत मुख्य की आय बीस सहस्रकर्षापण होनी चाहिए।[5] अपराजितपृच्छा में यह भी उल्लिखित है कि महाराजाधिराज परमेश्वर की उपाधि धारण करने वाले सम्राट के दरबार में चार मण्डलेश, बारह माण्डलिक, सोलह महासामंत, बत्तीस सामंत, एक सौ साठ लघु सामंत तथा चार सौ चतुरांशिक (चौरासी) उपाधिधारी होने चाहिए।[6] इन सभी उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि समराइच्च कहा में उल्लिखित सामन्त, महासामन्त सम्राटों के अधीन कर दाता नृपति के रूप में शासन करते थे, जिनमे महासामन्त का पद सामन्तों से ऊँचा होता था।

कुलपुत्रक

तत्कालीन शासन पद्धति के अन्तर्गत राजा-महाराजाओं के आधीन सामंतों की तरह कुलपुत्रक[7] भी होते थे। ये लोग भी राजाओं को युद्ध के अवसरों पर सैनिक सहायता देते थे।[8] कुलपुत्रकों का राजाओं, महाराजाओं के यहाँ बड़ा ही सम्मान होता था। ये 'कुलपुत्रक' दान में व्यसनी, अभिमान धनी, दयालु, शूर

१ सम० क० २, पृ० ७९, से ८३; ५, ४७२।
२. वही २, पृ० ७९ से ८३।
३ वही २, पृ० ७९ से ८३।
४. अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ४३।
५. अपराजितपृच्छा ८२, ७-१०, पृ० २०३।
६ वही ७८, ३२-३४, पृ० १९६।
७ सम० क० १, पृ० -२९; २, १५३; ३, १७२; ५, ३८७-८८, ३८९-९०-९१; ६, ५६५; ७, ६६९, ८, ७७३।
८. वही ७, पृ० ६६९।

तथा शरणागत रक्षक होते थे।[१] अपने गुण तथा पराक्रम के कारण ये लोग काफी सम्मानित समझे जाते थे। हर्ष चरित में भी एक स्थान पर उल्लिखित है कि अभिजात राजपुत्रों के द्वारा भेजे गये पीतल-जटित (कुप्य-युक्त) वाहनों में कुलीन कुलपुत्रों की स्त्रियां जा रही थीं।[२] दक्षिण के वाकाटक लेखों में राज संदेश वाहकों को कुलपुत्र (कुलीन, उच्च कुल का) कहा गया है।[3] पल्लव लेखों में इन्हें महाप्रधान (मन्त्री) का संदेशवाहक बनाया गया है।[४] आसाम से प्राप्त एक लेख में इस श्रेणी का एक अधिकारी बड़े गर्व से कहता है कि मैं सैकड़ों राजाओं का वहन कर चुका हूँ।[५]

समराइच्च कहा तथा अन्य साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि ये कुलपुत्रक राज परिवार से संबंधित उच्च कुल के होते थे जो अपने मान-सम्मान के धनी तथा पराक्रमी होते थे। इनका कार्य युद्ध काल में सैनिक सहायता के साथ-साथ संदेश पहुँचाना भी था।

मंत्रि और मंत्रिपरिषद्

कौटिल्य ने राज्य के सात अंग-स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र गिनाया है।[६] मानसोल्लास में भी स्वामी, अमात्य, सुहृद, कोष, राष्ट्र, दुर्ग एवं बल को सप्तांग बताया गया है।[७] प्रशासनिक कार्यों में राजा की मदद के लिए मंत्रिपरिषद् का गठन किया जाता था जिसमें एक से अधिक मंत्री होते थे।[८] राजा प्रत्येक कार्य करने के पूर्व अपने मंत्रियों से सलाह लेता था।[९] महाभारत में एक स्थान पर बताया गया है कि राजा उसी प्रकार मंत्रियों पर निर्भर रहता है जैसे जीव जन्तु बादलों पर, ब्राह्मण वेदों पर और स्त्रियाँ अपने पति पर।[१०] मनु के अनुसार भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न कार्यों के विशेषज्ञ होते हैं

१. सम० क० ५, पृ० ३८७।
२. अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १४५।
३. इपिग्रैफिया इंडि० २२, पृ० १६७।
४. इंडि० एंटी० ५, पृ० १५५।
५. इपि० इंडि० ११, पृ० १०६।
६. अर्थशास्त्र ६,१।
७. मानसोल्लास अनुक्रमणिका, श्लोक २०।
८. सम० क० २, पृ० १५०-५१।
९. सम० क० २, पृ० १५१।
१०. महाभारत—उद्योगपर्व ३७-३८।

तो अकेले राजा हर काम को दक्षतापूर्वक नहीं कर सकता। परिणामतः उसे राज्य तथा स्वयं को बर्बादी से बचाने के लिए मंत्रियों का सहयोग लेना चाहिए।[१]

मंत्री गण भी राजा के प्रति स्वामिभक्ति की भावना से काम करते थे।[२] वे नीति और बुद्धि में कुशल होते।[३] परामर्श तथा अन्य प्रकार के प्रशासनिक कार्यों में सहयोग के साथ-साथ न्याय कार्य भी देखते थे।[४] कौटिल्य के अनुसार मंत्री को स्वदेशी, उच्च कुल का, कला में परिपक्व, दूरदर्शी, बुद्धिमान, तेज यादवास्त वाला, धीर, चतुर, उत्साही, सच्चरित्र, शक्तिशाली, बहादुर और अच्छे स्वास्थ्य वाला, स्वतंत्र विचार का तथा घृणा तथा शत्रु भाव रहित होना चाहिए।[५] अन्य ब्राह्मण[६] तथा जैन[७] ग्रन्थों में भी मंत्रियों को साम, दाम, दण्ड और भेद नीति में कुशल, नीतिशास्त्र में पण्डित, गवेषण आदि में चतुर, कुलीन, श्रुति-सम्पन्न पवित्र, अनुरागी, धीर, वीर, निरोग, प्रगल्भ वाग्मी, प्राज्ञ, राग-द्वेष रहित, सत्य सन्ध, महात्मा, दृढ़ चित्त वाला, निरामय, प्रजा प्रिय आदि गुणों से युक्त होना आवश्यक बताया गया है। यद्यपि राज्य के सभी कार्यों के प्रति अंतिम जिम्मेदारी राजा की होती थी फिर भी वह मंत्रियों की सलाह मानता था।[८] मंत्रियों का यह सर्व-श्रेष्ठ कर्तव्य था कि राजा को सही मार्ग दिखा कर गलत कार्यों से बचाये।[९] कथा सरित्सागर में उल्लिखित है कि मंत्री को राजा के प्रति स्वामिभक्त तथा जनता का शुभेच्छु होना चाहिए।[१०] राजा भी मंत्रियों का सम्मान

१. मनु० ७।५५ विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदयम्।
२. सम० क० १, पृ० ४०; ४, ३३५।
३. वही २, पृ० १५१।
४. वही ४, पृ० २५७-५८-५९, २६२।
५. अर्थशास्त्र १,९; देखिए—महाभारत १२ वां पर्व, अध्याय-८३, कामंदक नीतिसार, ४-२५-३१।
६. महाभारत १२, अध्याय ८३; कामन्दक नीतिसार ४।२५-३१।
७. व्यवहार भाष्य, १, पृ० १३१-अ; ज्ञातृ धर्म कथा १, पृ० ३; आदिपुराण, ५।७; मानसोल्लास २।२।५२-५९।
८. अर्थशास्त्र १,१५; देखिए—बृहत्कल्पभाष्य १, पृ० ११३।
९. वही १,१५; देखिए—कामंदक०; IV ४१४।
१०. कथासरित्सागर १७।४६।

करता था।[१] वह मंत्रियों को अपना हृदय समझता था।[२] राज्यों में धर्म एवं अर्थ की समृद्धि आदि मंत्रियों की कार्य पटुता पर निर्भर रहती थी।[3] मौखरी प्रशासन में मंत्रिपरिषद् को प्रशासनिक अधिकार प्राप्त था; क्योंकि जब अंतिम राजा संतान रहित मर गया तो मंत्रिपरिषद् ने ही मौखरी प्रशासन हर्षवर्धन को सौंपा था।[४] अतः समराइच्च कहा के उल्लेखानुसार यह स्पष्ट होता है कि मंत्री राजा की ही भाँति सर्वगुण सम्पन्न होते थे तथा राजा-राज्य तथा जनहित की भावना से कार्य करते थे। मंत्रिपरिषद् को ही प्राचीन प्रशासनिक गाड़ी की धुरी समझना चाहिए।

समराइच्च कहा में यद्यपि परिषद् में मंत्रियों की कोई निश्चित संख्या नहीं दी गयी है फिर भी राजदरबार में एक महामंत्री[५] तथा अन्य साधारण मंत्री होने[६] थे। महाभारत में मंत्रियों की संख्या आठ बतायी गयी है।[७] मनु के अनुसार मंत्रिपरिषद् में मंत्रियों की संख्या सात या आठ होनी चाहिए।[८] मनु[९] और कौटिल्य[१०] इस बात पर सहमत हैं कि राज्य की आवश्यकतानुसार मंत्रियों की संख्या निश्चित की जानी चाहिए। यशस्तिलक में राजा को एक ही मंत्री पर पूर्ण रूप से निर्भर न होने की बात कही गयी है जिससे स्पष्ट होता है कि मंत्रियों की संख्या अवश्य ही अधिक रही होगी।[११]

---

१. इपि० इंडि० ९, पृ० २५४-परवल नृपतेः मूर्ध्नि वन्द्यः प्रधानः; देखिए— इंडि० एंटीक्वेरी १८, पृ० ७-यो जिह्वा पृथ्वीशस्य योराज्ञो दक्षिणः करः।

२. जर्नल आफ दी बाम्बे ब्रांच आफ रायल एशियाटिक सोसायटी १५, पृ० ५।

३. इंडियन एंटीक्वेरी ७, पृ० ४१।

४. वाटर्स आन युवान च्वांग १, पृ० ३४३।

५. सम० क० २, पृ० १४५; ३, २९५।

६. वही १, पृ० २१, ६८; ४, २५७-५८-५९, २७२, २८३, २९५; ६, ५९८; ६३०-३१, ६९२, ६९४, ७०७; ८, ८३२, ८४४।

७. महाभारत १२, ८५, अष्टानां मंत्रिणां मध्ये मंत्र राजोपधारयेत्।

८. मनु ७।५४—सचिवान् सप्त चाष्टौ वा कुर्वीत सुपरीक्षितान्—; देखिए— मानसोल्लास २।२।५७।

९. मनु० ७।६१।

१०. अर्थशास्त्र १, १५ 'यथा सामर्थ्यमिति कौटिल्यः।

११. के० के० हैंडीकी—यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, पृ० १०१।

समराइच्च कहा में मंत्री[1], महामंत्री[2], अमात्य[3], प्रधान अमात्य[4] और सचिव[5] तथा प्रधान सचिव[6] का उल्लेख है। रामायण में कहीं मंत्री को सचिव बताया गया है[7] तथा कहीं इन दोनों में भेद बतलाया गया है।[8] पश्चिमी भारत के शक प्रशासकों ने मति सचिव (मंत्री) तथा कर्म सचिव (विभागीय मंत्री) की सहायता से प्रशासन कार्य किया था।[9] अर्थशास्त्र में सभी मंत्रियों को संयुक्त रूप से अमात्य कहा गया है।[10] किन्तु एक अन्य स्थान पर कौटिल्य ने मंत्रियों का निर्वाचन अमात्यों के बीच में से करने का संकेत किया[11] है, जो कि मंत्री और अमात्यों के बीच अंतर का द्योतक है। मनु ने प्रधान मंत्री को ही अमात्य कहा है।[12]

उपरोक्त भेद-प्रभेद के अलावा समराइच्च कहा की भांति निशीथ चूर्णी में भी अमात्य[13], सचिव[14], मंत्री[15] तथा महामंत्री[16] का उल्लेख मिलता है किन्तु इनमे भेद नहीं बताया गया है। किन्तु वसाक के अनुसार सभी अमात्य जो सचिव

---

१. सम० क० १, पृ० २१, ६८; ४, २५७-५८-५९, २७२, २८३, २९५; ६, ५९८, ६३०-३१, ६९२, ६९४, ७०७; ८, ८३२, ८४४; देखिए—उपासक दशा २, परिशिष्ट पृ० ५६; अर्थशास्त्र १, ६।
२. वही २, पृ० १४५, १५१; ४, २९५; इण्डियन ऐंटीक्वेरी ६, पृ० २४ तथा १८, पृ० २३८।
३. वही २, पृ० १४६; ३, १९६; ४, २७३-७४; ७, ६३१-३२-३३; ८, ८३७; ९, ८९७-९८, ९३५, ९७८; देखिए—निशीथ चूर्णी ४, पृ० २८२; १, पृ० १६४; आर्कियालॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया एनुअल रिपोर्ट, १९५३-५४, पृ० १०७; महाभारत १२।८५।७-८; अर्थशास्त्र १, १५।
४. वही ७, पृ० ६९३-९४-९५; देखिए—निशीथ चूर्णी २, पृ० ४४९; इपि० इण्डि०—११, पृ० ३०८।
५. सम० क० ३, पृ० १६२; ९, ८८१।
६. वही ९, पृ० ८८२।
७. रामायण २।११२।७।
८. वही १।७।३ तथा १।८।४।
९. रुद्रदामन प्रथम का जूनागढ़ अभि०, इपि० इण्डि० ८, पृ० ४२।
१०. अर्थशास्त्र १, १५।
११. वही १, पृ० ८।
१२. मनु० ७।६५।
१३. निशीथ चूर्णी १, पृ० १६४; ४, पृ० २८१।
१४. वही १, पृ० १२७।
१५. वही १, पृ० १२७।
१६. वही ३, पृ० ५७।

कहे जाते थे, मंत्री नहीं थे।[1] मध्यकालीन अभिलेखों[2] में अमात्य को सचिव से भिन्न सूचित किया गया है और उन्हें माल तथा कर विभाग का मंत्री बताया गया है। निशीथ चूर्णी में एक स्थान पर सचिव को मंत्री बताया गया है[3] तथा एक स्थान पर सुबुद्धि नामक व्यक्ति को जियासत्तु नामक राजा का अमात्य और मंत्री दोनो बताया गया है।[4] विभिन्न चालुक्य अभिलेखों में महामंत्री को महामात्य के रूप में चित्रित किया गया है।[5] अतः स्पष्ट होता है कि कार्यक्षेत्र के अनुसार समराइच्च कहा में उल्लिखित मंत्री, अमात्य तथा सचिव आदि मंत्री गण के लिए तथा महामंत्री, प्रधान अमात्य तथा प्रधान सचिव आदि प्रधान मंत्री के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

पुरोहित

प्रशासन के कार्यों में प्रधान मंत्री, प्रधान अमात्य की भाँति राज पुरोहित का पद भी बड़ा सम्मानजनक था।[6] समराइच्च कहा में उल्लिखित है कि पुरोहित को सकलजनों से सम्मानित, धर्मशास्त्र का पंडित, लोक व्यवहार में कुशल, नीतिवान, वाग्मी, अल्पारम्भपरिग्रह वाला तथा तंत्र-मंत्र आदि का वेत्ता होना चाहिए।[7] अर्थ शास्त्र[8] के अनुसार पुरोहित को शास्त्र प्रतिपादित विद्याओं से युक्त, उन्नत कुल शीलवान, षडङ्गवेदज्ञाता, ज्योतिषशास्त्र, शकुनशास्त्र तथा

१. वमाक, आर० जी०—मिनिस्टर्स इन एंसियन्ट इण्डिया इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, वाल्यूम १, पृ० ५२३-२४ (वमाक के अनुसार अमात्य और सचिव शब्द का अर्थ 'सहायक' अथवा 'साथी' से है; किन्तु मंत्री का अर्थ 'मंत्र' (गुप्त-सलाह) अथवा राजनीतिक सलाह से है।); अमर कोष ८०४-५ से पता चलता है कि एक 'अमात्य' जो कि राज्य का 'अधिसचिव' अथवा 'मति सचिव' (सलाह देने वाला मंत्री) है, मंत्री कहा जायगा, और मंत्रियों के अलावा सभी 'अमात्य' कर्म सचिव थे।

२. ए० एस० अल्तेकर—राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स, पृ० ८१।

३. निशीथ चूर्णी २, पृ० २६७—अमच्चों मंत्री।

४. वही ३, पृ० १५०।

५. ए० एस० अल्तेकर—स्टेट एण्ड गवर्नमेंट इन एंसियन्ट इण्डिया, पृ० १२५।

६. सम० क० १, पृ० २१, ३८, ४४; ६, ५०५, ६०१; ७, ६३८; ९, ८९५; देखिए—आदि० ३७, १३५।

७. वही १, पृ० १०।

८. अर्थशास्त्र १, ९।

दण्डनीति शास्त्र में निपुण और दैवी तथा मानुषी आपत्तियों के प्रतीकार में समर्थ होना चाहिए। मानसोल्लास में राजपुरोहित को त्रयी विद्या, दण्डनीति, शान्ति कर्म आदि गुणों का ज्ञाता कहा गया है।[1]

प्राचीन भारतीयशासन पद्धति में धर्म विभाग या धार्मिक विषय पुरोहितों के अधीन था। वह राजधर्म और नीति का संरक्षक था।[2] इस विभाग के अधिकारी को मौर्य काल में 'धर्म महामात्र' सातवाहनकाल में 'श्रवण महामात्र' गुप्त शासन काल में 'विनयस्थितिस्थापक' और राष्ट्रकूट काल में 'धर्मांकुश' कहा जाता था।[3]

पुरोहित राज्य में उपद्रव तथा राजा की व्याधियों की शान्ति के लिए यज्ञ आदि का अनुष्ठान करता था।[4] कभी-कभी उसे राज्यहित के लिए दूतकार्य भी करना पड़ता था।[5] निशीथ चूर्णी में पुरोहित को धार्मिक कृत्य (यज्ञादि शांतिकर्म) करने वाला बताया गया है।[6] विपाक सूत्र में भी पुरोहित द्वारा, राज्योपद्रव शान्त करने, राज्य और बल का विस्तार करने तथा युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए अष्टमी और चतुर्दशी आदि तिथियों में नवजात शिशुओं के हृदय पिण्ड से शान्ति होम किये जाने का उल्लेख है।[7] वैदिक काल में पुरोहित मंत्र, योग तथा पूजा आदि के द्वारा विजय प्राप्त करने की लालसा से राजा के साथ युद्ध क्षेत्र में भी जाता था।[8] उसे शास्त्र, शस्त्र और राजनीति में कुशल होना बताया गया है। जब लम्बे समय तक राजा यज्ञादि अनुष्ठान में व्यस्त रहता तो उस समय तक पुरोहित ही राज कार्य देखता था।[9]

धीरे-धीरे पुरोहित का महत्त्व कम होता गया और २०० ई० के बाद से तो उसे मंत्रिपरिषद् का सदस्य ही नहीं बनाया जाने लगा।[10] अतः हरिभद्र सूरि के

१. मानसोल्लास २, २, ६०; देखिए—याज्ञवल्क्य स्मृति १, ३१३।
२. ए० एस० अल्तेकर—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० १५२।
३. वही पृ० १५२।
४. सम० क० १, पृ० २१।
५. वही १, पृ० ३८।
६. निशीथ चूर्णी २, पृ० २६७; देखिए—स्थानांगसूत्र ७, ५५८।
७. विपाक सूत्र ५, पृ० ३३।
८. ऋग्वेद २।३३।
९. आपस्तम्ब धर्मसूत्रम्, २०।२।१२; ३।१।३; देखिए—बौधायन धर्म सूत्रम् १५।४।
१०. अल्तेकर—स्टेट एण्ड गवर्नमेंट इन ऐंसियन्ट इण्डिया, पृ० १६९; देखिए—गहड़वाल—अभि०—राजराज्ञी युवराज मंत्रि पुरोहित प्रतिहार सेनापति....।

काल तक आते-आते पुरोहित का कार्य मुख्यतया धार्मिक कृत्य सम्पन्न करना ही रह गया था। उसे राजगुरु कहा जाता था। यद्यपि वह मंत्रिपरिषद् का सदस्य नहीं था, फिर भी राज दरबार में उसे सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था।

अन्य अधिकारी

भाण्डागारिक

शासन सत्ता की सुव्यवस्था एवं स्थायित्व के लिए कोष को राज्य के सात आवश्यक तत्त्वों में से एक बताया गया है[1]। हरिभद्र कालीन भारतीय राजा-सत्ताधारियों के पास भाण्डागार[2] की व्यवस्था थी। भाण्डागार (कोष) का अधिकारी भाण्डागारिक होता था।[3] वह भाण्डागार की व्यवस्था का बराबर ध्यान रखता था। उसकी राय से ही भाण्डागार से धन आदि खर्च किया जाता था। लेकिन भाण्डागार का सर्वोच्च अधिकारी राजा ही होता था। आदि पुराण में कोष के लिए श्रीगृह[4] शब्द का उल्लेख हुआ है। निशीथसूत्र में उल्लिखित है कि भाण्डागार में मणि-मुक्ता और रत्नों का संचय किया जाता था।[5] महाभारत,[6] कामंदक नीतिसार[7] और नीतिवाक्यामृत[8] में कहा गया है कि कोष राज्य की जड़ है और इसकी देख-रेख यत्नपूर्वक होनी चाहिए। अभिलेखों में भी भाण्डागारिक का उल्लेख किया गया है। नासिक अभिलेख से इसका भांडागारिकया के रूप में उल्लेख मिलता है।[9] कन्नौज नृपति के चन्द्रावती अभिलेख (संवत् ११४८) में भाण्डागारिक का उल्लेख आया है।[10]

लेख वाहक

प्रशासनिक कार्यों की सुविधा के लिए संदेश पत्र को एक स्थान से दूसरे

---

१. अर्थशास्त्र ६,१।
२. समरा० क० ३, पृ० २१०; ४,२५७,२३०; ५,३९७।
३. समरा० क० ४, पृ० २५४-२५९-२३१; ७, ६४५; ८, ७४६, ८३८; ९, ८९८; देखिए—अष्टाध्यायी ४।४।७०; ६,२,६६ तथा ६,२,६७; जातक १, ५०४।
४. आदि० ३७।८५।
५. निशीथ सूत्र ९।७।
६. महाभारत १२।१३०।३५।
७. कामंदक० ३१।३३।
८. नीतिवाक्या० २१।५।
९. इपि० इंडि० ८, पृ० ९१।
१०. वही० ९, पृ० ३०२।

स्थान तक पहुँचाने के लिए लेख वाहक[1] की नियुक्ति होती थी। यह संचार वाहक का कार्य करता था। हर्ष चरित में लेख वाहक को लेख हारक कहा गया है जो लेख (पत्र) पहुँचाने का कार्य करता था। इसके सिर पर नीली पट्टी माला की तरह बँधी रहती थी जिसके भीतर लेख रखकर प्रेषित करता था।[2] राजतरंगिणी में इसका उल्लेख लेख हारक[3] के रूप में हुआ है।

राज-प्रासाद

प्राचीन काल में राजा-महाराजाओं के आवास के लिए सुन्दर एवं आकर्षक राजप्रासाद निर्मित होते थे। अभयदेव की व्याख्या प्रज्ञप्ति टीका में देवों के निवास स्थान को प्रासाद और राजाओं के निवास स्थान को भवन कहा गया है।[4] प्राचीन जैन ग्रन्थों में आठतल वाले प्रासादों का उल्लेख है। ये प्रासाद सुन्दर शिखर युक्त तथा ध्वजा, पताका, छत्र और मालाओं से सुशोभित तथा मणि मुक्ता जटित फर्श वाले होते थे।[5] यशस्तिलक में त्रिभुवन तिलक प्रासाद का उल्लेख है जो श्वेत पाषाण (संगमर्मर) से निर्मित था। शिखरों पर स्वर्ण कलश लगाये गये थे। रत्नमय स्तम्भों वाले ऊँचे-ऊँचे तोरणों के कारण राजभवन कुबेरपुरी की तरह लग रहा था।[6] आदि पुराण में भी सर्वतोभद्र प्रासाद तथा वैजयन्त भवन का उल्लेख है।[7] बाणभट्ट के कादम्बरी में महा प्रासाद का उल्लेख है।[8] समराइच्च कहा में सर्वतोभद्र प्रासाद तथा विमान छन्दक प्रासाद का विस्तृत एवं सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है।

सर्वतोभद्र प्रासाद

यह प्रासाद राजा के सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं से परिपूर्ण होता था।[9] इसमें तोरण तथा वन्दन मालाएँ लटक रही थीं, सुगंधित, श्वेत और आकर्षक

१. सम० क० ४, पृ० ३६१-६२; ६, पृ० ५३३; ८, ८१४।
२. वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ८९, तथा पृ० १८०।
३. राजतरंगिणी ६। ३१९।
४. अभय देव, व्याख्या प्रज्ञप्ति टीका ५, ७, पृ० २२८ (बेचर दास अनु०)।
५. ज्ञातृधर्म कथा १, पृ० २२; उत्तराध्ययन सूत्र १९।४; उत्तराध्ययन टीका १३, पृ० १८९।
६. यशस्तिलक, पृ० ३४२-४३-४४।
७. आदि० ३७।१४६-४७।
८. कादम्बरी, पृ० ५८।
९. सम० क० १, पृ० ४३।

पुष्प मालाएं इसके सौंदर्य को निरंतर वृद्धि करती थी।[१] आदि पुराण में भी सर्वतोभद्र प्रासाद का उल्लेख आया है जो चक्रवर्ती राजा का आवास था। इसमें देदीप्यमान रत्नों से मंडित तोरण लगे थे।[२] मानसार में भी सर्वतोभद्र को दण्डक स्वस्तिक, मौलिक, चतुर्मुख आदि की भांति एक अन्य प्रकार का प्रासाद बताया गया है।[3] यह विशेषतया सप्तमाल (सात भवनों की पंक्ति) कहा गया है।[४]

विमान छन्दक प्रासाद

राजा अपनी सुख-सुविधा के विचार से राजधानी के बाहर भी सुन्दर एवं आकर्षक विमान छन्दक नामक राजप्रासाद का निर्माण कराते थे।[५] यह महल वर्षा ऋतु की शोभा को धारण करने वाला था। इसकी अलंकारिता का विस्तृत वर्णन समराइच्च कहा में किया गया है।[६] इसमें स्वर्ण जटित स्तम्भ तथा सुन्दर गलियाँ तथा द्वार बने थे। राजप्रश्नीय सूत्र में भी सूर्याभ देव के विमान प्रासाद का वर्णन किया गया है। यह प्रासाद चारो तरफ प्राकार से वेष्टित था।[७] इसके चारों तरफ द्वार बने थे जो ईहामृग, वृषभ, नरतुरग (मनुष्य के सिर वाला घोड़ा), मगर, विहग, सर्प, किन्नर, रुरु (हरिण), शरभ, चमर, कुंजर, वनलता और पद्मलता की आकृतियाँ बनी थीं।[८] मानसार में विमान को हर्म्य, अल्लाय, अधिस्नाक, प्रासाद, भवन, क्षेत्र मंदिर, आयतन, वेश्मा, गृह, आवास, छाया, धमन, वास, गेह, आगार, सदन आदि का पर्याय बताया गया है।[९]

भवनदीर्घिका

भवनोद्यान से लेकर अंतःपुर तक एक छोटी सी नहर रहती थी। इसकी लंबाई के कारण ही इसे भवन दीर्घिका कहा जाता था। दीर्घिका के मध्य में गन्धोदक से पूर्ण क्रीडा वापियाँ बनी रहती थीं। इसमें कमल खिले रहते थे, हंस क्रीड़ा किया करते थे तथा राजा और रानियाँ भी इस भवन दीर्घिका में

---

१. सम० क० १, पृ० ४३।
२. आदि० ३७।१४६।
३. पी० के० आचार्य—आर्किटेक्चर आफ मानसार, पृ० ३७३।
४. वही पृ० २७६।
५. सम० क० १, पृ० १५।
६. वही १, पृ० १५।
७. जगदीश चन्द्र जैन—जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ३३१-३२।
८. वही पृ० ३३१-३२।
९. पी० के० आचार्य—आर्किटेक्चर आफ मानसार, पृ० २२०।

स्नान करती थीं।[1] यशस्तिलक में भी भवन दीर्घिका का उल्लेख आया है जिसका तलभाग मरकतमणि का बना हुआ था[2]। दीवालें स्फटिकमणि[3] से, सीढ़ियाँ स्वर्ण[4] से तथा तट प्रदेश मुक्ताफल[5] से निर्मित थे। जल को कहीं हाथी, कहीं मकर इत्यादि के मुंह से झरता हुआ दिखलाया गया था[6]। जलतरंगों पर कर्पूर का छिड़काव था[7] तथा किवाड़ों पर चंदन का लेप था[8]। बीच में पुष्करिणी बनाई गयी थी (जल को रोक कर) जिसमे कमल खिले थे[9]। आगे सुगंधित जल युक्त कूप बनाया गया था जिसमें कस्तूरी और केसर से सुवासित शीतल जल भरा हुआ था।[10] तत्पश्चात जल को मृणाल की तरह पतली धारा के रूप में बदल दिया गया था[11]। अंत में यह दीर्घिका प्रमद वन में पहुँचती दिखायी गयी है जहाँ विविध प्रकार के कोमल पत्तों और पुष्पों से पल्लव और प्रसून शय्या बनायी गयी थी[12]। हर्षचरित[13] तथा कादम्बरी[14] में भवन दीर्घिका का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। कालिदास ने भी भवन दीर्घिका का वर्णन किया है[15]। इन साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि भवन दीर्घिका राजमहल निर्माण कला की एक विशेषता थी।

वाह्याली

राजप्रासाद के बाहर राजपथों के द्वारा घोड़ों पर सवार होकर भ्रमण

१. सम० क० १ पृ० ८२; ५, पृ० ४७२ ।
२. यशस्तिलक पृ० ३८ पृ० (मरकत मणि विनिर्मित मूलाम्) ।
३. वही पृ० ३८ ।
४. वही पृ० ३८ (कांचनोपचितसोपान परंपराम्) ।
५. वही पृ० ३८ (मुक्ताफलपुलिन पेशल पर्यंताम्) ।
६. वही पृ० ३९ (करिमकर मुखमुच्यमानवारिभरिताभोगाम्) ।
७. वही पृ० ३९ ।
८. वही पृ० ३९ ।
९. वही पृ० ३९ ।
१०. वही पृ० ३९ ।
११. वही पृ० ३९ ।
१२. वही पृ० ३९ (विचित्र पल्लव प्रसून फलस्फामधिकाम्) ।
१३. वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २०६ ।
१४. अग्रवाल—कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ३७१-७२ ।
१५. रघुवंश १६-१३; देखिए—आदि० ८-२२ ।

करने के स्थान को वाह्याली कहा जाता था।[1] मनोरंजनार्थ राजकुमार घोड़े पर सवार होकर वाह्याली में क्रीड़ा करते थे। निशीथ चूर्णी[2] में भी घोड़ों को शिक्षा देने के स्थान को वाह्याली बताया गया है। मानसोल्लास में वाजि वाह्याली तथा गज वाह्याली का उल्लेख है। वाह्याली की भूमि कीचड़, पाषाण तथा शंकु से हीन तथा न अधिक मुलायम और न अधिक कठोर होती थी[3]। दो द्वारों से युक्त उत्तर दिशा की ओर दर्शन मंडप बनाया जाता था। वाह्याली का निर्माण हो जाने पर तथा गृहकारकों के निवेदन करने पर हयाध्यक्ष को बुला कर राजा घोड़े को वाह्याली में लाने की आज्ञा देता था[4]। गज वाह्याली में गजों की क्रीड़ा होती थी। यह वाह्याली १०० धनुष के बराबर लम्बी तथा ६० धनुष के बराबर चौड़ी थी। वह भूमि मिट्टी, पत्थर, कण्टकादि से शून्य, समतल और चिकनी होती थी तथा वह पूर्व दिशा की ओर ऊँची होती थी। उसमें दो विशाल द्वार होते थे। उनके आगे दो विशाल तोरण पूर्व दिशा की ओर मुख करके बनाए जाते थे[5]। वाह्याली के दक्षिणी मध्य भाग में ऊँचा एवं सुन्दर आलोक मंदिर बनवाया जाता था। वह अत्यन्त ऊँचा होता था और उसके चारों ओर गहरी खाई होती थी। उस परिखा पर फलक द्वारा सीढ़ियों से पूर्ण मार्ग बनवाया जाता था। इस प्रकार का गृह बनवाने से गज उस मंदिर तक पहुँच सकते थे। इसी प्रकार दक्षिण भाग के समीप ही कुछ पीछे परिखा से पूर्ण, ऊँचा, चित्रों से पूर्ण भित्ति वाला, सुरम्य, विशाल, आठ स्तम्भों से पूर्ण, स्थूल, हाथियों के वक्षस्थल के बराबर पूर्वी द्वार के समीप उत्तर दिशा की ओर एक अन्य मंडप बनवाया जाता था[7]। गज वाह्याली की भूमि तीन भागों में विभाजित थी—द्विप भूमि, नृप भूमि तथा परिकर भूमि[8]।

आस्थानिक मण्डप (सभा मंडप)

समराइच्च कहा में आस्थानिक मंडप अथवा सभा मंडप का भी उल्लेख

---

१. स० क० १, पृ० १६।
२. निशीथ चूर्णी ९, २३-२४।
३. मानसोल्लास ४, ४, ६६२-६३।
४. वही ४, ४, ६६६।
५. वही ४, ३, ५१५-१७।
६. वही ४, ३, ५१८-२१।
७. वही ४, ३, ५२३
८. वही ४, ३, ५४७।

किया गया है ।[1] यहाँ राजकुमार अपने समवयस्कों के साथ बैठकर उचित समय में मनोविनोद किया करते थे ।[2] समय में राजा अपने प्रधान अमात्य, सामंत तथा प्रधान जनपदों के साथ बैठकर विभिन्न प्रकार की समस्याओं का समाधान करता था ।[3] समस्याओं के समाधान के पश्चात् सभा का विसर्जन किया जाता था । यशस्तिलक में भी आस्थान मंडप का उल्लेख किया गया है जिसमें राजा बैठकर राज्य कार्य देखते थे ।[4] यशस्तिलक में आस्थान मंडप की साज-सज्जा अथवा शोभा का विस्तृत वर्णन किया गया है ।[5]

हर्षचरित में उल्लिखित है कि राज्यवर्धन की मृत्यु के पश्चात् हर्षवर्धन ने बाहरी आस्थान मंडप में सेनापति सिंहनाद तथा गजाधिपति स्कन्दगुप्त से परामर्श किया था ।[6] कादम्बरी में भी चन्द्रापीड की दिग्विजय का निश्चय आस्थान मंडप में ही किया गया था ।[7] आदिपुराण में आस्थानिका का उल्लेख किया गया है जहाँ राजा रानियों सहित बैठकर संगीत, नृत्य, अभिनय आदि का आस्वादन करता था । सामन्त तथा श्रेष्ठि वर्ग के व्यक्ति भी दर्शन के लिए उपस्थित रहते थे ।[8]

हर्षचरित में दो आस्थान मंडपों का उल्लेख है, पहला बाह्य आस्थान मंडप तथा दूसरा राजकुल के भीतर धवलगृह के पास था जिसे भुक्ता आस्थान मंडप कहा जाता था । वासुदेवशरण अग्रवाल ने आस्थान मंडप की तुलना मुगल कालीन राजमहल से की है । बाह्य आस्थान मंडप को दरबारे आम और भुक्ता आस्थान मंडप को दरबारे खास कहा है ।[9] बाह्य आस्थान मंडप में राजा-महाराजा सभा का कार्य देखते तथा मंत्री, सेनापति आदि से विचार-

१. सम० क० १, ४५; ४, २९१-२९५-९६-३०१-३०८; ५, ४८१-४८२; ८, ७४९-७५२ ।
२. वही ८, ७४९ ।
३. वही ४ पृ० ३४१; ७, पृ० ६२९; ९, पृ० ९७३ ।
४. यशस्तिलक पृ० ३७३ (सर्वेषामाश्रमिणामितरव्यवहारविश्रामिणां च कार्याणि पश्यन् ।
५. वही पृ० ३६७ से ३७३ तक ।
६. वासुदेव शरण अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, परिशिष्ट १, पृ० २०९ ।
७. कादम्बरी पृ० ११२ ।
८. आदि० ४६।२०९ ।
९. अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, परिशिष्ट १, पृ० २०९ ।

विमर्श करते थे तथा भुक्तास्थान मंडप में भोजन के पश्चात् सम्राट अपने अंतरंग मित्रों और परिवार के साथ बैठकर विचार-विमर्श तथा मनोविनोद आदि भी किया करते थे। किन्तु समराइच्च कहा में एक ही प्रकार के आस्थानिका मंडप का उल्लेख है जिसे सभा मंडप अथवा मुगल काल का दरबारे आम कहा जा सकता है।

अन्तःपुर

राजाओं के यहां रानियों के निवास स्थान को अन्तःपुर कहा जाता था।[1] अन्तःपुर राजप्रासाद का एक विशाल एवं रमणीक भाग होता था। राजाओं का भी शयन कक्ष अन्तःपुर में ही होता था। अन्तःपुर में एक प्रधान महिषी अथवा महादेवी[2] तथा अन्य रानियां होती थीं। समराइच्च कहा में अंतःपुर की बनावट एवं साज-सज्जा का उल्लेख है। वहां चन्द्रमा की श्वेत चांदनी सी मणि और रत्नों के मङ्गल दीप से युक्त शयन कक्ष, फर्श पर बिखरे हुए सुगंधित पुष्प, निर्मल मणियों की कांति पर किया हुआ कस्तूरी का लेप, उज्ज्वल और विचित्र वस्त्रों के बनाए हुए वितान, श्रेष्ठ मृगाओं के लाल वर्ण के गद्दों से बिछे हुए पलंग, श्रेष्ठ स्वर्ण से बनाये गये मनोहर पात्र, लटकती हुयी सुन्दर और सुगंधित मालाएं, स्वर्ण-घटों से निकलता हुआ सुगंधित धूप का धुआं, चटुल हंस और पारावत पक्षियों की सुन्दर क्रीड़ा, कर्पूर मिश्रित ताम्बूल की प्रसरित सुगंध, खिड़कियों पर रखी हुई सुगंधित विलेपन सामग्री तथा सुगंधित वारुणी से भरे हुए सुन्दर स्वर्ण के प्याले अपनी अनुपम शोभा बिखेरते रहते थे।[3]

अन्तःपुर के भवनों की दीवालें मणि जटित होने के कारण उस पर लोगों के प्रतिबिम्ब झलकते रहते थे। उत्तुङ्ग तोरण, स्तम्भों पर झलकती हुई शालभंजिकाएं, सुन्दर गवाक्ष तथा वेदिकाएँ बनी होती थीं।[4] एक अन्य स्थान पर अंतःपुर के शयन कक्ष की अलंकारिता का वर्णन किया गया है।[5]

---

१. सम० क० १, ९, ८०; ४, ३०९, ३२१, ३३६, ३३८; ५, ३६४; ६, ५३१; ७, ६९१; ८, ७५६;—देखिए उत्तराध्ययन टीका, १८, पृ० २३२, अ; अर्थशास्त्र १, २०; रामायण २।१०।१२।
२. वही १, पृ० ९; ८, पृ० ७५६।
३. वही ४, २९१-९२।
४. वही ६, पृ० ५४८-४९।
५. वही ९, पृ० ९०१; तुलना के लिए देखिए—वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ३६७-६८-६९।

अन्तःपुर में निवास करने वाली रानियों के मनोरंजनार्थ अलग से नाट्यशालाओं तथा चित्रशालाओं का निर्माण किया जाता था जहाँ स्त्रियों द्वारा वाद्य, नृत्य, संगीत आदि का आयोजन किया जाता था।[1] बन्धन मोक्खजातक में अन्तःपुर की सोलह सौ नर्तकियों का उल्लेख है।[2] कादम्बरी में अन्तःपुर का उल्लेख है[3] जो राज प्रासाद का आभ्यन्तर कक्ष होता था। वहाँ रानियों की परिचर्या के लिए दास-दासियाँ होती थीं।[4] औपपातिक सूत्र में दौवारिक[5] (द्वारपाल) का उल्लेख आया है जो अन्तःपुर के द्वार पर बैठकर उसकी रखवाली करता था।

अतः स्पष्ट होता है कि राजाओं का अन्तःपुर सुव्यवस्थित एवं सुन्दरतम होता था।

राजपरिचर-प्रतिहारी

राजमहलों में सेवा कार्य के लिए राज परिचर नियुक्त रहते थे। इन राज परिचरों में प्रतिहारी भी एक होता था।[6] संभवतः यह पहरा देने वाला कर्मचारी होता था।[7] यह राजा के आस्थानिका मंडप में भी प्रवेश करता था।[8] प्रहरी के साथ साथ यह सूचना देने का भी कार्य करता था तथा पुत्र जन्मोत्सव आदि पर इसे पारितोषिक प्रदान किया जाता था।[9] समराइच्च कहा में महाप्रतिहारी[10] का भी उल्लेख है जो राजप्रासाद तथा तन्तःपुर में परिचर्या का कार्य करता था।

हर्षचरित के उल्लेख से भी पता चलता है कि प्रतिहारी राजसी ठाट-बाट

१. सम० क० ८, पृ० ७०९।
२. बन्धनमोक्ख जातक १२०, पृ० ४०।
३. कादम्बरी पृ० ५९।
४. वही पृ० ९०, ९२, १०१।
५. औपपातिक सूत्र ९, पृ० २५।
६. सम० क० १, २२-३१-३२; २, १५१; ४, २६६-६७, ३४४; ५, ४७२, ४८१-८२; ६, ५६५; ७, ६३१, ६७०, ६९१, ६९५, ७०९; ८, ७३९-४०, ७५३-५४-५५; ९, ८६०, ८८१, ८९२, ९३, ९११; देखिए—भगवती सूत्र ११, ११, ४३० में 'बाह्य प्रतिहारी।'
७. वही ७, ६७० (पडिहारीओ पडिहारेणं)।
८. वही ५, ४८१-८२।
९. वही ७, ७०९।
१०. वही ४, २६८; ७, ६०७।

और दरबारी प्रबन्ध की रीढ़ थे। प्रतिहारों के ऊपर महाप्रतिहारी और उन महाप्रतिहारी के मुखियाको दौवारिक कहा जाता था।[१] प्रतिहार प्राचीन काल में सामन्त, महासामंत, मांडलिक, राजा, महाराजा, महाराजाधिराज, चक्रवर्ती, सम्राट आदि विभिन्न कोटि के राजाओं के भिन्न-भिन्न प्रकार के मुकुट और पट्ट पहचान कर यथायोग्य सम्मान देते थे।[२] राजाओं के सन्मुख दूतों और मिलने वालों को पेश करने का काम प्रतिहारी या महाप्रतिहारी का था।[३] नासिक अभिलेख में प्रतिहार शब्द का उल्लेख है।[४] यथा शीलादित्य के जैसोर अभिलेख[५] (वल्लभी संवत ३५७) तथा कर्णदेव के बनारस अभिलेख[६] (ई० सन् १०४२) मे भी महाप्रतिहारी का उल्लेख है। मजूमदार के अनुसार प्रतिहार और महाप्रतिहार प्रांतीय अधिकारी होने के साथ-साथ राजप्रासाद के कार्यों के भी अध्यक्ष होते थे।[७] किन्तु दशरथ शर्मा ने प्रतिहार का शाब्दिक अर्थ द्वारपाल से लगाया है जिसका काम राजा से मिलने वाले लोगों को राजा के सामने प्रस्तुत करना था।[८]

चारक

समराइच्च कहा मे अन्य कर्मचारियों की भांति चारक[९] का भी उल्लेख किया गया है। ये चर गुप्तचर थे जो चोर डाकुओं तथा राज्य के अन्दर अन्य सभी प्रकार के रहस्यों का पता लगा कर उसकी सूचना राजा को देते थे। चार कर्म कूटनीति का मुख्य अंग था। कौटिल्य ने गुप्तचरों को राजा की आँखें माना है। शत्रु सेना की मुख्य बातों का पता लगाने के लिए भी गुप्तचर काम मे लिए जाते थे।[१०] ये लोग शत्रु सेना मे भर्ती होकर उनकी सब बातों का पता लगाते रहते थे। कूलवालय ऋषि की सहायता से राजा कूणिक वैशाली के

१ वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ४४।
२ मानसार अ० ४९, १२-२६।
३ अल्तेकर—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० १४४।
४. इपि० इंडि० ८, पृ० ७३।
५. वही २२, पृ० ११७।
६. वही २, पृ० ३०९।
७. मजूमदार—चालुक्याज आफ गुजरात, पृ० २२९।
८. दशरथ शर्मा—अर्ली चौहान डायनेस्टीज़, पृ० २००।
९. स० क० ४, पृ० २७१-७२ सो चेव मे गया सव्वमेयं कारवेइति कुविओ एसो। नेयाविद्या इमे चारये।
१०. अर्थशास्त्र १, ११।

स्तूप को नष्ट कराकर राजा चेटक को पराजित करने में सफल हुआ था।[१] ये गुप्तचर कुछ चल विद्यार्थियों के रूप में, कुछ व्यापारियों के वेष में तथा कुछ तपस्वियों के वेश में रहकर अपना अपना कार्य गुप्त रूप में करते थे।[२] एक गुप्तचर को दूसरे गुप्तचर प्रायः मालूम नहीं रहते थे। जब एक गुप्तचर की रिपोर्ट दूसरे गुप्तचर की रिपोर्ट से पुष्ट हो जाती थी तो सरकार द्वारा कार्रवाई की जाती थी।[3] कर्णाटक के कलचुरि शासन में पाँच अधिकारी नियुक्त रहते थे जो न्याय, राजद्रोहियों और उपद्रवियों का पता लगाते थे। इन्हें पाँच ज्ञानेन्द्रिय कहा गया है।[४] यशस्तिलक में गुप्तचरों को राजा का दूसरा नेत्र कहा गया है।[५]

सैन्य व्यवस्था

आंतरिक विद्रोह की शांति तथा बाह्य आक्रमण से राज्य की सुरक्षा के लिए सेना की उचित व्यवस्था थी। अर्थशास्त्र में सैन्य बल को दण्ड कहा गया है।[६] राजा-महाराजाओं के पास चतुरंगिणी सेना की उचित व्यवस्था थी।[७] चतुरंगिणी सेना के अंतर्गत रथ-हस्ति-गज और पदाति सैनिक होते थे। सेना का सर्वोच्च अधिकारी राजा स्वयं होता था और उसके नीचे सेनापति,[८] महानायक[९] और महायुद्धपति[१०] नामक सैनिक अधिकारी होते थे। बाण ने बलाधिकृत[११] (वाहिनी पति—जिसमें ८१ हाथी, ८१ रथ, २४३ घोड़े तथा ४०५ पैदल होते थे जो आधुनिक बटालियन जैसी सेना होती थी), महाबलाधि-

१. आवश्यक चूर्णी २, पृ० १७४; देखिए—उत्तराध्ययन टीका २, पृ० ४७; अर्थशास्त्र २, ३५, ५०-५५।
२. अल्तेकर—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० १८१।
३. वही पृ० १८२।
४. इपिग्रेफिया कर्णाटिका, भाग ७, शिकारपुर संवत् १०२ और १२३।
५. यशस्तिलक ३।१७३।
६. अर्थशास्त्र ६, १।
७. सम० क० १, पृ० २७, ३, पृ० १९८, २२७; देखिए—पतंजलि महाभाष्य १-१-७२, पृ० ४८७।
८. वही ७ पृ० ६९८।
९. वही ८, पृ० ८३८।
१०. वही ९, पृ० ८९८-९९।
११. अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १४३; अग्रवाल-कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ३१६, ३०५।

कृत[१] और सबसे बड़े सैनिक अधिकारी को महासंधिविग्रहिक[२] बताया है। गुप्त काल में सैन्य विभाग के अध्यक्ष को महाबलाधिकृत[3] तथा यादव राज्य मे महाप्रचण्डदण्डनायक कहा जाता था।[४]

सेना के अंग

पदाति सैनिक

चतुरंगिणी सेना के अंतर्गत पदाति सैनिक होते थे।[५] ये सैनिक पैदल ही चल कर रणभूमि में शक्ति, गदा, तलवार और ढाल से युद्ध करते थे।[६] पदाति सेना का अध्यक्ष सेनापति कहलाता था जो सेना मे व्यवस्था तथा अनुशासन बनाये रखता था।[७]

मानसोल्लास मे पदाति सेना के ६ भेद बताये गये हैं, यथा—मौल, भृत्य, मित्र, श्रेणी, आटविक तथा अमित्र।[८] रामायण[९] में मौल, भृत्य, मित्र और अटवी इन चार प्रकार की सेनाओं का तथा महाभारत[१०] में मौल, भृत्य, अटवी और श्रेणी बल का उल्लेख है। वंशक्रम से आयी हुई सेना पैतृक अथवा मौल कहलाती थी, धन देकर एकत्र की गयी सेना भृत्य, मैत्री भाव से एकत्र की गयी सेना मित्र, निश्चित समय पर सहायता देने वाली सेना को श्रेणी, पर्वत एवं अरण्य प्रदेशों मे रहने वाले निषाद, भिल्ल, शबर आदि से संगठित की गयी सेना को आटविक एवं शत्रु सेना से आक्रांत होकर भागे हुए सैनिक यदि दस्यु भाव स्वीकार कर लें तो उनके द्वारा संगठित की गयी सेना अमित्र कहलाती थी।[११]

---

१. अग्रवाल—कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २१४, २२०।
२. अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १२८, २०९।
३. इपि० इंडिया १०, पृ० ७१।
४. इण्डि० एंटी० १२, पृ० १२०।
५. समम० क० ७, ७०३-७०५; ८, ३९८-९९; तुलना के लिए देखिए—के० के० हैंडीकी—यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, पृ० ९३।
६. औपपातिक सूत्र ३१, पृ० १३२; विपाक सूत्र २, पृ० १३।
७. औपपातिक सूत्र २९।
८. मानसोल्लास २, ६, ५५६ (मौलं भृत्यं तथा मैत्रं श्रेणमाटविकं बलम्) अमित्रपरं षष्ठं समर्म नोपलभ्यते।
९. रामायण—युद्ध काण्ड, १७।२२।
१०. महाभारत—आश्रम वासिक पर्व ७।७।
११. नेमिचन्द्र शास्त्री—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ३६८।

किन्तु समराइच्च कहा में पदाति सेना के भेद का उल्लेख नहीं है, जबकि अन्य ग्रंथों में इसके भेद-प्रभेद आदि का उल्लेख है।

अश्व सेना

अश्वसेना चतुरंगिणी सेना का एक विशिष्ट अंग होता था।[1] अश्व सैनिक बड़े ही चुस्त तथा फुर्तीले होते थे।[2] अश्व सेना का प्रधान अधिकारी महाश्वपति कहलाता था।[3] अश्व सेना के प्रधान अधिकारी को अश्वपति (भटाश्वपति और महाश्वपति) भी कहा जाता था।[4] आगे बारहवीं शताब्दी के गहड़वाल राज्य में भी करीब-करीब यही सैनिक अधिकारी थे।[5] अश्वपति और रथाधिपति के आधीन अश्वशालाधिकारी भी होते थे जिन्हें चाहमान काल में राजस्थान में 'साहणीय' कहा जाता था।[6] महाभारत में अश्वों को शीघ्र गतिवाला तथा उत्साही बनाने के लिए युद्ध के समय मदिरापान कराये जाने का उल्लेख है।[7] नकुलाश्वशास्त्र में बताया गया है कि जिस प्रकार चन्द्रमा से हीन रात्रि और पति के हीन पतिव्रता सुशोभित नहीं होती उसी प्रकार अश्वों से हीन सेना भी सुशोभित नहीं होती।[8] घोड़ों को कवच भी पहनाया जाता, मुंह पर आभरण लटकाया जाता और उनका कटिभाग चामरदण्ड से अलंकृत किया जाता था।[9] आदिपुराण में कम्बोज, सैन्धव, आरट्टज, वनायुज, वाह्लीक, तैतिल, गांधार और वाप्य आदि जाति के अश्वों को युद्ध के लिए उपयोगी बताया गया है।[10]

. . .

१. सम० क० ७, ६९८-९९, ७०३, ७०५; ८, ८३८; ९, ८९८-९९, ९७३; देखिए अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ३९-४०-४१-४२; हंडीकी—यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, पृ० ९३।

२. देखिए—अर्थशास्त्र १०, ४।

३. सम० क० ९, ९७३।

४. आर्कियालौजिकलसर्वे आफ इण्डिया ऐनुअल रिपोर्ट—१९०३-४, पृ० १०७।

५. अल्तेकर—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० १४५।

६. इपि० इण्डिया ११, पृ० २९।

७. महाभारत द्रोण पर्व ११२।५४-५५।

८. नकुलाश्वशास्त्र १, १४ (चन्द्रहीना यथारात्रिः पति हीना पतिव्रता। हय हीना तथा सेना विस्तीर्णापि न शोभते)।

९. विपाकसूत्र २, पृ० १३; औपपातिक सूत्र ३१, पृ० १३२।

१०. आदि० ३०।१०७।

हस्तिसेना

चतुरंगिणी सेना के अन्तर्गत हस्ति सेना का भी युद्ध क्षेत्र में अत्यधिक महत्त्व था।[1] हस्ति को युद्ध के प्रयाण के समय ध्वज-चामर और छत्र से सजाया जाता था।[2] हस्ति सेना से शत्रु-सेना को रौंदने का काम लिया जाता था।[3] इसका प्रधान महाहस्तिपक होता था।[4] कहीं-कहीं हस्ति सेना के अधिकारी को हस्त्याध्यक्ष (गुप्तकाल में महापीलुपति) कहा जाता था।[5] कौटिल्य ने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए हस्तिसेना के प्रधान योगदान की प्रशंसा की है।[6] हाथियों को युद्ध के लिए प्रशिक्षित भी किया जाता था। नीतिवाक्यामृत में सोमदेव ने लिखा है कि अशिक्षित हाथी केवल धन और प्राणों का नाश करने वाला होता है।[7]

हस्ति को सेना का प्रधान अंग माना जाता था। किले का द्वार तोड़ने के लिए हाथियों का उपयोग होता था।[8] राजा-महाराजा तथा योद्धा लोग उसकी पीठ पर सवार होकर युद्ध करते थे और मौर्यकाल तथा मुगलकाल में हाथियों का उपयोग किले का फाटक तोड़ने के लिए किया जाता था।[9] कौटिल्य[10] की भाँति चाहमान शासक तथा उनके सलाहकारों को यह विश्वास था कि राजा की विजय तथा शत्रुसेना का विनष्टीकरण हस्ति सेना पर ही निर्भर करता है। हैंडीकी के अनुसार यशस्तिलक में उल्लिखित हस्ति सेना खतरे के समय किलेबंदी का भी काम करती थी।[11]

---

१. सम० क० ७, ६९८-९९, ७०३, ७०५; ९, ८९८-९९; देखिए अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ३९-४०-४१-४२, १२९-३०; देखिए—हैंडीकी—यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, पृ० ९३।
२. सम० क० १, २८; तुलना के लिए देखिए—निशीथ चूर्णी—११।३८१६ की चूर्णी, ११।३८१६ की चूर्णी।
३. सम० क० ७, ७०३।
४. वही ७, ७०३।
५. आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया ऐनुअल रिपोर्ट १९०३-४, पृ० १०७।
६. अर्थशास्त्र २।२।
७. नीति वाक्यामृत, बलसमुद्देश्य, पृ० २०८ (अशिक्षा हस्तिनः केवलमर्थ-प्राणहराः)।
८. महाभारत—सभापर्व ६१, १७।
९. दशरथ शर्मा—अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ० २१४।
१०. अर्थशास्त्र २, २, ७, ११, १०, ४।
११. के० के० हैंडीकी—यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, पृ० १११।

रथसेना

तत्कालीन सैन्य व्यवस्था में रथ सेना चतुरंगिणी सेना का एक विशिष्ट अंग थी।[1] राजा तथा अन्य विशिष्ट लोग रथों पर बैठते थे।[2] रथों में श्वेत पताकाएँ एवं घंटियाँ बाँधी जाती थीं।[3] रथी लोग युद्ध क्षेत्र में धनुष-बाण से शत्रु पक्ष पर प्रहार करने के लिए बाणों की वर्षा करते थे।[4] अन्य ब्राह्मण[5] तथा जैन ग्रन्थों[6] में भी पता चलता है कि रथों को युद्ध क्षेत्र में ले जाने के पूर्व छत्र, ध्वजा, पताका, घण्टे, तोरण, नन्दिघोष और क्षुद्र घंटिकाओं से अलंकृत किया जाता था। इन रथों पर सोने की सुन्दर चित्रकारी बनी रहती थी। रथ भी कई प्रकार के होते थे। संग्राम रथ कटी प्रमाण फलकमय वेदिका से सजाया जाता था, जब कि यानरथ पर यह वेदिका नहीं होती थी।[7] कौटिल्य ने देवरथ, पुष्परथ, संग्रामिकरथ, पारयाणिकरथ, परपुराभिगामिक रथ एवं वैमानिक रथ आदि का वर्णन किया है।[8] रथ सेना के प्रधान अधिकारी को रथाधिपति कहा जाता था।[9] रथों का उपयोग आगे चलकर सेना की तुलना में अधिकतर अलंकरण सामग्री के रूप में किया जाने लगा।[10] डा० दीक्षितार,[11] अल्तेकर[12] और चक्रवर्ती[13] आदि विद्वानों का मत है कि आठवीं शताब्दी में युद्ध के निमित्त रथों का प्रयोग बन्द हो गया था। मानसोल्लास में रथ को युद्ध का अनिवार्य अंग

---

१. सम० क० १, ८९, ७, ६९८-९९, ७०२, ७०३, ७०५; तुलना के लिए—देखिए—हैंडीकी—यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, पृ० ९३।
२. वही १, २८।
३. वही ७, ७०५।
४. वही ७, ७०२-७०३।
५. रामायण ६, २२, १३; महाभारत उद्योग पर्व ९४, १९।
६. औपपातिक सूत्र ३१, पृ० १३२; आवश्यक चूर्णी, पृ० १८८; बृहत् कल्पभाष्य पीठिका २१६; आदि० २६।७७।
७. अनुयोग द्वारा टीका, पृ० १८६।
८. अर्थशास्त्र २, ३५।
९. आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया एनुअल रिपोर्ट, १९०३-४, पृ० १०७।
१०. पृथ्वीराज विजय १०, १९।
११. दीक्षितार—वार इन ऐंसियन्ट इण्डिया, पृ० १६६।
१२. अल्तेकर—राष्ट्रकूटाज एण्ड दियर टाइम्स, पृ० २४८।
१३. दी आर्ट आफ वार इन ऐंसियन्ट इंडिया, पृ० २६।

नहीं बताया गया है और न तो किसी मुसलमान लेखक अथवा भारतीय लेखक ने ही इसका उल्लेख किया है, किन्तु युक्तिकल्पतरु. और राजनीति-रत्नाकर में इसका उल्लेख है।[1] निष्कर्षतः आठवीं शताब्दी में रथों का प्रयोग कम हो गया था और धीरे-धीरे आगे चलकर तो बिल्कुल बन्द-सा हो गया।

सैनिक प्रयाण और युद्ध

युद्ध के लिए सैनिक प्रयाण करने के पूर्व ज्योतिषी व राज पुरोहित द्वारा शुभ मुहूर्त का निर्धारण किया जाता था।[2] प्रस्थान करते समय राजा श्रेष्ठ रथ पर बैठता और उसके सामने जल से भरा हुआ स्वर्ण कलश रखा जाता था। मांगलिक तूर्य (तुरही) बजाये जाते तथा बन्दीजन विजय के लिए मंगल पाठ करते थे।[3] अग्निपुराण में भी युद्ध क्षेत्र में शत्रु पक्ष पर विजय प्राप्त करने के लिए समय, मंत्र और औषध की महिमा का वर्णन किया गया है।[4]

वैदिक काल में पुरोहित राजा के साथ युद्ध क्षेत्र में भी जाता था और वहाँ विजय के लिए मंत्र, योग, पूजा आदि धार्मिक कृत्य करता था।[5] सैनिक प्रयाण के समय प्रयाणनन्दी,[6] प्रयाण पटह[7] तथा भेरी[8] आदि बजाए जाते थे तथा सेना अत्यधिक चहल-पहल के साथ आगे बढ़ती थी।[9]

युद्ध भूमि में पहुँच कर सर्वप्रथम दूत भेजकर शत्रु नृपति से साम और भेद नीति का सहारा लिया जाता था।[10] शत्रु पक्ष द्वारा उस नीति का उल्लंघन करने पर युद्ध प्रारम्भ किया जाता था। समराइच्च कहा में विद्याधर राजाओं

१. बी० पी० मजूमदार—सोसियो एकोनामिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इंडिया, पृ० ५३।
२. सम० क० १, पृ० २८-२९; देखिए—नेमिचन्द्र शास्त्री—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ३७८।
३. सम० क० १, पृ० २७-२८; ५, ४६५-४६९; ७, ६९८-९९।
४. अग्निपुराण, पृ० २६३-२६७ तक, श्लोक १ से २३ तक।
५. ऋग्वेद २।३३।
६. अग्रवाल—कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २७०, २७२।
७. वही पृ० ११७, १२६, २०७, २१०।
८. वही ११७, १२६।
९. अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १४३-१४४-१४५।
१०. सम० क० ५, ४५८; ७, ७००, ७०१; देखिए—आवश्यक चूर्णी २, पृ० १९२; ज्ञातृधर्म कथा ८, पृ० १११-१२।

द्वारा पद्मव्यूह बनाकर युद्ध करने का उल्लेख है।[1] औपपातिक सूत्र में चक्रव्यूह, दंडव्यूह और सुचिव्यूह का उल्लेख है।[2] समराइच्च कहा में प्राप्त विवरणों से पता चलता है कि सैनिक तलवार, भाला, गदा, मुद्गर और धनुष-बाण से युद्ध किया करते थे।[3] इसी ग्रन्थ में मल्ल युद्ध का भी उल्लेख है।[4] यह दो योद्धाओं के बीच हथियार रखकर लड़ा जाता था।

दुर्ग

समराइच्च कहा में शत्रु के बाह्य आक्रमण के समय सुरक्षा की दृष्टि से दुर्गों का उल्लेख प्राप्त होता है।[5] दुर्ग के सबसे बड़े अधिकारी को कोट्टपाल कहा जाता था।[6] समराइच्च कहा में उल्लिखित किले की जानकारी एवं उसके उपयोग का महत्त्व वैदिक काल से ही प्राप्त होता है; जिसके अंतर्गत नगर, धन सम्पत्ति तथा जीवन की सुरक्षा की दृष्टि से नगरों को पत्थर की दीवालों से घेर कर रखा जाता था।[7] ऋग्वेद में उल्लिखित है कि शम्बर नामक दस्यु जो कि आर्यों का शत्रु था, के पास नब्बे,[8] निन्यानबे[9] अथवा सौ[10] किले थे। जातक से भी पता चलता है कि वैशाली नगर तिहरी दीवालों से घिरा था, जिसमें दरवाजे तथा निगरानी के लिए मीनार बने थे।[11] इसी प्रकार मिथिला नगर[12] तथा पोटली नगर[13] की किलेबन्दी के प्रमाण प्राप्त होते हैं।

१. सम० क० ५, ४६०, ४६५-६६-६७।
२. औपपातिक सूत्र ४०, पृ० १८६; तथा देखिए—प्रश्न व्याकरण, ३, पृ० ४४।
३. सम० क० ५, ४६४, ४६६।
४. वही ५, पृ० ४६९।
५. वही ८, पृ० ७३२; देखिए—पतंजलि महाभाष्य ३-२-४८, पृ० २१७।
६. वही ५, पृ० ४७२; तुलना के लिए देखिए—इपि० इण्डिया, १, १५४ में गुप्तकाल के कोट्टपाल नामक केन्द्रीय कर्मचारी का उल्लेख है; अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ३९; अल्तेकर—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० १०५।
७. चक्रवर्ती—आर्ट आफ वार इन एंसियन्ट इण्डिया, पृ० १२७।
८. ऋग्वेद १, १३०, ७।
९. वही २, १९, ६।
१०. वही २, १४, ६।
११. कावेल—जातक १, ३१६।
१२. वही ६, ३०।
१३. वही ३, २।

चौथी शताब्दी ई० पू० में सभी राज्य की राजधानियों में सुरक्षा की दृष्टि से किलेबन्दी की गई थी।[1] उस समय नगरों को दीवालों से सुरक्षित रखा जाता था और दीवालों के भीतर दरवाजों और मीनारों से युक्त किलेबन्दी की जाती थी।[2]

कौटिल्य ने दुर्ग को राज्य के प्रमुख सप्तांगों में से एक माना है जिसे कोष, मित्र और सेना से अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता था।[3] किले के अभाव में राजा का कोष शत्रु के हाथ में गया हुआ समझना चाहिए। कौटिल्य ने चार प्रकार के दुर्गों की व्यवस्था बतलाई है—औदक (जल), पार्वत (पहाड़ी), धान्वन (रेगिस्तानी) तथा वन दुर्ग। चारो ओर नदियों से घिरा हुआ बीच में टापू के समान, अथवा बड़े-बड़े गहरे तालाबों से घिरा हुआ मध्य स्थल प्रदेश यह दो प्रकार का औदक दुर्ग कहलाता है। इसी प्रकार बड़े-बड़े पत्थरों से घिरा हुआ अथवा स्वाभाविक गुफाओं के रूप में बना हुआ पर्वत दुर्ग; जल तथा घास आदि से रहित अथवा सर्वथा ऊसर में बना हुआ धान्वन दुर्ग; और चारों ओर दल-दल अथवा काँटेदार झाड़ियों से घिरा हुआ वनदुर्ग नाम दिया गया है।[4]

मौर्य काल के पश्चात् हजारों वर्षों तक किसी बड़े आक्रमण के न होने के कारण किलेबन्दी में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।[5] चीनी यात्रियों और मुस्लिम इतिहासकारों के वर्णन से भी निष्कर्ष निकलता है कि गुप्त काल तथा इसके पश्चात् भी किलेबन्दी में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।[6]

मुस्लिम इतिहासकारों ने दुर्गों के महत्व को ध्यान में रखते हुए इस बात को स्वीकार किया है कि सुल्तान महमूद राजगिरि और लाहौर के दुर्गों की अजेयता के कारण काश्मीर विजय की योजना न बना सका।[7]

मुस्लिम आक्रमण के समय भारत में बहुत से दुर्ग विद्यमान थे; यथा—मध्य भारत में कालिंजर, ग्वालियर, अजयगढ़ और मनियागढ़; राजपूताना में चित्तौड़-

१. चक्रवर्ती—आर्ट आफ वार इन ऐंसियन्ट इंडिया, पृ० १३१।
२. मैक्क्रिण्डिल—इण्डिया एण्ड इट्स इनवेजन बाई अलेक्जेण्डर, पृ० १४५-४६, २८८।
३. अर्थशास्त्र ६. १।
४. वही २, ३।
५. चक्रवर्ती—आर्ट आफ वार इन ऐंसियन्ट इंडिया, पृ० १३८।
६. वही पृ० १३८।
७. सचाऊ १, २०८।

गढ़, रणथंभौर और मंदौर (प्राचीन कस्व मंदोदर);[1] पंजाब में—भीरा (भाटिया) और कांग्रा (नगर कोट, भीम नगर), काश्मीर में लोहार कोट्ट, वनमाल और सिरह शिला आदि दुर्ग।

पूर्व मध्यकाल में दुर्गों का काफी महत्व था। इन दुर्गों के कारण आक्रमणकारी को विजय प्राप्त करने में बाधा उपस्थित होती थी। घेरा लम्बे समय तक चलाना पड़ता था तथा उस राज्य अथवा नगर को विजित करने में काफी समय लग जाता था।[2] तराइन के प्रथम युद्ध (११९१ ई०) के पश्चात् पृथ्वीराज की अध्यक्षता में राजपूतों ने सरहिंद के किले का घेरा डाल दिया किन्तु दुर्ग की रक्षा करने वाली सेना को शर्तों पर हथियार डालने में तेरह माह का समय लग गया।[3] इस प्रकार समराइच्च कहा में उल्लिखित दुर्ग के महत्व का स्पष्टीकरण प्राचीन तथा पूर्व मध्यकालीन प्रमाणों से होता है जो कि सुरक्षा की दृष्टि से अत्यधिक आवश्यक समझा जाता था।

अस्त्र-शस्त्र

समराइच्च कहा में कुछ अस्त्र-शस्त्रों का उल्लेख है जो प्राचीन सैनिकों के प्रधान आयुध थे।

छुरिका[4]—यह कटार की भाँति छोटी एवं तेज नोंक तथा धार वाला आयुध था। इससे चपके से तथा करीब से प्रहार किया जाता था।

मण्डलाग्र[5]—यह एक प्रकार की तलवार थी जिसका अग्रभाग मण्डलाकार (गोल) होता था।

करवालि[6]—आधुनिक करौली, जो तलवार से छोटी होती थी। यशस्तिलक में इसे कौक्षेपक कहा गया है।[7]

खड्ग[8]—तलवार का दूसरा नाम।

१. इपि० इण्डि०—९, पृ० २८; १, पृ० १३।
२. देखिए—इलियट १, १४७।
३. वही २, २९६।
४. सम० क० ७, पृ० ६४१, ६४९, ७१४-१५।
५. वही ६, पृ० ५३३, ६०१; ७, ६४१, ६४९, ६५९, ६६९, ७२८।
६. वही ७, पृ० ६४१।
७. यशस्तिलक पृ० ४४, ५५७।
८. सम० क० ६, ५३०; ९, ९६५; देखिए—यशस्तिलक, पृ० १४७ उत्त० तथा पृ० ३६६।

धनुष-बाण[1]—यह प्राचीन काल का प्रधान आयुध था। रामायण तथा महाभारत काल में बाण-विद्या को युद्ध कला का श्रेष्ठ अंग समझा जाता था।

शूल[2]—यह भाले के आकार का तेज और नुकीला होता था। संभवतः शूल से ही शूली बना है जिस पर लटका कर अपराधी को मृत्यु दंड दिया जाता था।

त्रिशूल[3]—इसके अग्रभाग पर शूल के समान ही तीन तीक्ष्ण धार होती थी।

परशु[4]—फरसा जो तेज तथा दीर्घ घाव करने वाला होता था।

कटार[5]—यह छुरिका से बड़ी तथा तलवार से छोटी तीक्ष्ण धार तथा नोक वाली होती थी।

शक्ति[6]—भाले के समान तीक्ष्ण हथियार था।

चक्र[7]—तेज किस्म के लोहे से निर्मित पहिए की तरह गोल आकार का होता था।

असि[8]—एक प्रकार की छोटी तलवार। यशस्तिलक में असि धेनुका[9],

---

१. सम० २, ५, ४४५-४६, ६, ५०५, ५१३, ५३२, ७, ६६७-६८; ८, ८०१, ८०२; ९, पृ० ९३२; देखिए—अग्निपुराण ८।१७५, ४४।१८९ (अग्नि बाण), ३०।१६२ (अमोघ बाण); यशस्तिलक, पृ० ५९९, श्लोक ४६५, पृ० ६६ तथा जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति २, पृ० १२८-अ में नाग बाण, तामस बाण, पद्म बाण, वाह्नि बाण, महापुरुष बाण और महारुधिर बाण का उल्लेख है।

२. वही ६, पृ० ५३१।

३. सम० क० ६, ५३०; ९, ९३५; देखिए—यशस्तिलक, पृ० ५६०।

४. वही ४, ४४५-४६; देखिए—यशस्तिलक, पृ० ५५६।

५. वही ६, ५०५; देखिए—यशस्तिलक, पृ० ४६७।

६. वही ५, ४६८-६९, ९, ९६५; देखिए—यशस्तिलक, पृ० ५६२। महाभारत आदि पर्व ३०।४९; रघुवंश १२।७७।

७. वही ६, पृ० ४६८, ९, ९६५; आदि० ६।१०३, १५।२०८, ४४।१८०; यशस्तिलक, पृ० ३९०, ५५८।

८. वही ९, ९६५; देखिए—आदि० ३७।८४, ९।४१, १०।५६, ५।२५०, १५।२० तथा ४४।१८०।

९. यशस्तिलक, पृ० ५६१।

कुमारसंभव[1] तथा मेघदूत[2] में अशनिका और रामायण[3] में असनिधा नाम दिया गया है।

गदा[4]—इसे मुग्दर भी कहा जाता है। महाभारत के भीम गदा युद्ध में निपुण थे।

न्याय व्यवस्था

समराइच्च कहा के उल्लेख से स्पष्ट होता है कि न्यायपालिका का प्रमुख अधिकारी राजा स्वयं होता था। प्रारम्भ में मुकदमों की जाँच मंत्री अथवा अन्य अधिकारी करते थे और तत्पश्चात् मुकदमें राजा को सौंपे जाते थे।[5] राजा भी न्यायपालिका के अधिकारियों की सलाह से निर्णय देता था।[6] कभी-कभी नगर के प्रमुख व्यक्ति मिलकर किसी वाद-विवाद सम्बन्धी मामलों पर निर्णय देते थे और निर्णय उभय पक्ष को मान्य होता था।[7] राजाज्ञा के विरुद्ध आचरण करने वाले को कठोर-दण्ड दिया जाता था।[8] अपराध करने वाली स्त्रियों को तथा राजद्रोही पुत्र को देशनिर्वासन की सजा दी जाती थी।[9] तत्कालीन धार्मिक परम्परा के अनुसार स्त्रियाँ अवध्य मानी जाती थीं। अतः उन्हें मृत्यु दण्ड की जगह देश निर्वासन की सजा ही दिए जाने का विधान था।[10] राजा-महाराजा न्यायप्रिय होते थे। न्याय में भेद-भाव नहीं किया जाता था। वही सर्वोच्च न्यायधिकारी था तथा अपने सामने उपस्थित किए गए अभियोग का अधीनस्थ न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध अपील सुनता था।[11] राजा यथा संभव स्वयं न्याय करता था। अधिक कार्य के कारण 'प्राड्विवाक' या प्रधान न्यायधीश[12] उसका

१. कुमारसंभव ८।८३।
२. मेघदूत ८।८७।
३. रामायण—सुन्दर काण्ड ४।२०—शक्ति वृक्षायुधांश्चैवपट्टि शासनिधारिणः।
४. सम० क० ५, ४६२, ४६०; देखिए—आदि० ४४।१४३; वेणीसंहार १।१५—'सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू'।
५. वही ४, २५९; देखिए—मनुस्मृति ८।४-७।
६. वही ६, ५८१।
७. वही ६, ६९८।
८. वही ७, पृ० ६४२।
९. वही २, ११५; ४, २८६; ७, ६४३।
१०. वही ५, ३६२; ६, ५६०-६१।
११. अल्तेकर—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० १५०।
१२. वही पृ० १५०।

कार्य संभालते थे। राजद्रोह का अपराध गुरुतर था।[1] सप्त प्रकृति यथा राजा, अमात्य आदि के प्रति शत्रु भाव रखना भी महान् अपराध था और उसके लिए जीवित अग्नि में जलाने का विधान था। मनु ने राजाज्ञा का उल्लंघन करने वालों को तथा चोरी करने वालों को एक ही श्रेणी का अपराधी माना है।[2] वादी तथा उसकी सूचना के बिना ही चरों से प्राप्त सूचना के आधार पर राजा अपराधी को दण्ड देता था।[3] समराइच्च कहा में स्त्री को अवध्य बताकर उसे राज्य से निर्वासित करने का उल्लेख है; किन्तु याज्ञवल्क्य ने गर्भपातिकी एवं पुरुष को मारने वाली स्त्रियों को मृत्यु दण्ड तक का भागी बताया है।[4] मैकडोनल और कीथ के अनुसार मौर्य काल में भी कठोर दण्ड की व्यवस्था थी।[5]

दण्ड व्यवस्था चोरी

हरिभद्र कालीन भारतीय शासन पद्धति के अन्तर्गत दण्ड व्यवस्था कठोर थी। साधारण से साधारण अपराध पर कठोर दण्ड दिया जाता था। समराइच्च कहा में धर्मशास्त्रों के अनुसार पुरुष घातक तथा परद्रव्यापहारी की उसके जीते ही आँख, नाक, कान हाथ तथा पाँव काट कर अंग भेद किया जाता था।[6] मौर्यकाल में कठोर दण्ड व्यवस्था थी।[7] फाहियान के अनुसार उत्तर भारत में मृत्यु दण्ड नहीं था। चोल और हर्ष के शासन काल में ऐसे दण्ड की कमी थी।[8] चोरी होने पर राजा द्वारा नगर भर में यह कह कर घोषणा करायी जाती थी कि यदि किसी के घर में चोरी का सामान मिलेगा तो उसे शारीरिक दण्ड दिया जायगा तथा उसका सारा धन भी छीन लिया जायेगा।[9] नगर भर में चोरों का पता लगाया जाता था और अपराध सिद्ध होने पर अभियुक्त को मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। अपराधी के शरीर में तृण तथा कालिख पोत कर डिम-

---

१. बृहस्प० १३।१६।
२. मनु० ९।२७५।
३. हरिहरनाथ त्रिपाठी—प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका, पृ० २१५।
४. याज्ञ० २।२६८।
५. वैदिक इंडेक्स, वाल्यूम-१, पृ० ५५।
६. सम० क० २, पृ० ११७; ४, ३२६-२७।
७. वैदिक इंडेक्स वाल्यूम १, पृ० ५५।
८. हरिहरनाथ त्रिपाठी—प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका, पृ० २४६।
९. सम० क० २. १११।

डिम की आवाज के साथ यह घोषणा करते हुए नगर भर में घुमाया जाता था कि इस व्यक्ति को अपने कृत्यों के अनुसार दण्ड दिया जा रहा है। अतः यदि दूसरा व्यक्ति भी ऐसा अपराध करेगा तो उसे भी इसी प्रकार का कठोर दण्ड दिया जायेगा और तत्पश्चात् उसे चाण्डाल द्वारा श्मशान भूमि पर ले जा कर मृत्यु दण्ड दिया जाता था।[१] अभियुक्त को नगर भर में वाद्य के साथ घोषणा पूर्वक घुमाने का तात्पर्य लोगों को अपराध न करने के लिए भयभीत करना था ताकि नगर अथवा राज्य में अपराधों की कमी हो।

सेंध लगाकर चोरी करने वालों का अपराध सिद्ध होने पर राजाज्ञा द्वारा अपराधी को शूली पर लटका कर मृत्यु दण्ड दिया जाता था।[२] छल-कपट तथा धूर्तता करने वालों को भी मृत्यु दण्ड दिया जाता था।[३] आचारांग चूर्णी से पता चलता है कि चोरी करने वाले को कोड़े लगवाये जाते थे अथवा विष्टा भक्षण कराया जाता था।[४] आदि पुराणकार के अनुसार अपराध सिद्ध होने पर अभियुक्त को मृत्तिका भक्षण, विष्टा भक्षण, मल्लों द्वारा मुक्के तथा सर्वस्व हरण आदि प्रकार का दण्ड दिया जाता था।[५]

वैदिक काल में भी चोरी को अपराध माना गया है।[६] गाय एवं वस्त्र आदि के चोरों को 'तयुस' कहा गया है।[७] चोरी के अपराधी को राजा के सामने उपस्थित किया जाता था तथा उनपर चोर के चिह्न लगाने का उल्लेख है।[८] स्मृतियों में चोरों का पता लगाने के विविध प्रकार बताए गये हैं, यथा—जो व्यक्ति अपने निवास स्थान का पता नहीं बताता, संदेहपूर्ण दृष्टि से देखता हो, अनुचित स्थान पर रहता हो, पूर्व कर्म से अपराधी हो, जाति आदि छिपाता हो, जुआ, सुरा और सुन्दरी के सम्पर्क में रहता हो, स्वर बदल कर बात करता हो, अधिक खर्च करता हो पर आय के स्रोत का पता न हो, खोई हुई वस्तु या

---

१. समरा० क० ४, २५९-६०, २६२; ५, ३६७; ६, ५२३-२४, ५०७-८; ५९७-९८; ९, ९५७।

२. वही ३, १८४, २१०; ७, ६६९, ७१६।

३. वही ६, ५६०-६१।

४. आचारांग चूर्णी २, पृ० ६५; देखिए—पतंजलि महाभाष्य ५, १, ६४, ६५, ६६।

५. आदि० ४६।२९२-९३।

६. ऋग्वेद ४।३८।५, ५।१५।

७. वही १०।४।६, ४।३८।५, ६।१२।५।

८. वही १।२४।१४-१५, ७।८६।५, ५।७९।९, १।२४।१२-१३।

पुराना माल बेचने वाला हो, दूसरे के घर के पास वेष बदल कर रहता हो, उसे चोर समझना चाहिए।[1] स्मृतियों में चोरी करने वालों को कठोर दंड का भागी बताया गया है। बहुमूल्य रत्नों की चोरी के लिए मनु ने मृत्यु दण्ड का विधान बताया है।[2] सेंध लगाकर चोरी करने वालों को शूली की सजा दिये जाने का निर्देश है।[3] मनुस्मृति में एक अन्य स्थान पर राजकोष एवं मंदिर की वस्तु, अश्व रथ, गज आदि की चोरी करने वाले को मृत्यु दंड का भागी बताया गया है।[4] स्मृतियों में चोर के कार्य में सहायता पहुँचाने वाले को भी चोर के समान दंड दिये जाने का उल्लेख है।[5]

पुलिस-विभाग—दण्डपाशिक

पुलिस विभाग का प्रमुख अधिकारी दण्डपाशिक कहलाता था।[6] इसकी नियुक्ति राजा द्वारा की जाती थी। वह सतर्कता एवं अपराध का निरीक्षण करता था और तत्पश्चात समुचित दण्ड देता था।[7] मुकदमे दण्डपाशिक के बाद मंत्रिमंडल में ले जाए जाते थे और तत्पश्चात राजा उस पर अंतिम निर्णय देता था।[8] दंडपाशिक (चोरों को पकड़ने का फंदा धारण करने वाला) का उल्लेख पाल, परमार, तथा प्रतिहार अभिलेखों में भी प्राप्त होता है।[9] यह पुलिस विभाग का एक अधिकारी था जो विभिन्न भागों में नियुक्त रहते थे। दंडपाशिक दंड भोगिक के समान था जिसे पुलिस मजिस्ट्रेट कहा जा सकता है।[10]

---

१. याज्ञ० २।२६६-६८; नारद० परिशिष्ट २।१२।
२. मनु० ८।३२३।
३. वही ९।२७६।
४. वही ९।२८०।
५. मनु० ९।२७१; याज्ञ० २।२७६।
६. सम० क० ४, ३५८-५९-६०; ६, ५०८-५२०-५२३; ७, ७१४, ७१५-७१६, ७१८; ८, ८४७-४८; ९, ९५७; देखिए—इंडि० हिस्टा० क्वार्टर०, दिसम्बर १९६०, पृ० २६६।
७. वही ६, ५९७-९८-९९; देखिए—डी० सी० सरकार—इंडियन इपिग्रैफिकल ग्लासरीज, पृ० ८१।
८. वही ८, ८४९-५०।
९. हिस्ट्री आफ बंगाल भाग १, पृ० २८५; इपि० इण्डि० १९, पृ० ७३; ९, पृ० ६; देखिए—सिन्धी जैन ग्रन्थ माला, १, पृ० ७७; तथा डी० सी० सरकार—इण्डि० इपि०, पृ० ७६।
१०. इपि० इण्डि० १३, पृ० ३३९।

समराइच्च कहा में कालदण्डपाशिक[१] का भी उल्लेख प्राप्त होता है। संभवतः यह दण्डपाशिक से उच्च अधिकारी होता था जो गंभीर मुकदमों की निगरानी कर अभियुक्त को मृत्यु दण्ड देता था।

अर्थशास्त्र[२] तथा कामसूत्र[३] में नगर के प्रमुख अधिकारी को नागरक कहा गया है। कुछ समालोचकों ने नागरक की व्याख्या दण्डपाशिक के समान की है।[४] समराइच्च कहा में उल्लिखित दण्डपाशिक और कालदण्डपाशिक तथा अन्य उपरोक्त साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि दण्डपाशिक पुलिस विभाग का प्रमुख अधिकारी था जो चोर-डाकुओं का पता लगा कर उनको दंडित भी करता था। अतः वह न्यायिक जांच के पश्चात् दण्ड भी देने का कार्य करता था।

पुलिस विभाग का दूसरा कर्मचारी प्राहरिक[५] कहलाता था जो नगरों तथा गांवों में चोर-डाकुओं से सुरक्षित रखने में सहायता करता था। ये प्रहरी (पहरा देनेवाले) पुलिस कर्मचारी होते थे। कादम्बरी में भी प्राहरिक,[६] यामिक[७] और यामिक लोक[८] (पहरे के सिपाही) का उल्लेख है। यहाँ ये याम अर्थात् रात्रि के समय नगर आदि में सुरक्षा की दृष्टि से पहरा देने के कारण यामिक और यामिक लोक कहे गये हैं।

समराइच्च कहा में अन्य पुलिस कर्मचारी यथा नगर रक्षक[९] तथा आरक्षक[१०] आदि का भी उल्लेख है। दशरथ शर्मा के अनुसार राज्य की ओर से गांवों की सुरक्षा एवं शान्ति व्यवस्था बनाए रखने के लिए रक्षकार नियुक्त किये जाते थे।[११] किन्तु यहाँ समराइच्च कहा में केवल नगर रक्षक का ही उल्लेख है। नगर

---

१. सम० क० ३, २१२, ८, ३२१।
२. अर्थशास्त्र २, ३६।
३. कामसूत्र पंक्ति ५-९।
४. डी० सी० सरकार—इण्डि० इपि० ग्लासरीज पृ० २०९।
५. सम० क० ८, ८२५।
६. अग्रवाल—कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २६७, २७०।
७. कादम्बरी ९४।१११, २१७।२२२।
८. वही २६८।२७०।
९. सम० क० ४, पृ० २७० (तओ आउलीहूय नायरया नयरारक्खिया); ५, ३८७।
१०. वही २, १५५-१६; ४, ३२६; ५, ४५७; ६, ५०९, ५१९, ५२२, ५९७।
११. दशरथ शर्मा—अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ० २०७।

रक्षक संभवतः नगर की रक्षा के लिए पुलिस अथवा सैनिकों का एक जत्था नियुक्त रहता था। आरक्षक का तात्पर्य सुरक्षा सैनिक से है जो नगरों और गाँवों में शान्ति एवं सुरक्षा बनाए रखने में सहायता करते थे। आरक्षकों को आधुनिक पी० ए० सी० की श्रेणी में रखा जा सकता है जो केवल आन्तरिक सुरक्षा के ही काम आते थे।

ग्राम तथा नगर शासन 'पंचकुल'

समराइच्च कहा में 'पंचकुल'[1] का उल्लेख हुआ है जो पाँच न्यायिक अधिकारियों की एक समिति होती थी। समराइच्च कहा में उल्लिखित पंचकुल आधुनिक ग्राम पंचायत की भाँति पाँच अधिकारियों की एक न्यायिक समिति होती थी। इनका निर्वाचन धन और कुल के आधार पर होता था।[2] अतः स्पष्ट होता है कि पंचकुल के ये सदस्य धनी, सम्पन्न एवं कुलीन होते थे।

कौटिल्य के अनुसार राजा को चाहिए कि प्रत्येक अधिकरण (विभाग) में बहुत से मुख्यों (प्रमुख अधिकारी) की नियुक्ति करे जो न्यायिक जाँच करे, किन्तु उन्हें स्थायी नहीं रहने दिया जाय।[3] मौर्य काल में अन्यत्र भी इसका संकेत प्राप्त होता है, क्योंकि मेगस्थनीज ने नगर तथा सैनिक प्रबन्ध के लिए पाँच सदस्यों की समिति का उल्लेख किया है।[4] गुप्त काल में भी पाँच सदस्यों की ग्राम समिति को 'पंचमण्डली' कहा जाता था।[5] इससे पता चलता है कि पाँच व्यक्तियों का यह बोर्ड बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है।

गुजरात में विशालदेव के पोरबन्दर नामक अभिलेख से पता चलता है कि पंचकुल को सौराष्ट्र का प्रशासक नियुक्त किया गया था।[6] आठवीं शताब्दी के अंत में हुंड (प्राचीन उद्भण्डपुर) के सारदा अभिलेख में पंचकुल का उल्लेख है।[7] गुजरात में प्रतिहार नरेश के सियादोनी अभिलेख में पंचकुल का पाँच बार उल्लेख आया है।[8] विक्रम संवत् १३०६ के चाहमान अभिलेख[9] तथा विक्रम संवत्

१. सम० क० ४, २७०-७१; ६, ५६०-६१।
२. निशीथ चूर्णी २, पृ० १०१।
३. अर्थशास्त्र २।९।
४. मैक्क्रिंडिल—मेगस्थानीज फ्रेगमेंट XXXIV, पृ० ८६-८८।
५. अल्तेकर—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० १७७।
६. पूना ओरियन्टल २।२२५।
७. इपि० इंडि० २२, पृ० ९७।
८. वही १, पृ० १७३।
९. वही ११, पृ० ५७।

१३३६ के भीमनाल अभिलेख[1] में पंचकुल का उल्लेख हुआ है और दोनों अभिलेखों से पता चलता है कि पंचकुल राजा द्वारा नियुक्त किये जाते थे। १३४५ के चौहान अभिलेख[2] में भी पंचकुल का उल्लेख है जिन्हे दूसरे स्थान पर ग्राम पंचकुल[3] कहा गया है। एक अन्य अभिलेख में पंचकुल को महामात्य के साथ उद्धृत किया गया है।[4] सौराष्ट्र के शक संवत् ८३९ के एक अभिलेख में पंचकुलिक का उल्लेख है जो संभवतः पंचकुल के पाँच सदस्यों की समिति में से एक था।[5] इसी प्रकार संग्रामगुप्त के एक अभिलेख में महापंचकुलिक[6] का उल्लेख है जो एक उच्च अधिकारी जान पड़ता है। गुप्त सम्राटों के दामोदर प्लेट में 'प्रथम कुलिक' का उल्लेख है।[7] यहाँ मजूमदार ने भी पंचकुल को पाँच सदस्यों का एक बोर्ड माना है जिसमें से प्रत्येक को पंचकुलिक और उनके मुख्य-अधिकारी को महापंचकुलिक बताया है।[8]

समराइच्च कहा में पंचकुल को राजा के साथ बैठकर मुकदमे की निगरानी तथा उनके (पंचकुल) परामर्श से राजा द्वारा उचित निर्णय देने का उल्लेख है।[9] हर्षचरित से भी पता चलता है कि प्रत्येक गाँव में पंचकुल संज्ञक पाँच अधिकारी गाँव के करण या कार्यालय के व्यवहार (न्याय और राजकाज) चलाते थे।[10] प्रबन्ध चिन्तामणि तथा अन्य कथाओं में भी पंचकुल का उल्लेख है।[11]

ऊपर के अभिलेखीय तथा साहित्यिक साक्ष्यों से पता चलता है कि पंचकुल का निर्वाचन राजा द्वारा किया जाता था जो गाँव तथा नगर के मुकदमों का न्यायिक जाँच कर राजा, मंत्री तथा अन्य अधिकारियों के परामर्श से निर्णय भी देते थे। राजपूताना में १२७७ ई० के भीमनाल अभिलेख में पंचकुल के सदस्यों द्वारा

१. बाम्बे गजेटियर I, ४८०, नं० १२।
२. इपि० इंडि० ११, पृ० ५८।
३. वही ११, पृ० ५०।
४. नाहर—जैन इन्सक्रिप्सन्स २४८—'महामात्य प्रभृति पंचकुला।
५. इंडि० एंटी० १२, पृ० १९३-९४।
६. जर्नल आफ दी बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी ५, ५८८।
७. इपि० इंडि० १५, ११३-१४५।
८. ए० के० मजूमदार—चालुक्याज आफ गुजरात, पृ० २३२।
९. सम० क० ६, ५६०-६१।
१०. वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २०३।
११. सिन्धी जैन ग्रन्थमाला, १, पृ० १२, ५७, ८२।

एक दान दिये जाने का वर्णन है।[1] साक्ष्यों के आधार पर यह प्रकट होता है कि पंचकुल मंत्री और गवर्नरों से सम्बन्धित थे तथा कभी-कभी नगर के अधीक्षक का भी चार्ज लेते थे, किन्तु अन्य विद्वानों के अनुसार उनके (पंचकुल) कार्य किसी निश्चित सीमा (नगर-गांव अथवा मंत्री) तक सीमित न थे।[2]

कारणिक

पंचकुल की भाँति समराइच्च कहा में अपराध की न्यायिक जांच करते हुए कारणिक[3] का उल्लेख किया गया है। अन्य प्राचीन जैन ग्रन्थों में न्यायाधीश के लिए कारणिक अथवा रूप यक्ष (पालि में रूप दक्ष) शब्द का प्रयोग हुआ है।[4] रूप यक्ष को माठर के नीतिशास्त्र और कौडिन्य की दण्डनीति में कुशल होना तथा निर्णय देते समय निष्पक्ष रहना बताया गया है।[5] उत्तराध्ययन[6] टीका में उल्लिखित है कि करकण्डु और किसी ब्राह्मण में एक बाँस के डण्डे को लेकर झगड़ा हो गया। दोनों कारणिक के पास गये। बाँस करकण्डु के श्मशान में उगा था, इसलिए उसे दे दिया गया। बृहत्कल्प भाष्य[7] में भी उल्लिखित है कि अपराधी को राजकुल के कारणिकों के पास ले जाया जाता और अपराध सिद्ध होने पर घोषणापूर्वक दण्डित किया जाता था। सोमदेव ने करणी (कारणिक) के पांच प्रकार के कार्य एवं अधिकार गिनाया है, यथा—(१) अदायक (राज की आय को एकत्र करने वाला) (२) निबन्धक (लेखा-जोखा का कार्य करने वाला), (३) प्रतिबन्धक (सील का अध्यक्ष), (४) नीति ग्राहक (वित्त विभाग का कार्य), (५) राज्याध्यक्ष (इन चारों का अध्यक्ष)।[8] कर्णाटक के कलचुरि शासन में पाँच

---

१. अल्तेकर—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० १७८।

२. ए० के० मजूमदार—चालुक्याज आफ गुजरात, पृ० २४०।

३. सम० क० ४, पृ० २७१। नीया पंचउल समीवं, पुच्छिया पंचउलिएहि 'कओ तुब्भे' त्ति। तेहि भणियं—'सावत्थीओ।' कारणिएहि भणियं—कहि गमिस्सह त्ति। तेहि भणियं सुसम्भ नयरं। कारणिएहि भणियं किंनिमित्तं त्ति—कारणिएहि भणियं-आत्थे तुम्हाणं किंचि दविणजायं....।

४. जगदीशचन्द्र जैन— जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ६४।

५. व्यवहारभाष्य १, भाग ३, पृ० १३२।

६. उत्तराध्ययन टीका ९, पृ० २३४।

७. बृहत्कल्पभाष्य १। ९००, ९०४-५।

८. जी० सी० चौधरी—पोलिटिकल हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्डिया फ्राम जैन सोर्सेज, पृ० ३६२।

अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। इन्हें 'करणम' कहते थे। इनका कार्य यह देखना था कि सार्वजनिक धन का दुरुपयोग न हो, न्याय की व्यवस्था ठीक हो तथा राजद्रोहियों और उपद्रवियों को समुचित दंड मिले।[1]

समराइच्च कहा में उल्लिखित कारणिक का प्रमुख कार्य राज्य की आय-व्यय आदि का लेखा-जोखा तो था ही इसके साथ-साथ वह न्यायिक जांच का भी कार्य करता था जैसा कि ऊपर के साक्ष्यों द्वारा पुष्ट होता है।

●

१. इपिग्रैफिया कर्णाटिका भाग ७, शिकारपुर संवत् १०२ और १२३।

चतुर्थ अध्याय

सामाजिक स्थिति

वर्ण एवं जाति-व्यवस्था

प्राचीन भारतीय समाज विभिन्न प्रकार के वर्णों एवं जातियों में विभाजित था। समाज का यह विभाजन सामाजिक (वंश परंपरा तथा रीति-रिवाजों के कारण), आर्थिक (आजीविका की दृष्टि से), राजनैतिक, धार्मिक एवं भौगोलिक परिस्थितियों का परिणाम था। धर्म शास्त्रों के आधार पर जाति व्यवस्था के कुछ विशिष्ट गुण बताये गये हैं और इन्हीं गुणों के कारण एक जाति दूसरी जाति से भिन्न आचरण करती हुई पायी गयी है। वे गुण हैं—वंश परम्परा, जाति के भीतर ही विवाह करना एवं एक ही गोत्र में या कुछ विशिष्ट सम्बन्धियों में विवाह न करना, भोजन सम्बन्धी वर्जना, व्यवसाय (आजीविका के आधार पर जाति व्यवस्था), जाति श्रेणियाँ यथा कुछ उच्चतम और कुछ निम्नतम[1] आदि। जाति व्यवस्था की विशेषताओं पर आधुनिक समाजशास्त्र के विद्वानों के भी विचार धर्मशास्त्रीय विवेचन से कुछ मिलते-जुलते हैं। उनके अनुसार जाति कुटुम्बों का वह समूह है जिनका अपना एक निजी नाम है, जिसकी सदस्यता पैतृकता के आधार पर निर्धारित होती है, जिसके भीतर ही कुटुम्ब विवाह करते हैं और जिसका या तो अपना निजी पेशा होता है अथवा जो अपना उद्भव किसी पौराणिक देवता या पुरुष से बताते हैं।[2] काणे ने वर्ण और जाति में अन्तर बताते हुए लिखा है कि वर्ण की धारणा वंश, संस्कृति, चरित्र (स्वभाव) एवं व्यवसाय पर मूलतः आधारित है, जबकि जाति व्यवस्था जन्म एवं आनुवंशिकता पर बल देती है और बिना कर्त्तव्यों का विश्लेषण किये केवल विशेषाधिकारों पर ही आधारित है।[3] अतः मौलिक रूप में वर्ण और जाति के अर्थ में अन्तर दिखाई देता है।

हरिभद्र कालीन भारत के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक जातियाँ निवास करती थीं। उनके रहन-सहन एवं आचार-विचार का स्तर भिन्न था। यह विभिन्नता

१. पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० १०९।

२. राजेश्वर प्रसाद अर्गल—समाज शास्त्र, पृ० २०१—लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, हास्पिटल रोड, आगरा, सन् १९५६ ई०।

३. पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ११९।

सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं भौगोलिक स्थितियों के प्रभाव स्वरूप थी। समराइच्च कहा में आर्य एवं अनार्य जातियों का उल्लेख है। आर्य जातियों के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र ये चार वर्ण गिनाए गये हैं, शूद्र की कई शाखाएँ थीं, यथा—चाण्डाल, डोम्बलिक, रजक, चर्मकार, शाकुनिक और मछुआ आदि और अनार्य के अन्तर्गत शक, यवन, बर्बरकाय, मुरुण्डोड और गोड़ आदि जातियों का नाम गिनाया गया है।[1] इस आर्य और अनार्य जातियों में भेद माना जाता था। जिन जातियों के रहन-सहन का स्तर धर्म एवं उच्च आचार-विचार से प्रभावित था और जो विवेक से कार्य करते थे उन्हें आर्य कहा जाता था। किन्तु इसके विपरीत जिन्हें धर्म-कर्म एवं आचार-विचार का ज्ञान नहीं था तथा जो विवेक से कार्य नहीं करते थे उन्हे अनार्य (म्लेच्छ) कहा जाता था।

आर्य जाति के अन्तर्गत चातुर्वर्ण्य का उल्लेख किया गया है। इन चारो वर्णों की उत्पत्ति हमें ऋग्वेद के पुरुष सूक्त मे देखने को मिलती है। जिसमे उल्लिखित है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र की उत्पत्ति क्रम से विराट पुरुष (परम पुरुष) के मुख, बाहुओं, जांघों और पैरों से हुई।[2] अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों में भी चातुर्वर्ण्य का उल्लेख है।[3] जैन ग्रन्थ निशीथ चूर्णी मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन चार वर्णों का उल्लेख है।[4] आदि पुराण में उल्लिखित है कि व्रत संस्कार से ब्राह्मण, शस्त्र धारण से क्षत्रिय, न्याय पूर्ण धनार्जन से वैश्य और नीच वृत्ति से शूद्र की उत्पत्ति हुई।[5] इसी ग्रन्थ में एक अन्य स्थान पर उल्लेख है कि आदि ब्रह्मा ऋषभ देव ने तीन वर्णों की स्थापना की थी। शस्त्र धारण कर आजीविका चलाने वाले क्षत्रिय, खेती, व्यापार एवं पशु पालन आदि के द्वारा आजीविका चलाने वाले वैश्य तथा अन्य लोगों की सेवा शुश्रूषा करने वाले शूद्र कहलाये। शूद्रों की भी दो श्रेणियां थीं—कारु और अकारु, धोबी आदि शूद्र कारु और उनसे भिन्न अकारु कहे गये। कारु शूद्र भी स्पृश्य और अस्पृश्य

१. सम० क० ४, पृ० ३४८।

२. ऋग्वेद १०।९२।१२।

३. शतपथ ब्राह्मण ५।४।६।९; महाभारत—शांति पर्व, १८८।६-१४; मनु० १।३।

४. निशीथ चूर्णी ३, पृ० ४१३—'जहा वंभण जाति कुलेसु खत्तिसु सग्ग कुला, आदिसदातो वइस—सुदेसु वि।'

५. आदि० ३८।४५-४६।

भेद से दो प्रकार के थे। जो समाज के बाहर रहते थे उन्हें अस्पृश्य और जो समाज के अन्दर थे उन्हें स्पृश्य कहा जाता था, यथा नाई, सुवर्णकार आदि[१]। आदि पुराण के आधार पर कुछ विचारकों का मत है कि भरत ने अपने पिता ऋषभदेव द्वारा उपदिष्ट धर्म के प्रचारार्थ क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों में से वृत्ति भेद के आधार पर चौथे वर्ण अर्थात् ब्राह्मण की स्थापना की और उन्हें ब्रह्मसूत्र से अलंकृत किया। उन्होंने जैन धर्म एवं जैन-समाज में सभी वर्गों के लिए अलग-अलग क्रिया-कलाप निश्चित किये। यहाँ जैन धर्म एवं जैन समाज में म्लेक्ष तक को सम्मिलित होने की अनुमति थी[२]। यद्यपि समराइच्च कहा में आर्य एवं अनार्य का भेद बताया गया है फिर भी जैन धर्म में प्रविष्ट होने की छूट सभी को थी। जैन दृष्टि में तो वर्ग भेद वृत्ति भेद के अनुसार था।

समराइच्च कहा में आर्य और अनार्य जातियों के साथ-साथ विन्ध्यादि पर्वतीय क्षेत्रों में निवास करने वाली यक्ष,[३] नाग, किन्नर,[४] विद्याधर[५] तथा गन्धर्व[६] आदि जातियों का उल्लेख पाया गया है। ये लोग तंत्र-मंत्र की सिद्धि करते हुए अपना जीवन यापन करते थे।

ब्राह्मण

वैदिक काल से ही ब्राह्मणों को सभी वर्णों में श्रेष्ठ बताया गया है। हरिभद्र के समय मे ब्राह्मणों की यह श्रेष्ठता बनी रही।[७] वे पठन-पाठन के साथ यज्ञ-हवन आदि उत्तम कार्य में रत रहते थे।[८] राजदरबारों में भी उन्हें विशिष्ट स्थान प्राप्त था तथा वे राजाओं के सचिव आदि श्रेष्ठ पदों को सुशोभित करते थे।[९] अन्त्येष्टि क्रियाओं के बाद मृतक आत्मा की शान्ति के लिए ब्राह्मणों को

१ आदि० १६।१८४-८६।
२. देखिए—जैन एंटीक्वेरी, वाल्यूम ३, नं० १ में दी जैन क्रोनोलाजी, पृ० २९।
३. सम० क० ८, पृ० ८२१, ८२५, ८३१।
४. वही ५, पृ० ४५१।
५. वही ५, पृ० ४४८, ४५३-५४-५५, ४६३, ४६८।
६. वही ६, पृ० ५४५, ५४८; ८, पृ० ७५५।
७. सम० क० ८, पृ० ८२७; ९, पृ० ८९२।
८. वही २, पृ० १२१; ५, पृ० २७७, २८०; ६, पृ० ३९५, ४७८, ४८०, ४८७; ९, पृ० ९७८।
९. वही ३, पृ० १६२-१६३।

घर बुलाकर भोजन कराया जाता था।[१] विशिष्ट ब्राह्मणों को दान देने की भी प्रथा थी।[२]

स्मृतियों में ब्राह्मणों को जाति व्यवस्था की शिखा माना जाता था। क्षत्रिय उनकी आज्ञा का पालन करते थे तथा शूद्र उनकी सेवा करता था।[3] मनु के अनुसार ब्राह्मण को किसी भी प्रकार का शारीरिक दण्ड अथवा मृत्यु दण्ड नहीं दिया जा सकता था।[४] मनु ने लिखा है कि यदि कोई ब्राह्मण अपने परम्परागत व्यवसाय का पालन करते हुए—अपनी आजीविका कमाने में असमर्थ हो तो वह क्षत्रियों पर आश्रित रह सकता है।[५] ब्राह्मण वैदिक तथा पौराणिक विद्या के ज्ञाता होते थे। साथ ही वे नियमतः वैदिक क्रियाओं का अनुष्ठान करते, आहुति देते तथा एक गृहस्थ ब्राह्मण के लिए निर्धारित सभी कार्य करते थे।[६] कम पढ़े-लिखे ब्राह्मण स्वस्तिक गान (मन्त्रोच्चारण) तथा मन्दिरों पर पूजा आदि के द्वारा अपनी आजीविका चलाते थे।[७] जिनसेन ने आदिपुराण में तपाचरण करने-वाले तथा शास्त्रों के ज्ञाता को ब्राह्मण वर्ण वाला माना है, किंतु जो इन दोनों से रहित है उसे जाति ब्राह्मण माना है।[८] अतः ब्राह्मण का मुख्य कार्य तप, यज्ञ, एवं वेद शास्त्र का अध्ययन अध्यापन ही था।

यशस्तिलक में ब्राह्मणों को कई नामों से सम्बोधित किया गया है, यथा—ब्राह्मण,[९] द्विज,[१०] विप्र,[११] भूदेव,[१२] श्रोत्रिय,[१३] बाडव,[१४] उपाध्याय,[१५] मौहूर्तिक,[१६]

१. सम० क० ९, पृ० ९४५, ९५१; तुलना के लिए, देखिए—यशस्तिलक, पृ० ८८ "मुक्त्वा च श्राद्धामंत्रितैर्भूदेवैः।"
२. यशस्तिलक, पृ० ४५७, ददाति दानं—द्विज पुंगवेभ्यः।
३. पराशर स्मृति ८।३३।
४. मनु ८।३८।
५. मनु० १०।८१।
६. हर्षचरित ३, पृ० ८६; देखिए—महावीर चरितम् ४, पृ० १३९।
७. रत्नावली अंक १, पृ० १२।
८. आदि० ३८।४३।
९. यशस्तिलक, पृ० ११६, ११८, १२६—उत्तर खंड।
१०. वही पृ० ९०, १०५, १०८ उत्तर खण्ड।
११. वही पृ० ४५७।
१२. वही पृ० ८८ उत्तर खण्ड।
१३. वही पृ० १०३ उत्तर खण्ड।
१४. वही पृ० १३५ उत्तर खण्ड।
१५. वही पृ० १३१ उत्तर खण्ड।
१६. वही पृ० ३१६ पूर्व खण्ड; १४० उत्तर खण्ड।

देवभोगी,[१] तथा पुरोहित[२]। इन उल्लेखों से ब्राह्मण के महत्त्व एवं समाज में उनकी उत्कृष्ठ स्थिति का पता चलता है। इत्सिंग के अनुसार ब्राह्मण बहुत ही सम्माननीय जाति थी और उन्हें देवता कह कर आदर दिया जाता था।[3] अलबरुनी के अनुसार ब्राह्मण मानव जाति में सबसे उत्तम समझे जाते थे और अन्य वर्णों की तरह वह राजा की सेवा आदि के लिए बाध्य नहीं थे।[४] कश्मीर के राजा चन्द्रापीड के समय में (७१३-७२० ई०) एक हत्यारे ब्राह्मण को जाति की विशिष्टता के ही कारण किसी भी प्रकार का शारीरिक दण्ड नहीं दिया गया था।[५] प्राचीन काल में तपे लोहे से दागना तथा देश से निर्वासित कर देना ही ब्राह्मणों के लिए सबसे बड़ा दण्ड था।[६]

समराइच्च कहा के इस उल्लेख की पुष्टि अन्य साक्ष्यों से भी हो जाती है कि ब्राह्मण राजाओं के यहाँ सचिव आदि विशिष्ट पदों को भी सुशोभित करते थे। गर्ग गोत्रीय ब्राह्मण तथा उनके वंशज मंत्री के रूप में धर्मपाल तथा उसके उत्तराधिकारो देवपाल के दरबार में रहते थे।[७] कादम्बरी के उल्लेख से पता चलता है कि कुमारपाल[८] तथा शुकनास[९] जो कि क्रमशः शूद्रक और तारापीड के मंत्रो थे, ब्राह्मण थे। मंत्री एवं सचिव के अतिरिक्त कुछ ब्राह्मण शासक भी हुए हैं जो स्वभावतः सेनानो रह चुके थे, यथा—शुंग, सातवाहन, वाकाटक, कदम्ब एवं गुहिल वंशीय।

क्षत्रिय

समराइच्च कहा में क्षत्रियों को आर्य जाति की श्रेणी में ही गिनाया गया है।[१०] यद्यपि समराइच्च कहा में क्षत्रियों की सामाजिक स्थिति तथा उनके कार्य एवं व्यवसाय का पता नहीं चलता है फिर भी अन्यत्र इनकी स्थिति आदि के

१. यशस्तिलक पृ० १४० उत्तर खण्ड।
२. वही पृ० ३१६ पू० ख०, पृ० ३४५ उत्तर खण्ड।
३. तकाकुसू, पृ० २४ और पृ० १८२।
४. सचाऊ—अलबरुनीज इण्डिया २, पृ० १४९।
५. राजतरंगिणी ४, ९६।
६. पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० १४१।
७. राजतरंगिणी ४, १३७।
८. कादम्बरी, पृ० २६।
९. वही पृ० ११४।
१०. सम० क० ४, पृ० ३४८।

बारे में पूरी जानकारी प्राप्त होती है। ऋग्वेद में कई स्थानों पर राजन् शब्द का प्रयोग किया गया है।[१] यहाँ राजन् का अर्थ राजा से लगाया गया है। काणे के अनुसार वैदिक काल में प्रायः क्षत्रिय ही राजा होते थे।[२] ऐतरेय ब्राह्मण में आया है कि जब एक राजा को मुकुट पहना दिया जाता है तो यही समझा जाता है कि एक क्षत्रिय सबका अधिपति, ब्राह्मणों एवं धर्म की रक्षा करने वाला उत्पन्न हो गया है।[३] शतपथ ब्राह्मण मे उल्लिखित है कि क्षत्रियों को कोई भी कार्य आरम्भ करने के पूर्व ब्राह्मणों से सलाह ले लेनी चाहिए।[४] गौतम धर्म सूत्र में बताया गया है कि क्षत्रिय का मुख्य कर्तव्य समस्त प्राणियों की रक्षा तथा न्यायोचित दण्ड देना है।[५] मनु के अनुसार प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, विषय में आसक्ति न रखना आदि कर्म क्षत्रियों के लिए बनाए गये (ब्रह्मा द्वारा) थे।[६]

वैदिक काल से ही क्षत्रिय जाति प्रशासन एवं सुरक्षा आदि का कार्य करती थी। एक क्षत्रिय शासक को चारों वर्णों तथा वैदिक धर्म की सुरक्षा के लिए सबसे अधिक सम्माननीय उपाधि दी जाती थी।[७] ह्वेनसांग के अनुसार क्षत्रिय भारतीय समाज की दूसरी जाति थी जो वंश परम्परा के आधार पर प्रशासन कार्य करती थी।[८] अलबरूनी ने भी कहा है कि क्षत्रिय जाति प्रशासकों की जाति थी जो लोगों पर शासन तथा उनकी सुरक्षा का कार्य करती थी; क्योंकि उसकी (क्षत्रिय) उत्पत्ति इसी कार्य के लिए हुई थी।[९] किन्तु सातवीं शताब्दी में यह बात कुछ भिन्न सी लगती है क्योंकि ह्वेनसांग के समय में कामरूप और उज्जयिनी में ब्राह्मण शासक राज्य कर रहे थे।[१०] तत्कालीन भारत में दक्षिण कोशल, महाराष्ट्र और वल्लभी में क्षत्रिय शासक,[११] कन्नौज में वैश्य शासक[१२]

१. ऋग्वेद १०।४२।१०; १०।९७।६।
२. पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ११३।
३. ऐतरेय ब्राह्मण ३९।३।
४. शतपथ ब्राह्मण ४।१।४।६।
५. गौतम धर्मसूत्र २।१।७-८।
६. मनुस्मृति १।८९।
७. उत्तर रामचरितम् ६।९।
८. वाटर्स—आन युवान च्वांग, १, पृ० १६८।
९. सचाऊ, २, पृ० १३६।
१०. वाटर्स २, पृ० १८६ और २५०।
११. वाटर्स १, पृ० २००, २३९, २४६।
१२. वही १, पृ० ३००-३४३।

तथा मतिपुर और सिन्धु में शूद्र शासक राज्य कर रहे थे।[1] यद्यपि सातवीं शताब्दी में अन्य जातियाँ भी प्रशासक के रूप में कार्य कर रही थी फिर भी अधिक संख्या में क्षत्रिय जाति ही प्रशासन एवं सुरक्षा का कार्य कर रही थी।

वैश्य

प्राचीन भारतीय वर्ण व्यवस्था में वैश्यों का तीसरा स्थान था। यदि ब्राह्मण धार्मिक कार्यों से और क्षत्रिय राजनैतिक कार्यों से देश एवं समाज में व्यवस्था बनाए रखते थे तो वैश्य कृषि एवं व्यापार-वाणिज्य के द्वारा देश की समृद्धि बनाए रखने में योगदान देते थे। समराइच्च कहा में इन्हें वणिजक तथा वणिक् नामों से सम्बोधित किया गया है।[2] इनका मुख्य कार्य व्यापार-वाणिज्य ही था।

व्यापार-वाणिज्य के साथ-साथ पराशर ने वैश्यों के लिए ब्याज पर धन उधार देने की वृत्ति भी जोड़ दी है।[3] ह्वेनसांग के अनुसार वैश्यों का मुख्य पेशा व्यवसाय ही था।[4] खराब सड़कों तथा बिक्री कर आदि कठिनाइयों को झेलते हुए भी व्यापारी लोग अन्तर्देशीय व्यापार करते थे।[5]

यद्यपि वे सामाजिक सम्पन्नता की धुरी थे फिर भी समाज में उनकी स्थिति अच्छी नहीं थी। अलबरुनी ने लिखा है कि वैश्यों और शूद्रों की सामाजिक स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं था। वे लोग साथ-साथ एक ही कस्बे तथा एक ही गाँव में रहते थे और कभी-कभी तो एक ही घर में रहते हुए दिखाई देते थे।[6] अलबरुनी ने आगे यहाँ तक लिखा है कि वैश्य और शूद्र दोनों जातियों के लोग न तो वेद सुन ही सकते थे और न उसका उच्चारण ही कर सकते थे और यदि कोई ऐसा करता हुआ पाया भी जाता तो उसकी जिह्वा काट ली जाती थी।[7]

समराइच्च कहा में व्यापारियों के तीन वर्गों का उल्लेख है—वणिक अथवा वणिजक, सार्थवाह तथा श्रेष्ठी। अध्ययन की सुविधा के लिए व्यवसाय के

१. वाटर्स—१, पृ० ३२२; २, पृ० २५२।
२. सम० क० ४, पृ० २६८; ५, पृ० ३८३; ६, पृ० ५२३, ५६०।
३. पराशर स्मृति १।६६।
४. वाटर्स १, पृ० १६८।
५. उपमितिभवप्रपंचाकथा—सूरत एडी०, पृ० ५५४-५६।
६. सचाऊ १, पृ० १०१।
७. वही १, पृ० १२५।

आधार पर हम वैश्यों को चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। स्थानीय व्यापारी, कारवाँ व्यापारी, समुद्र पार तक व्यापार करने वाले तथा उद्योग पति,[1] किन्तु समराइच्च कहा में हम सार्थवाह को ही कारवाँ बनाकर देश के अन्दर तथा यथेष्ट लाभ न पाकर देश के बाहर समुद्र पार तक व्यापार करते हुए पाते हैं।

स्थानीय व्यापारी (वणिक्)

समराइच्च कहा में वणिक का उल्लेख किया गया है जो गांवों की हाटों में तथा छोटे छोटे शहरों में व्यापार करते थे।[2] ये स्थानीय व्यापारी कहे जा सकते हैं जो तत्कालीन भारत के स्थानीय लोगों की आवश्यकतानुसार वस्तुओं का क्रय-विक्रय कर यथेष्ट लाभ प्राप्त करते थे। यही उनकी आजीविका का प्रधान स्रोत था। प्रतिहार अभिलेख में वंका नामक एक व्यवसायी का उल्लेख है जो विभिन्न स्थानों से व्यापार के योग्य सामग्रियों का क्रय करता था।[3]

सार्थवाह

वैश्यों में दूसरा वर्ग सार्थवाह का था। ये लोग सार्थ (कारवाँ) बनाकर व्यापार के लिए देश के अन्दर दूरस्थ प्रदेशों को आया-जाया करते थे।[4] सार्थ बनाकर व्यापार करने के कारण ही इन्हें सार्थवाह कहा जाने लगा। सार्थ का शाब्दिक अर्थ व्यापारियों की टोली और वाह का अर्थ वहन करने वाला अर्थात् नेता (अगुआ) से लगाया जाता है। अतः स्पष्ट है कि सार्थवाह सार्थ (कारवाँ) का नेता होता था। धीरे-धीरे वैश्यों में यह एक महत्त्वपूर्ण वर्ग बन गया।[5] व्यापार में समुचित लाभ प्राप्त करने के लिए ये लोग जलयानों द्वारा समुद्र-पार के द्वीपों में भी जाया करते थे[6]। ये बड़े ही धनी, सम्पन्न तथा प्रतिष्ठित व्यक्ति समझे

1. वासुदेव उपाध्याय सोशिओ रिलिजस कन्डीशन आफ नार्दर्न इंडिया, पृ० ७१।
2. सम० क० ४, पृ० २६८, २८७; ६, पृ० ५२२, ५३०।
3. इपि० इंडि० २०, पृ० ५४।
4. सम० क० ६, पृ० ५०७।
5. वही २, पृ० १०४, १०५, ११०-११-१२-१३-१४, ११६-१७-१८, १२१, १२२, १२४, १३२; ३, पृ० १६८, १७२; ४, २३७, २४०, ३५९-६०; ७, पृ० ६३८।
6. वही ५, पृ० ४०३, ४१६, ४२६, ४३२, ४७६, ४७९; ६, पृ० ४९९, ५०६, ५२२, ५२४, ५२६, ५३०, ५३४, ५५७-५८, ५६०-६१, ५९८; ७, पृ० ६१०, ६२४।

जाते थे। राज्य की ओर से भी इन्हें सम्मान प्राप्त था। इन्हें सार्थवाह पुत्र नामक आदर सूचक शब्द से सम्बोधित किया जाता था।[1] ये व्यापार-वाणिज्य के साथ-साथ धार्मिक कार्यों में भी रुचि रखते थे। त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) के सम्पादन के साथ-साथ दान आदि पुण्य कर्म भी करते थे।[2] आवश्यक चूर्णी के उल्लेख से पता चलता है कि व्यापार के लिए प्रस्थान करते समय सार्थवाह यह घोषणा करता था कि उसके साथ यात्रा करने वालों को भोजन वस्त्र तथा दवा आदि की निःशुल्क सहायता दी जायगी।[3] बसाढ़ से मिली मुद्राओं से भी पता चलता है कि गुप्त काल में निगम, सेठ, कुलिकों आदि के साथ सार्थवाह की भी संयुक्त मंडली होती थी।[4] पाँचवीं शताब्दी के कुमार गुप्त प्रथम के दामोदरपुर ताम्र पत्र अभिलेख में भी सार्थवाह व्यापारी का उल्लेख है।[5] मेवाड़ के सम्पन्न बाजार में दूर-दूर के व्यापारी यथा—कर्नाट, मध्य देश, लाट तथा टाका आदि स्थानों से व्यापार के निमित्त आते थे।[6] वासुदेव उपाध्याय के अनुसार पूर्व मध्य-काल में विदेशों से व्यापार करने वाले समूह का अगुआ सार्थवाह कहलाता था,[7] किन्तु समराइच्च कहा में इन्हें देश के अन्दर तथा बाहर दोनों जगहों से व्यापार करने वालों का अगुआ बताया गया है। अतः स्पष्ट होता है कि सार्थवाह को एक सफल एवं योग्य व्यापारी के रूप में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।

श्रेष्ठी

समराइच्च कहा में वैश्यों का तीसरा एवं सम्पन्न वर्ग श्रेष्ठियों का था। ये तत्कालीन समाज में सबसे अधिक समृद्ध समझे जाते थे। धन और समृद्धि के ही आधार पर इन्हें श्रेष्ठी (सेठ) नाम से जाना जाता था।[8] ये एक ही स्थान पर (ग्राम, नगर अथवा व्यापारिक केन्द्रों में) स्थिर रहकर अपना व्यवसाय करते थे। मूल्यवान वस्तुओं के क्रय-विक्रय के साथ-साथ ये लोग रुपये पैसे का भी लेन-देन

---

१. सम० क० ६, पृ० ५४१-४२, ५५२; ७, पृ० ६५२-५३-५८, ६५८, ६६१, ६६८।
२. वही ८, पृ० ७२५; ९, पृ० ९०८।
३. आवश्यक चूर्णी, पृ० ११५।
४. आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इंडिया, एनुअल रिपोर्ट, १९०३-४, पृ० १०४।
५. एपि० इंडि० १५, पृ० १३०, १३५।
६. वही १०, पृ० ५७।
७. वासुदेव उपाध्याय—प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृ० १९९।
८. सम० क० ३, पृ० १८८; ५, पृ० ३०८; ८, पृ० ८०७।

करते थे। समाज में इनको श्रेष्ठी (सेठ) की सम्मान सूचक पदवी प्राप्त थी।[1] व्यापारिक वृत्ति के होते हुए भी ये लोग धार्मिक प्रवृत्ति के होते थे।[2] बसाढ़ से मिली मुद्राओं से पता चलता है कि गुप्त काल में निगम, सेठ, सार्थवाह तथा कुलिकों की संयुक्त मंडली होती थी जिसका उल्लेख ऊपर सार्थवाह के संदर्भ में किया गया है। समराइच्च कहा[3] की ही भाँति कुमार गुप्त प्रथम के दामोदरपुर ताम्रपत्र में नगर श्रेष्ठि का उल्लेख है।[4] जिसे व्यापारिक संस्था का मुखिया (सेठ) कहा जा सकता है।

शूद्र

भारतीय सामाजिक संगठन में चौथा वर्ण शूद्रों का था। समराइच्च कहा में इन्हें आर्य जातियों में चौथी तथा निम्न श्रेणी का बताया गया है।[5] ऋग्वेद में इनकी उत्पत्ति विराट पुरुष के पैर से बतायी गई है।[6] शूद्रों को ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों का सेवक माना जाता रहा है। मनुस्मृति के उल्लेख से पता चलता है कि शूद्रों के सारे क्रिया संस्कार बिना वैदिक मंत्रों के हो सकते हैं।[7] गृहस्थ आश्रम के अतिरिक्त उनसे किसी दूसरे आश्रम की आशा नहीं की जा सकती।[8]

जैन ग्रन्थ आदि पुराण में भी शूद्रों को अन्य वर्णों का सेवक बताया गया है।[9] यशस्तिलक में शूद्र और छोटी जातियों के लिए शूद्र, अंत्यज तथा पामर शब्द आये हैं। अन्त्यजों का स्पर्श वर्जनीय माना जाता था तथा पामरों की संतान उच्च कार्य के योग्य नहीं मानी जाती थी।[10] अल्बरुनी के अनुसार समाज में शूद्रों की स्थिति अच्छी नहीं थी तथा वे वेदाध्ययन नहीं कर सकते थे।[11]

१. सम० क० १, पृ० ६४; २, पृ० १२८; ३, पृ० १७६, १८३; ४, पृ० २४०, २७२, ३५०, ३५३; ६, पृ० ५२१, ५७८, ५८३; ८, पृ० ८२७-२८-२०; ९, पृ० ८८६, ८८७, ९०४, ९२५, ९३६, ९५३-५४।
२. वही ४, पृ० २३४, २३७, ३२६; ६ पृ० ४९४-९५-९६, ५५०-५५४, ५५५, ५६, ५६३; ७, पृ० ६७३।
३. वही ४, पृ० २७८।
४. इपि० इण्डि० १५, पृ० १३०।
५. सम० क० ४, पृ० ३४८।
६. ऋग्वेद १०।९२।११२।
७. मनु० १०।१२७।
८. वही ६।९७।
९. आदिपुराण १६।१८४-८६।
१०. यशस्तिलक, पृ० ४५७।
११. सचाऊ १, पृ० १२५।

समराइच्च कहा में इसे शूद्रों के कई भेद गिनाए गए हैं, यथा—चाण्डाल, डोम्बलिक, रजक, चर्मकार, शाकुनिक और मछुआ।[1] सम्भवतः यह पेशे के अनुसार आजीविका कमाने वाली शूद्रों की कई शाखाएँ थीं जिनका विवेचन अधोलिखित ढंग से किया जा सकता है।

चाण्डाल

समराइच्च कहा में इसे शूद्रों की एक शाखा बताया गया है। हरिभद्र सूरि ने चाण्डाल का उल्लेख कई बार किया है।[2] ये लोग समाज में अन्य वर्णों की अपेक्षा हेय दृष्टि से देखे जाते थे तथा इनका आवास भी पृथक् होता था। इनका कार्य अभियोगियों को फाँसी देना, वधस्थल पर ले जाकर तलवार से मौत के घाट उतारना आदि था।

ऋग्वेद में चर्मम्न (खाल या चमड़ा शोधने वाले) शब्द का उल्लेख है।[3] छान्दोग्य उपनिषद् में चाण्डाल को अन्य तीन वर्णों से निम्न माना गया है।[4] गौतम ने लिखा है कि चाण्डाल ब्राह्मणी से शूद्र द्वारा उत्पन्न संतान है। अतः वह प्रतिलोमों में अत्यन्त गर्हित प्रतिलोम है।[5] आपस्तम्ब ने लिखा है कि चाण्डालस्पर्श पर वस्त्र के सहित स्नान करना चाहिए, चाण्डाल सम्भाषण पर ब्राह्मण से बात कर लेना चाहिए, चाण्डाल दर्शन पर सूर्य, चन्द्र या तारों को देख लेना चाहिए।[6] मनु ने केवल आन्ध्र, मेद, चाण्डाल एवं श्वपच को गाँव के बाहर तथा अन्त्यावसायी को श्मशान में रहने को कहा है।[7] अतः स्पष्ट होता है कि स्मृतियों में भी चाण्डाल को हेय दृष्टि से देखा गया है।

फाहियान[8] तथा इत्सिंग[9] के अनुसार चाण्डाल समाज से बहिष्कृत जाति

१. सम० क० ४, पृ० ३४८।

२. वहीं १, पृ० ५८; ३, पृ० १८३; ४, पृ० २६१-६२, २६६-६७, ३२१, ३४८; ६, पृ० ५०८-९, ५४८; ८, पृ० ८२९-३०।

३. ऋग्वेद ८।५।३८।

४. छान्दोग्य उपनिषद् ५।१०।७।

५. गौतम० ४।१५-२३।

६. आपस्तम्ब धर्म सूत्र २।१।२।८-९—'यथा चाण्डालोपस्पर्शने संभाषायां दर्शने च दोषस्तत्र प्रायश्चित्तम्। अवगाहनमपामुपस्पर्शने संभाषायां ब्राह्मण सम्भाषणं दर्शने ज्योतिषां दर्शनम्।

७. मनु० १०।३६, ५१।

८. लेगे (Legge)—ट्रेवेल आफ फाहियान, पृ० ४३।

९. तकाकुसू, पृ० १३९।

थी। ये लोग नगर बाजार आदि में प्रवेश करते समय लकड़ी या डंडा बजाते हुए चलते थे, जिससे लोग सजग हो जायें और उनके स्पर्श से बचे रहें। सोमदेव ने तो चाण्डाल का स्पर्श हो जाने पर मंत्र जाप करने का उल्लेख किया है।[1] बाणभट्ट ने भी चाण्डाल तथा मातंग का स्पर्श वर्जित बताया है।[2] वे अच्छे शिकारी होते थे, शराब पीते, सफेद बैल की सवारी करते तथा अपने देवताओं को जीव बलि देते थे।[3]

उपरोक्त साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि हरिभद्र सूरि के काल में भी चाण्डाल निम्नतर जाति की श्रेणी में गिने जाते थे। उनकी सामाजिक स्थिति बड़ी ही दयनीय थी तथा उनके कर्म भी निकृष्ट श्रेणी के थे।

रजक

समराइच्च कहा में रजक को भी शूद्र जाति के अन्तर्गत माना गया है।[4] इन्हें वस्त्र शोधक भी कहा गया है।[5] व्यास स्मृति में रजक को बारह अन्त्यज जातियों में से एक माना गया है।[6] वैखानस स्मार्त सूत्र के अनुसार यह पुल्कस एवं ब्राह्मण स्त्री की संतान है।[7] महाभाष्य में इसे शूद्र कहा गया है।[8] यशस्तिलक में रजक की स्त्री को रजकी कहा गया है तथा उसका कार्य गंदे कपड़ों को साफ करना बताया गया है।[9] आदिपुराण में रजक को कारु शूद्र के अन्तर्गत गिनाया गया है।[10] इनका मुख्य कार्य वस्त्र प्रक्षालन था। सेवा की दृष्टि से इनकी अत्यधिक उपयोगिता थी किन्तु इनकी सामाजिक स्थिति अच्छी नहीं थी।

माली (मालाकार)

समराइच्च कहा में माली का उल्लेख मिलता है।[11] इनका मुख्य कार्य

१. यशस्तिलक, पृ० २८१ उत्त०।
२. कादम्बरी, पृ० २३-२४।
३. वही पृ० ५९१-३।
४. सम० क० ४, पृ० ३४८।
५. वही १, पृ० ५१, ५३।
६. व्यास स्मृति १।१२।१३।
७. वैखानसस्मार्त सूत्र १०।१५।
८. महाभाष्य २।४।१०।
९. यशस्तिलक, पृ० २५४।
१०. आदिपुराण १६।१८५।
११. सम० क० ४, पृ० २७८।

फुलवारी की देख भाल करना तथा माला बनाना था। व्यास स्मृति में भी मालाकार का उल्लेख है।[1] अभिधानरत्नमाला में इसे शूद्रों की एक शाखा कहा गया है।[2] यशस्तिलक में मालाकार को फुलवारी एवं बागीचे को सजाने वाला तथा फूल चुनने वाला बताया गया है।[3] आदिपुराण के अनुसार मालाकार मांगलिक अवसर पर पुष्प मालाएँ गूँथ कर लाता था।[4] बाग-बगीचे तथा फुलवारी की देख भाल करना, उसे सजाना एवं मालाओं का क्रय-विक्रय करना इनका मुख्य कार्य था।

नापित (नाई)

समराइच्च कहा में नापित (नाई) को भी शूद्र वर्ग के अन्तर्गत माना गया है।[5] ये उच्च वर्णों के बाल तथा नाखून काटने और विवाहादि मांगलिक अवसरों पर स्नान आदि कराने का कार्य करते थे।[6] तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी इसका नाम आता है।[7] यशस्तिलक में भी नापित का उल्लेख है।[8] आदि-पुराण में नापित को कारु शूद्र की श्रेणी में रखा गया है। ये लोगों के बाल बनाने, स्नान कराने तथा अलंकृत करने का कार्य करते थे।[9]

चर्मकार

समराइच्च कहा में चर्मकार को भी शूद्रों की एक शाखा कहा गया है।[10] चमड़े का कार्य करने के कारण ही उन्हें चर्मकार कहा जाता था। विष्णु-धर्मसूत्र, आपस्तम्ब धर्मसूत्र तथा पराशर स्मृति में इसका उल्लेख है।[11] मनु ने इसे चर्मावकर्ती माना है।[12] यशस्तिलक में चर्मकार के साथ उसके एक उपकरण

१. व्यास स्मृति १।१०-११।
२. अभिधानरत्नमाला २, पंक्ति ५८६-९२।
३. यशस्तिलक, पृ० ३९३।
४. आदिपुराण—प्रथम खण्ड, पृ० २६२।
५. सम० क० ८, पृ० ३४८।
६. वही २, पृ० ९३-९४।
७. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।४।१।
८. यशस्तिलक, पृ० २४५।
९. आदि पुराण-प्रथम खण्ड, पृ० ३६२।
१०. सम० क० ४, पृ० ३४८।
११. विष्णु धर्मसूत्र ५।१।८; आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।३।२; पराशर० ६।४४।
१२. मनु० ८।२१८।

दृति का उल्लेख है।[1] दृति का अर्थ मशक (पानी भरने वाले थैले) से लगाया जाता है।[2] आज भी चर्मकार चमड़ा पका कर ही उमसे जूता आदि बनाते हैं जिसे मोची कहा जाता है।

डोम्बलिक

समराइच्च कहा में इसे आर्य जाति के अन्तर्गत उल्लिखित किया गया है।[3] यह शूद्रों की एक शाखा थी जो समाज मे निम्न कोटि की समझी जाती थी।[4] पराशर ने स्वपच, डोम्ब एवं चाण्डाल को एक श्रेणी में गिनाया है जिसे आधुनिक डोम कहा जाता है।[5] राजतरंगिणी में इन्हें संगीत, नृत्यकला आदि मे प्रवृत्त बताया गया है।[6]

शाकुनिक

इन्हें भी आर्यों के अन्तर्गत शूद्रों की एक शाखा बताया गया है।[7] इसका शाब्दिक अर्थ बहेलिया (चिड़िमार) से लगाया गया है।[8] मनुस्मृति में भी शाकुनिक का उल्लेख है।[9] यह समाज में निम्न स्तर की जाति मानी गयी है।

मछुआ

मत्स्यबन्ध अर्थात् मछुआ भी शूद्र जाति की एक निम्नतर शाखा थी।[10] इनका मुख्य कार्य मछली पालना तथा नदियों और समुद्रों आदि से मछली का शिकार करके अपनी जीवन वृत्ति चलाना था।[11] इनका निवास स्थान अधिकतर नदियों, जलाशयों तथा समुद्रों के किनारे होता था।

१ यशस्तिलक, पृ० १२५ (चर्मकार दृति द्युतिम्)
२. आप्टे-संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० ४७० ।
३. सम० क० ४ पृ० ३४८ ।
४. सचाऊ १, पृ० १०१ ।
५. पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० १३२ ।
६. राजतरंगिणी ५, ३५४; ६, १८२ तथा १९२ ।
७. सम० क० ४, पृ० ३४८ ।
८. आप्टे—संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० १००९ ।
९. मनु० ८।२६० ।
१०. सम० क० ४, पृ० ३४८ ।
११. वही ४, पृ० ३१३ ।

शबर

हरिभद्रसूरि ने शबरों को अनार्य (म्लेच्छ) जाति की कोटि में गिनाया है।[1] यह विन्ध्यादि अरण्यों में निवास करने वाली एक जंगली एवं असभ्य जाति थी।[2] ऐतरेय ब्राह्मण तथा महाभारत में भी शबरों का उल्लेख है।[3] आदि पुराण में इन्हें दक्षिण भारत की एक पहाड़ी तथा असभ्य जाति का बताया गया है जो धनुष-बाण चलाने में प्रवीण होते थे।[4] यशस्तिलक में भी शबरों को जंगली तथा असभ्य जाति का बताया गया है जो गरीब होते थे और यहाँ तक कि ठण्ड आदि से बचने के लिए उनके पास कपड़े नहीं होते थे।[5] अभिधानरत्नमाला में इन्हें दलित एवं जंगली जाति का बताया गया है।[6] समराइच्च कहा में शबर को भिल्ल जाति के रूप में सम्बोधित किया गया है।[7]

समराइच्च कहा में शबरों का विस्तृत विवरण मिलता है। ये जंगलों में झुण्ड बनाकर रहते थे। इनके भी राजा होते थे जिन्हें पल्लीपति कहा जाता था।[8] पल्लीपति शबरों की देखभाल करता था तथा लूट-पाट का अधिकतर माल उसी को मिलता था।[9] ये लोग जंगलों में रहते, चीर, वल्कल आदि पहनते,[10] गुंज्जा आदि का आभरण बनाते, फल-फूल खाते, प्रस्तर, गुहा तथा वृक्षादि इनका आवास होता था।[11] ये धनुष-बाण धारण करते तथा बड़े ही वीर और साहसी होते थे।[12] शबर जंगलों में से होकर जाने वाले व्यापारियों के सार्थ

१. सम० क० ४, पृ० ३४४।
२. वही २, पृ० १२४; ६, पृ० ५०४, ५०६, ५१३-१४-१५, ५२९, ५३७, ५४४, ५८५-८६; ८, पृ० ८२९-३०।
३. ऐतरेय ब्राह्मण ३३।६, महाभारत-अनुशासन पर्व ३५।१७, शांतिपर्व ६५।१३।
४. आदिपुराण १६।१६८।
५. यशस्तिलक, पृ० ६०—"प्रातडिम्भविचेष्टितुण्डकलनान्नीहार कालागमे, हस्तन्यस्तफलद्रवा च शवरी वाष्पातुरं रोदिति।"
६. अभिधानरत्नमाला, २, पृ० ५९८।
७. सम० क० ७, पृ० ६८८, ६९०।
८. वही ६, पृ० ५०४; ७, पृ० ६६६-६७, ६६९।
९. वही ६, पृ० ५२३।
१० वही ६, पृ० ५२९।
११. वही ९, पृ० ९७१-७२-७३, ९७५।
१२. वही ६, पृ० ५१३।

(कारवाँ) को लूटने ।[1] इनके क्रूर कर्मों के कारण ही इन्हें अनार्य जाति की श्रेणी में गिना जाता था । समराइच्च कहा में शबरों द्वारा चण्डिका देवी की उपासना करने का उल्लेख है ।[2] देवी को प्रसन्न कर मनोनुकूल फल की प्राप्ति के लिए ये पशुबलि तथा नरबलि भी देते थे । इन शबरों में कुछ वैद्य भी होते थे जो प्राकृतिक उपचार द्वारा विभिन्न प्रकार के रोगों का उन्मूलन भी किया करते थे ।[3]

किरात

शबरों की भांति किरात भी एक जंगली जाति थी ।[4] इनका जीवन बहुत कुछ शबरों जैसा होता था । ये जंगलों में रहते, फल-मूल खाते, वल्कल पहनते तथा व्याघ्र-चर्म धारण करते थे । वेदव्यास ने इसे शूद्र की एक उपशाखा माना है ।[5] मनु ने किरात को शूद्र की स्थिति को प्राप्त क्षत्रिय माना है ।[6] वैदिक साहित्य में भी इनका उल्लेख प्राप्त होता है ।[7] महाभारत के अनुशासन पर्व में भी किरात को शूद्रवत बताया गया है ।[8] समराइच्च कहा की भांति अमरकोश में भी किरात, शबर और पुलिंद को म्लेच्छ जाति की उपशाखा कहा गया है ।[9] अभिधानरत्नमाला में किरात को एक उपेक्षित एवं जंगली जाति का बताया गया है ।[10] किरातार्जुनीय में शिव, अर्जुन की परीक्षा के लिए किरात रूप में उपस्थित होते हैं जिसमें उनके स्वरूप का वर्णन करते हुए भारवि ने लिखा है कि उनकी केश राशि फूलों वाली लताओं के अग्रभाग से बँधी थी । कपोल मोरपंख से सुशोभित थे और आँखों में लालिमा थी । सीने पर हरि चन्दन की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ खिंची हुई थीं जिन्हें उष्णता के कारण बहते हुए पसीने ने

---

१. सम०क० २, पृ० १२०; ६, पृ० ५११; ७, पृ० ६५६-५७, ६६१-६२; ८, पृ० ७९८ ।
२. वही ६, पृ० ५२९ ।
३. वही ६, पृ० ५८९ (आज भी कुछ जंगली जातियाँ इस प्रकार के उपचार के लिए गावों एवं नगरों में आकर घूमती हैं) ।
४. वही १, पृ० ५५ ।
५. वेदव्यासस्मृति १।१०-११ ।
६. मनु० १०।४३-४४ ।
७. अथर्ववेद १०।४।१४; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।४।१२ ।
८. महाभारत—अनुशासन पर्व ३५।१७-१८ ।
९. काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग—१, पृ० १२९ ।
१०. अभिधानरत्नमाला २।५९८ ।

बीच-बीच में काट दिया था और हाथ में बाण सहित विशाल धनुष था।[1] यहाँ किरात के स्वरूप का भी स्पष्टीकरण हो जाता है। यशस्तिलक में किरात को शिकारी के रूप में उल्लिखित किया गया है।[2]

शक

समराइच्चकहा मे शकों को अनार्य जाति की श्रेणी मे गिनाया गया है।[3] इन्हें म्लेक्ष भी कहा जाता था; क्योंकि ये लोग बड़े ही क्रूरकर्मा एवं उद्दण्ड स्वभाव के होते थे। शक शब्द मध्येशिया की सीथियन जाति के लिए प्रयुक्त हुआ है। भारत मे इनका प्रवेश पहली शताब्दी ई० पूर्व मे हुआ था किन्तु कदाचित इससे पूर्व भी भारतीयों को इनका ज्ञान था। शाम-शर्मा वंश के अभिलेखों में भी शक जातियों के उल्लेख हैं। इससे प्रतीत होता है कि बहुत पहले ही कुछ शक ईरान के समीप आकर बस गये थे। मनु ने इन्हें प्रथमतः क्षत्रिय माना है और कहा है कि वैदिक संस्कारों के न करने से तथा ब्राह्मणों के सम्बन्ध से दूर रहने के कारण ये शूद्रों की श्रेणी में आ गये।[4] महाभारत में शकों का उल्लेख कई बार आया है।[5] अष्टाध्यायी में भी 'कम्बोजादि गण' में शक का उल्लेख है।[6]

यवन

समराइच्चकहा मे यवनों को अनार्य जाति का कहा गया है।[7] मनु ने इन्हें शूद्रों की स्थिति मे पतित क्षत्रिय माना है।[8] गौतम के अनुसार यह शूद्र पुरुष एवं क्षत्रिय नारी से उत्पन्न प्रतिलोम जाति है।[9] महाभारत मे भी यवनों को अनार्यों के साथ उल्लिखित किया गया है।[10] अष्टाध्यायी में भी यवनों का

१ किरातार्जुनीयम् १२।४०-४१-४२-४३।
२. यशस्तिलक, पृ० २२०।
३. समम० क० ४, पृ० ३४८।
४. मनु० १०।४३-४४।
५. महाभारत—सभापर्व ३२।१६-१७, उद्योग पर्व ४।१५, १९।२१, १६०। १०३, भीष्मपर्व २०।१३, द्रोण पर्व १२१।१३।
६. अष्टाध्यायी ४।१।१७५।
७. समम० क० ४, पृ० ३४८।
८. मनु० १०।४३-४४।
९. गौतम ४।१७।
१०. महाभारत सभापर्व ३२।१६-१७, वन पर्व २५४।१८, उद्योग पर्व १९।२१, भीष्मपर्व २०।१३, द्रोण पर्व ९३।४२, शांति पर्व ६५।१३।

उल्लेख है।[१] मूलतः यवन शब्द ग्रीक लोगों के लिए प्रयुक्त होता था। इसकी उत्पत्ति आयोनियन से है। इस प्रकार प्रारम्भ में यह आयोनिया के ग्रीक लोगों का सूचक था किन्तु बाद में समस्त ग्रीक जाति के लिए प्रयुक्त होने लगा।[२] जैसा सर्व विदित है कि सिकन्दर ने सर्वप्रथम भारत में ग्रीम जाति का राजनीतिक अधिकार स्थापित किया था; किंतु भारत मे ग्रीक राज्य की स्थापना वैक्ट्रिया के इण्डोग्रीक राजाओं ने की थी। ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर मे जब ग्रीकलोगों की स्मृति शेष न रही यवन शब्द विदेशी मात्र के लिए रह गया।

बर्बरकाय

इन्हें भी अनार्य जाति के अन्तर्गत गिनाया गया है[3]। महाभारत में भी बर्बरों को शक, यवन, शबर आदि अनार्यों की श्रेणी में गिनाया गया है।[४] मेधातिथि ने बर्बरों को संकीर्ण-योनि का कहा है।[५] अतः स्पष्ट होता है कि बर्बर तत्कालीन समाज में निम्न श्रेणी की उपेक्षित जाति समझी जाती थी, जो आचार-विचार मे भारतीय आर्य जातियों से कुछ भिन्न थी।

मुरुण्डोड

समराइच्च कहा में इन्हें भी अनार्य जाति का बताया गया है।[६] समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति मे भी 'दैवपुत्र शाही शाहानुशाही-शक-मुरुण्ड' का उल्लेख है। कुछ विद्वानों की राय मे शक-मुरुण्ड, देखने में जाति का नाम जान पड़ता है जिसका तात्पर्य कुषाण उपाधिधारी राजा से भिन्न किसी राजा अथवा राज्य से है। उनका यह भी कथन है कि वे पश्चिमी भारत के शक होंगे जो क्षत्रप के नाम से प्रसिद्ध है।[७] परमेश्वरी लाल गुप्त के अनुसार इस सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि मुरुण्ड शक शब्द है जिसका अर्थ स्वामी होता है और इस उपाधि का प्रयोग पहले शकों ने तत्पश्चात कुषाणों ने किया।[८] स्टेनकोनों ने मुरुण्ड को

१. अष्टाध्यायी ४।१।५९।
२. जी० यन० बनर्जी—हेलेनिज्म इन ऐंसियन्ट इण्डिया, पृ० २४९।
३. सम० क० ४, पृ० ३४८।
४. महाभारत, सभापर्व—३२।१६-१७, वन पर्व २५४।१८, द्रोण पर्व १२१। १३, अनुशासन पर्व ३५।१७, शांति पर्व ६५।१३।
५. मेधातिथि—मनु० १०।४।
६. सम० क० ४, पृ० ३४८।
७. परमेश्वरीलाल गुप्त—गुप्त साम्राज्य, पृ० २६८।
८. वही पृ० २६९।

कुषाण कहा है; विल्सन ने उन्हें हूणों की जाति बताया है और उसकी पहचान टालेमी कथित मुरुण्डाइ से की है, सिल्वन लेवी ने उन्हें शक अथवा कुषाण बताने का प्रयत्न किया है। परमेश्वरी लाल गुप्त ने बताया है कि ईशा की प्रारंभिक शताब्दियों में गंगा के कांडे पर मुरुण्डों का एक शक्तिशाली राज्य था जो गुप्त साम्राज्य की सीमा से बहुत दूर न रहा होगा।[1] इन सभी उल्लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि समराइच्च कहा में उल्लिखित मुरुण्ड एक विदेशी जाति थी जिसे हरिभद्र ने आर्येतर होने के कारण अनार्य जाति का बताया है।

गोंड

समराइच्च कहा में इन्हें शक, मुरुण्ड की भाँति अनार्य जाति की श्रेणी में गिनाया गया है।[2] यह तत्कालीन समाज में एक निम्नकोटि की जाति समझी जाती थी जो नर्मदा तथा कृष्णा नदी के मध्यवर्ती विन्ध्य प्रदेश में निवास करती थी।[3]

आश्रम व्यवस्था

यद्यपि समराइच्च कहा में प्राचीन परम्परागत आश्रम व्यवस्था का क्रमिक चित्र प्रतिविम्बित नहीं होता फिर भी मानव जीवन के क्रमिक विकास को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि लोगों का जीवन चार अवस्थाओं में विभाजित था। आश्रम व्यवस्था जीवन के क्रमिक विकास की सीढ़ी थी जिसे प्राचीन भारतीय मनीषियों ने व्यक्ति को उसके चरम लक्ष्य तक पहुँचने का एक प्रमुख साधन माना था। कुछ विचारकों के अनुसार यह व्यवस्था प्राचीन हिन्दुओं के व्यक्तिगत जीवन का प्राथमिक शिक्षा केन्द्र एवं अनुशासन की आधारशिला है।[4] आश्रम व्यवस्था के अंतर्गत व्यक्ति को चार अवस्थाओं में से होकर गुजरना पड़ता था जिसे हम प्रशिक्षण की चार श्रेणी मान सकते हैं।[5] यह आश्रम व्यवस्था हर व्यक्ति को उसके अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जीवन यात्रा में विश्रामस्थल का कार्य करती है।[6] जीवन विकास की यात्रा में विश्रामस्थल का कार्य करने वाले इन आश्रमों की संख्या चार है—ब्रह्मचर्य,

१. परमेश्वरीलाल गुप्त—गुप्त साम्राज्य, पृ० २७० ।
२. सम० क० ४, पृ० ३४८ ।
३. आप्टे—संस्कृत हिन्दी कोश ।
४. प्रभू—हिन्दू सोसल आर्गनाइजेशन, पृ० ७८ ।
५. वही पृ० ७८ ।
६. वही पृ० ८३ ।

गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। वशिष्ठ स्मृति में इन चारों आश्रमों को ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और परिव्राजक कहा गया है।[1]

समराइच्च कहा में इन चारों अवस्थाओं का क्रमिक उल्लेख नहीं है, फिर भी कथा-प्रसंग के आधार पर हम जीवन को चार श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—कुमारावस्था,[2] गृहस्थाश्रम[3] तथा श्रमण[4] अर्थात् वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम। श्रमण धर्म में पत्नी के साथ प्रव्रज्या ग्रहण करना[5] वानप्रस्थ तथा अन्त में केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिए एकान्त में तप, योग, नियम, संयम का विधान संन्यास आश्रम का प्रतीक है। यशस्तिलक में बाल्यावस्था को विद्याध्ययन का काल, यौवनावस्था को धनोपार्जन का काल तथा वृद्धावस्था को निवृत्ति का काल माना गया है।[6] आदि पुराण में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा भिक्षुक ये चार आश्रम जीवन में उत्तरोत्तर अधिक विशुद्धि प्राप्त होने पर प्रतिपादित किये गये हैं।[7] सम्भवतः पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) की कल्पना ही इन चारों आश्रमों का आधार माना गया है।

ब्रह्मचर्य

समराइच्च कहा में जीवन की प्रथम अवस्था अर्थात कुमारावस्था में शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने का उल्लेख है।[8] बच्चे को जन्म के पश्चात् कला, साहित्य, विज्ञान, दर्शनशास्त्र आदि की शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा ग्रहण कर विवाह के पश्चात् कुमारावस्था को त्याग कर वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था।[9] मनु के अनुसार मनुष्य के जीवन का प्रथम भाग ब्रह्मचर्य आश्रम है जिसमें व्यक्ति गुरुगेह में रह कर अध्ययन करता है।[10] आपस्तम्ब धर्मसूत्र में भी गुरुगेह में रहने का

---

१. वशिष्ठ ७।१ (चत्वारो आश्रमों ब्रह्मचारी गृहस्थवानप्रस्थ परिव्राजकाः)।
२. सम० क० ६, पृ० ४९५; ८, पृ० ८०४।
३. वही ३, पृ० १८१, १८१; ५, पृ० ४४०; ८, पृ० ८०६।
४. वही १, पृ० १५; २, पृ० १२९, १३०; ४, पृ० २८५; ६, पृ० ५६७-६८; ७, पृ० ६१४, ६१९; ८, पृ० ८०५।
५. वही १, पृ० १५; ८, पृ० ८०५।
६. यशस्तिलक, पृ० १९८।
७. आदिपुराण ३९।१५१-५२।
८. सम० क० ८, पृ० ८०३।
९. वही ६, पृ० ४९५; ८, पृ० ८०५।
१०. मनु० ४।१।

उल्लेख है।[१] गौतम ने चार आश्रमों में ब्रह्मचर्य आश्रम का उल्लेख किया है।[२] यशस्तिलक के अनुसार गुरु और गुरुकुल विद्याध्ययन की धुरी थे।[३] आदिपुराण में ब्रह्मचारी को भिक्षावृत्ति से जीवन निर्वाह करने का उल्लेख है। उसके लिए सिर के बालों का मुण्डन कराना भी आवश्यक बताया गया है जिससे मन, वचन और काया पवित्र रहे। अलबरुनी के अनुसार ब्रह्मचारी भिक्षा मांगता तथा उसे लाकर गुरु के सामने रखता था।[४] आठवीं शदी मे भोजदेव के दानपत्र में वासुदेव नामक ब्रह्मचारी का उल्लेख है।[५]

समराइच्च कहा में मात्र कौमारावस्था का ही उल्लेख है। जिसमें घर पर ही रह कर विद्याध्ययन करने का विधान था। यह काल प्रशिक्षण का काल था जिसमें हर व्यक्ति के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करना आवश्यक समझा जाता था। किन्तु ब्रह्मचारी घर से दूर आश्रम में गुरु के पास ही रह कर गुरु की सेवा करते हुए शिक्षा ग्रहण करता था।

गृहस्थ आश्रम

कौमारावस्था के बाद विवाह संस्कार सम्पन्न होने पर व्यक्ति गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था।[६] गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट व्यक्ति को गृहपति कहा गया है।[७] मनु के अनुसार व्यक्ति अपने जीवन के दूसरे भाग में विवाह करके गृहस्थ हो जाता है और सन्तानोत्पत्ति करके पूर्वजों के ऋण से तथा यज्ञ आदि करके देवों के ऋण से मुक्ति पाता है।[८] आपस्तम्ब धर्म सूत्र तथा वशिष्ठ धर्म सूत्र में भी गृहस्थ आश्रम का उल्लेख है।[९] गौतम ने भी चार आश्रम में गृहस्थ आश्रम

१. आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।९।२१।१।

२. गौतम० ३।२।

३. यशस्तिलक, पृ० ४३२ (न पुनरायुः स्थित्या इवानुपासित गुरुकुलस्यमत्ल-वत्योऽपि सरस्वत्यः)।

४. सचाऊ २, पृ० १३१।

५. इपि० इण्डि० ५, पृ० २१२।

६. सम० क० ८, पृ० ८०७।

७. वही ३, पृ० १७१, १८१; ५, पृ० ४४०; ८, पृ० ८०६।

८. मनु० ४।१, ५।१६९।

९. आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।९।२१।१; वशिष्ठ धर्मसूत्र ७।१-२।

का उल्लेख किया है।[१] मनु,[२] वशिष्ठ,[३] दक्ष[४] तथा विष्णु धर्मसूत्र[५] आदि ने गृहस्थाश्रम को सर्वश्रेष्ठ आश्रम माना है।

यशस्तिलक के उल्लेख से पता चलता है कि बाल्यावस्था या विद्याध्ययन के पश्चात गोदान दिया जाता था तथा विधिवत गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया जाता था।[६] आदिपुराण से पता चलता है कि विवाह हो जाने पर गृहस्थ अतिथि सत्कार, दान, पूजा, परोपकार आदि कार्यों को उत्साह पूर्वक सम्पन्न करता था।[७]

भारतीय परिकल्पना में गृहस्थ आश्रम को समाज सेवा का एक साधन माना गया है। गृहस्थाश्रम पर ही अन्य तीनों आश्रमों का अस्तित्व निर्भर है।[८]

वानप्रस्थ

समराइच्च कहा में गृहस्थाश्रम रूपी सांसारिकता से ऊब कर पत्नी के साथ गुरु के समीप प्रव्रज्या ग्रहण करने का उल्लेख है।[९] पत्नी के साथ प्रव्रज्या ग्रहण कर श्रमण धर्म का पालन इस बात का सूचक है कि हरिभद्रसूरि के काल में भी वानप्रस्थाश्रम का प्रचलन था। कहीं-कहीं तो गृहस्थाश्रम को श्रमणत्त्व से हीन समझकर लोग अकेले भी (पत्नी से विलग होकर) प्रव्रजित हो जाते थे।[१०]

आपस्तम्ब धर्मसूत्र तथा वशिष्ट धर्मसूत्र में वानप्रस्थ आश्रम का उल्लेख है।[११] मनुस्मृति के अनुसार व्यक्ति अपने सिर पर सफेद बाल तथा शरीर पर झुरियाँ देखे तब उसे वानप्रस्थ हो जाना चाहिए।[१२] मनु ने वानप्रस्थी को नाखून, दाढ़ी एवं बाल रखने का विधान बताया है।[१३] जैन ग्रन्थ आदिपुराण में भी

---

१. गौतम० ३।२।
२. मनु० ६।६८; १३।७७-८०।
३. वशिष्ट धर्मसूत्र ८।१४-१७।
४. दक्ष स्मृति २।५७-६०।
५. विष्णु धर्मसूत्र ५९।२९।
६. यशस्तिलक, पृ० ३२७।
७. आदिपुराण ३८।१२४-२५-२६।
८. प्रभू—हिन्दू सोसल आर्गनाइजेशन, पृ० ९५।
९. सम० क० १, पृ० १५; २, पृ० १२९-३०; ८, पृ० ८०५।
१०. वही ४, पृ० २८९; ६; पृ० ५६७-६८, ५९५-९६; ७, पृ० ६१४, ६२९।
११. आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।९।२१।१; वशिष्ठ धर्मसूत्र ७।१-२।
१२. मनु० ६।१-२।
१३. मनु० ६।१२।

वानप्रस्थ आश्रम को जीवन की उत्तरोत्तर शुद्धि के लिए आवश्यक बताया गया है। जिसमें घर छोड़कर क्षुल्लक एवं ऐलक व्रतों द्वारा अपनी आत्मा की शुद्धि की जाती थी।[1] व्रत, नियम, संयम आदि के द्वारा आत्मसाधना के योग्य बनाना ही वानप्रस्थ आश्रम की उपादेयता थी।

संन्यास

धर्मशास्त्रीय परम्परा के अनुसार वानप्रस्थ के पश्चात संन्यास आश्रम ग्रहण करने का विधान है जिसमें व्यक्ति पत्नी को भी त्याग कर एकान्त स्थान में तप, यज्ञ, हवन-पूजन आदि विधान द्वारा मोक्ष प्राप्ति का यत्न करता है। समराइच्च कहा में जैनाचार के आधार पर श्रमण धर्म का पालन करने का विधान बताया गया है।[2] इस श्रमणाचार को संन्यास आश्रम से जोड़ा जा सकता है जिसमें व्यक्ति श्रमण धर्म का पालन करते हुए जीवन के अन्तिम चरण में केवल ज्ञान (मोक्ष) प्राप्त करने का यत्न करता था।

मनुस्मृति में चारों आश्रमों का उल्लेख है जिसमें चौथे आश्रम को संन्यास कहा गया है।[3] वशिष्ट धर्मसूत्र में चौथे और अंतिम आश्रम को 'परिव्राजक' कहा गया है।[4] जैन ग्रन्थ आदि पुराण में चतुर्थ आश्रम को भिक्षुक नाम दिया गया है।[5] इसमें मुनि दीक्षा सम्पन्न की जाती थी और सांसारिक बन्धनों के साथ कर्म बन्धन को तोड़ने के लिए पूर्ण संयम का पालन किया जाता था। यशस्तिलक के अनुसार वृद्धावस्था में समस्त परिग्रह का त्याग कर संन्यास लेना आदर्श था।[6] इस आश्रम में चतुर्थ पुरुषार्थ (मोक्ष) की साधना करना आवश्यक बताया गया है।[7] महाशिव गुप्त के ताम्रपत्र अभिलेख में उल्लिखित है कि संन्यासियों के रहने एवं ठहरने का कोई निश्चित स्थान नहीं था।[8]

हरिभद्रसूरि के काल में संन्यास आश्रम को जीवन के अन्तिम लक्ष्य (मोक्ष) की प्राप्ति का साधन माना गया है। समराइच्च कहा में उल्लिखित श्रमण आचार्य की तुलना स्मृतिकालीन संन्यासियों से की जा सकती है। यद्यपि इन दोनों

---

१. आदि पुराण ३९।१५२।
२. सम० क० ६, पृ० ५६७, ५६८; ७, पृ० ६२९।
३. मनु० ६।९६।
४. वशिष्ठ धर्मसूत्र ७।१-२।
५. आदिपुराण ३९।१५२।
६. यशस्तिलक पृ० १९८।
७. वही पृ० २८४।
८. ओरियन्टल कान्फ्रेन्स, बनारस ३, पृ० ५९६।

की दैनिक चर्या में अन्तर है फिर भी दोनों का लक्ष्य एक ही है अर्थात् मोक्ष प्राप्त करना।

संस्कार

संस्कार (सम्-कृ-घञ्) शब्द का अर्थ सुसंस्कृत करना अर्थात् पुनीत कृत्यों द्वारा (शरीर और मन की) शुद्धि करना है।[१] डा० राजबली पाण्डेय के अनुसार संस्कार शब्द का अधिक उपयुक्त पर्याय अंग्रेजी का 'सेक्रामेंट' है जिसका अर्थ धार्मिक विधि-विधान अथवा कृत्य से है जो आंतरिक तथा आत्मिक सौन्दर्य का बाह्य तथा हृदय प्रतीक माना जाता है और जिसका व्यवहार प्राच्य, प्राक् सुधार कालीन पाश्चात्य तथा रोमन कैथोलिक चर्च वपतिष्मा, सम्पुष्टि (कन्फर्मेन), यूखारिस्त, व्रत (पीनान्म), अभ्यञ्जन (एकस्ट्रीम-अंक्शन), आदेश तथा विवाह के सत्कृत्यों के लिए करते थे।[२] संस्कार उसे कहते हैं जिसके होने से कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य के योग्य हो जाता हैं।[3] तंत्रवार्तिक के अनुसार संस्कार वे क्रियायें तथा रीतियां हैं जो योग्यता प्रदान करती हैं। यह योग्यता दो प्रकार की होती हैं; पाप मोचन से उत्पन्न योग्यता तथा नवीन गुणों से उत्पन्न योग्यता।[४] डा० राजबली पाण्डेय ने संस्कार के महत्व पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि संस्कार मानव जीवन के परिष्कार और शुद्धि में सहायक होते हैं। व्यक्तित्व के विकास में योगदान करते हैं तथा मनुष्य के शरीर को पवित्र करते हैं। इतना ही नहीं वरन् वे मनुष्य की समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक महत्वाकांक्षाओं को गति प्रदान करते हैं और उसे जटिलताओं तथा समस्याओं के संसार से मुक्ति दिलाते हैं।[५] अतः व्यक्ति के विकास के लिए यह आवश्यक माना गया है। संस्कार मार्ग दर्शन का कार्य करते हैं जो आयु के बढ़ने के साथ-साथ व्यक्ति के जीवन को एक निर्दिष्ट दिशा की ओर ले जाते हैं।

समराइच्च कहा में चार संस्कारों का उल्लेख है—जन्मोत्सव[६] (जात कर्म), नामकरण[७], विवाह संस्कार[८] तथा अन्त्येष्टि क्रिया।[९] स्मृतियों में संस्कारों की

---

१. आप्टे—संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० १०५१।

२. राजबली पाण्डेय—हिन्दू संस्कार, पृ० १७।

३. पी० वी० काणे—धर्म शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० १७६।

४. वही पृ० १७६।

५. राजबली पाण्डेय—हिन्दू संस्कार, पृ० ३५१।

६. सम० क० ३, पृ० १८५।

७. वही ६, पृ० ४९५; ७, पृ० ६०६-६०७; ८, पृ० ७३४।

८. वही २, पृ० ९३, १०१; ७, पृ० ६३३, ६३५; ८, पृ० ७६५; ९, पृ० ९०१।

९. वही २, पृ० १२९-३०; ४, पृ० २६०; ६, पृ० ५८३; ७, पृ० ७११।

संख्या भिन्न-भिन्न दी गयी है। गौतम ने चालीस संस्कारों का वर्णन किया है जिनमें गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल, उपनयन आदि मुख्य हैं।[1] व्यास ने गर्भाधान से अन्त्येष्टि[2] तक १६ संस्कार गिनाए हैं—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्त, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल, मौञ्जी (उपनयन), व्रत (चार), गोदान, समावर्तन, विवाह एवं अन्त्येष्टि।[3] आदि पुराण में संस्कार को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है यथा—गर्भान्वय-क्रिया, दीक्षान्वय क्रिया तथा क्रियान्वय क्रिया।[4] वासुदेव उपाध्याय ने शिला-लेखों के आधार पर उच्च वर्ग के लोगों मे चार प्रकार के संस्कारों का प्रचलन-बताया है; ये हैं जातकर्म (जन्मोत्सव), नामकरण, विवाह तथा श्राद्ध संस्कार।[5]

जातकर्म

समराइच्च कहा में पुत्र जन्मोत्सव का उल्लेख है। किन्तु उसकी विधि आदि का विवरण नहीं दिया गया है। पुत्र जन्म के समय नाना प्रकार की बधाइयाँ तथा दान आदि वितरित किये जाते थे और नृत्य-गान आदि के साथ पुत्र का जन्माभ्युदय मनाया जाता था।[6] तैत्तिरीय संहिता में उल्लिखित है कि जब किसी को पुत्र उत्पन्न हो तो उसे १२ विभिन्न पात्रों में पकी हुई रोटी की बलि वैश्वानर को देनी चाहिए। वह पुत्र जिसके लिए यह कर्म किया जाता था, पवित्र, गौरव तथा धन-धान्य से परिपूर्ण होता है।[7] बृहदारण्यक उपनिषद् में जातकर्म संस्कार को ६ भागों में बाटा गया है—(१) दही एवं घृत का मंत्रों के साथ होम, (२) बच्चे के दाहिने कान में 'वाक' शब्द को तीन बार कहना, (३) सुनहले चम्मच या शलाका से बच्चे को दही, मधु एवं घृत चटाना, (४) बच्चे का एक गुप्त नाम देना, (५) बच्चे को मां के स्तन पर रखना, (६) माता को मंत्रों द्वारा सम्बोधित करना।[8] जातकर्म का उल्लेख अन्य स्मृतियों में भी किया गया है।[9]

---

१. गौतम० ८।१४-२४।
२. व्यासस्मृति १।१४-१५।
३. देखिए—पी०वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० १७८।
४. आदिपुराण ३८।४७; ३८।५२।
५. वासुदेव उपाध्याय—सोसिओ रिलिजस कन्डीशन आफ नर्दर्न इंडिया, पृ० १४०।
६. सम० ३, पृ० १८५।
७. तैत्तिरीय संहिता २।२।५।३-४।
८. बृहदारण्यक उपनिषद् ६।४।२४-२८।
९. व्यास स्मृति १।१४-१५; गौतम० ८।१४।

नामकरण

समराइच्च कहा में जातकर्म के पश्चात् नाना प्रकार की खुशियों एवं उत्सवों के साथ जन्म के एक मास पश्चात् पुत्र का नामकरण संस्कार सम्पन्न किये जाने का उल्लेख है ।[1] कभी-कभी गर्भावस्था में माता के द्वारा देखे गए स्वप्न के आधार पर[2], तो कभी गुरुजनों द्वारा नामकरण करने की बात कही गयी है[3] । किन्तु यहाँ समराइच्च कहा में नामकरण के समय के विधि-विधान का उल्लेख नहीं है। शतपथ ब्राह्मण में जन्म के दिन नाम रखने की व्यवस्था है ।[4] मनुस्मृति में दसवें या बारहवें दिन अथवा कोई शुभ तिथि नामकरण के लिए ठीक मानी गई है ।[5] याज्ञवल्क्य ने जन्म के ग्यारहवें दिन नामकरण की व्यवस्था की है ।[6] गहड़-वाल वंशीय राजा जयचन्द के एक दान-पत्र में पुत्र के नामकरण का उल्लेख है ।[7] वासुदेव उपाध्याय के अनुसार अभिलेखों के आधार पर यह संस्कार पुत्र जन्म के उन्नीस दिन पश्चात् सम्पन्न किया जाता था ।[8] इस प्रकार धर्म शास्त्रों तथा पूर्व मध्यकाल में नामकरण की तिथि आदि पर मतभेद दिखलाई पड़ता है ।

बौधायन, पारस्कर, गोभिल एवं महाभाष्य आदि के अनुसार बच्चे का नाम पिता के किसी पूर्वज का होना चाहिए ।[9] मनु के अनुसार सभी वर्णों के नाम शुभसूचक, शक्तिबोधक एवं शान्तिदायक होना चाहिए ।[10] धर्मशास्त्रकारों के अनु-सार गोद में बच्चे को रखकर माता अपने पति के दाहिने बैठती है । कुछ लोगों के मत से माता ही गुह्य नाम देती है और धान की भूसी को कांसे के बर्तन में छिड़क कर सोने की लेखनी से श्री 'गणेशायनमः' लिखने के पश्चात् बच्चे के चार नाम लिखती है, यथा—कुल देवता, मास नाम, व्यावहारिक नाम, तथा

---

१. सम० क० ६, पृ० ४९५; ७, पृ० ६०६-७; ८, पृ० ७३८ ।
२. वही २, पृ० ७७; ९, पृ० ८६२ ।
३. वही ८, पृ० ८०४ ।
४. शतपथ ब्राह्मण ६।१।३।९ ।
५. मनु० २।३० ।
६. याज्ञवल्क्य स्मृति १।१२ ।
७. इंडियन एंटीक्वेरी १८, पृ० १२९-३४ ।
८. वासुदेव उपाध्याय—दी सोसिओ रिलिजस कन्डीशन आफ नार्दर्न इण्डिया, पृ० १४२ ।
९. पी०वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० १९८ ।
१०. मनु० २।३१-३२ ।

नक्षत्र नाम। अतः यहाँ माता द्वारा नामकरण का संकेत प्राप्त होता है। किन्तु समराइच्च कहा में गुरुजनों द्वारा नाम रखने की बात कही गयी है।[1]

विवाह संस्कार

अन्य संस्कारों के साथ-साथ विवाह संस्कार को भी पवित्र कर्म माना जाता था। समराइच्च कहा में विवाह को यज्ञ स्वरूप बताया गया है।[2] विवाह की पवित्रता तथा पति-पत्नी के आदर्श एवं स्थायी सम्बन्ध के लिए दान, पूजा-हवन एवं पाणिग्रहण आदि क्रिया विधि का यथावत सम्पादन किया जाता था।[3] गृहस्थाश्रम में प्रवेश पाने लिए विवाह संस्कार ही आवश्यक कृत्य माना जाता था। समराइच्च कहा में विवाह का उद्देश्य कुशल गृहस्थ बनकर लोकधर्म का पालन करना, कुशल संतति पैदा करना, परोपकार तथा कुल परम्परागत कार्यों को क्रियान्वित करना आदि बताया गया है।[4]

ऋग्वेद में विवाह का उद्देश्य गृहस्थ होकर देवों के लिए यज्ञ करना तथा सन्तानोत्पत्ति करना था।[5] शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित है कि पत्नी-पति की अर्धांगिनी है, इसलिए जब तक वह विवाह नहीं करता, तब तक पूर्ण नहीं है।[6] मनुस्मृति के उल्लेख से स्पष्ट होता है कि पत्नी पर पुत्रोत्पत्ति, धार्मिक कृत्य, सेवा, सर्वोत्तम आनन्द, अपने तथा अपने पूर्वजनों के लिए स्वर्ग की प्राप्ति निर्भर रहती है।[7] अतः स्पष्ट है कि गृहस्थ जीवन के लिए वेद, ब्राह्मण तथा स्मृतियों में भी विवाह को आवश्यक कृत्य माना गया है। स्मृतियों मे अग्नि, देव और द्विज की साक्षी देकर वर-कन्या का पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न किये जाने का विधान है।[8]

गृहस्थाश्रम अन्य आश्रमों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। और उस गृहस्थ आश्रम में प्रवेश पाने के लिए विवाह अत्यन्त आवश्यक माना जाता था जिसे एक पवित्र संस्कार बताया गया है।

१. पी०वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० २०१।
२. सम० क० ७, पृ० ६३५, ९, पृ० ९०१।
३. वही २, पृ० ९३ से पृ० १०१; ४, पृ० ३३९-४०; ७, पृ० ६३३-३४-३५; ८, पृ० ८६५-६६-६७; ९, पृ० ८९९-१०१।
४. सम० क० ९, पृ० ८९५।
५. ऋग्वेद १०।८५।३६, ५।३।२, ५।२८।३।
६. शतपथ ब्राह्मण ५।२।१।१०।
७. मनुस्मृति ९।२८; देखिए—याज्ञवल्क्य स्मृति १।७८।
८. व्यास स्मृति २।२; वशिष्ठ स्मृति १।२; शंखस्मृति ४।१।

मृतक संस्कार

अंतिम संस्कार मृतक संस्कार था। श्मशान भूमि पर मृतकों के शव दाह के साथ अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न की जाती थी।[१] समराइच्च कहा में एक अन्य स्थान पर मृतक आत्मा की शान्ति के लिए ब्राह्मणों को भोजन कराये जाने तथा दान, हवन आदि दिव्य कृत्यों के साथ अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न किये जाने का उल्लेख है।[२] मृतकों के सुख एवं उसकी आत्मा की शांति के लिए और्ध्वदैहिक क्रिया भी सम्पन्न की जाती थी जिसमें काला अगरू, लवंग, चंदन तथा काष्ठ आदि से सत्कार किया जाता था और दान वितरित किया जाता था।[3] स्मृतियों में भी अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न किये जाने का उल्लेख है।[४] पूर्व मध्य कालीन अभिलेखों में मृतक संस्कार के अन्तर्गत श्राद्ध क्रिया का उल्लेख है।[५] यह श्राद्ध क्रिया मृतकों के भावी कल्याण के लिए प्रतिवर्ष मनाया जाता था।[६] हिन्दुओं की अन्त्येष्टि क्रिया का अंतिम भाग पिण्डदान है। इस पिण्ड दान के समय प्राचीन काल में मृतकों की आत्मा की शांति के लिए ब्राह्मणों को भोजन तथा दान दिया जाता था।[७]

विवाह

समराइच्च कहा में कुशल गृहस्थ जीवन के लिए विवाह को एक आवश्यक एवं पवित्र कृत्य माना गया है जिसके महत्व एवं उपयोगिता का उल्लेख संस्कारों की श्रेणी में किया गया है। यहाँ वर-कन्या के विवाह के पूर्व निम्नलिखित योग्यताओं को आवश्यक बताया गया है।

वय और रूप-यौवन

समराइच्च कहा में विवाह के पूर्व वर-कन्या के निर्वाचन में समान रूप और समान आयु का होना आवश्यक बताया गया है।[८] पति-पत्नी के भावी प्रेम के लिए समान आयु और समान रूप का होना वांछनीय है; क्योंकि पति-पत्नी के प्रेम के अभाव में गृहस्थ जीवन में सहयोग की भावना नहीं पनप सकती। यहाँ

---

१. सम० क० २, पृ० १२९-३०; ४, पृ० २६०।
२. वही ६, पृ० ५८३; ७, पृ० ७११।
३. वही ४, पृ० ३१०।
४. मनुस्मृति २।१६; याज्ञवल्क्य स्मृति १।१०।
५. इपि० इंडि० २, पृ० ३१०—'समग्रश्रद्धया श्राद्ध विधाय।'
६. वही ४, पृ० १०५, १२८—'सम्वत्सरिक पार्वणि श्राद्ध।'
७. राजबली पाण्डेय—हिन्दू संस्कार, पृ० ३३६।
८. सम० क० ४, पृ० २३५।

अनमेल विवाह से बचने के लिए हरिभद्र ने समान वय को आवश्यक बताया है। पति-पत्नी के आपसी सहयोग के बिना लोक धर्म का पालन संभव नहीं है। स्मृतियों में उल्लिखित है कि कन्या को वर से अवस्था में छोटी होनी चाहिए।[१] मनु एवं याज्ञवल्क्य ने बताया है कि विवाह के लिए कन्या को शुभ लक्षणों वाली होनी चाहिए और उनके अनुसार शुभ-लक्षण दो प्रकार के होने चाहिए बाह्य (शारीरिक लक्षण) एवं आभ्यंतर।[२] हिन्दू धर्मशास्त्रों में कन्या के युवा होने के पूर्व ही विवाह कर देना उचित बताया गया है। स्मृतियों में कन्या के रजस्वला हो जाने के पूर्व ही उसका विवाह न करने वाले अभिभावकों को अत्यन्त पाप का भागी माना गया है।[3] भवभूति ने भी उत्तर-राम चरितम् में कन्या के अल्पायु में ही विवाह किये जाने का संकेत किया है।[४] जैन ग्रन्थ आदि पुराण में वय और रूप यौवन विवाह निर्वाचन के लिए प्रथम गुण स्वीकार किये गये हैं।[५] सोम-देव ने यशस्तिलक में बारह वर्ष की कन्या और सोलह वर्ष के युवक को विवाह के योग्य बताया है।[६] अलबरुनी ने भी लिखा है कि हिन्दू लोग बारह वर्ष से अधिक आयु की कन्या से विवाह करना उचित नहीं मानते थे।[७]

विभव

समराइच्च कहा में विवाह द्वारा दो परिवारों के बीच सुसम्बन्ध के लिए समान विभव अर्थात् वैभव (धन सम्पत्ति) को आवश्यक बताया गया है।[८] महाभारत में भी विवाह के समय वर-कन्या के लिए बराबर धन (वैभव) तथा विद्या पर विशेष बल दिया गया है।[९] भारद्वाज गृह्यसूत्र में कन्या के विवाह के समय धन, सौन्दर्य, बुद्धि एवं कुल इन चार बातों को देखना आवश्यक बताया गया है।[१०] यम ने वर के लिए कुल, शक्ति, वपु (शरीर), यश, विद्या, धन एवं सनाथता (सम्बन्धी एवं मित्र लोगों का आलंबन) इन सात गुणों को गिनाया

१. गौतम० ४।१; वशिष्ठ० ८।१; याज्ञवल्क्य स्मृति १।५२।
२. मनु० ३।४; याज्ञवल्क्य० १।५२।
३. पराशर स्मृति २।७; शंख स्मृति १५।८।
४. उत्तरराम चरितम् १।२०।
५. आदिपुराण १५।६९ तथा ६३४।
६. यशस्तिलक पृ० ३१७।
७. सचाऊ २, पृ० १३१।
८. सम० क० ४, पृ० २३५।
९. महाभारत आदि पर्व १३१।१०; उद्योग पर्व ३३।११७।
१०. भारद्वाज गृह्यसूत्र १।११।

है।[१] आदिपुराण में भी समान वैभव को वर-कन्या के लिए एक आवश्यक गुण बताया गया है।[२] दो परिवारों के बीच सुसम्बन्ध एवं उनके विकास में समान विभव को विवाह के लिए आवश्यक माना जाता था।

शील

समराइच्च कहा में विवाह संस्कार के लिए वर-कन्या को समान शील अर्थात् समान चरित्र का होना आवश्यक बताया गया है।[3] यम ने भी वर के लिए आवश्यक मात गुणों में शील को भी गिनाया है।[४]

धर्म

हरिभद्र के काल मे विवाह के लिए वर-वधू को समान धर्मी होना आवश्यक माना गया है।[५] विधर्मियों के साथ विवाह करना उचित नहीं माना जाता था।[६] समराइच्च कहा का यह उल्लेख संभवतः जैन धर्म की विचारधारा का ही प्रतिफल है; क्योंकि समराइच्च कहा के समर्थन मे आदि पुराण में भी विवाह के लिए वर-वधू को समान धर्मी होना आवश्यक बताया गया है।[७] स्मृतियों मे ऐसा उल्लेख न हो कर वर्ण के आधार पर विवाह की चर्चा अवश्य की गयी है। हरिभद्र की दृष्टि मे विधर्मी दम्पति के बीच सुसम्बन्ध की संभावना न होकर कलह की संभावना अधिक हो जाती है जिससे उन्होंने समानधर्मी को विवाह के लिए उपयुक्त बताया है। मनु ने अपने ही वर्ण मे विवाह करना सर्वोत्तम माना है।[८] गौतम ने भी सवर्ण विवाह की चर्चा की है।[९] किन्तु याज्ञवल्क्य स्मृति में ब्राह्मण या क्षत्रिय को अपने या अपने बीच वर्ण के साथ विवाह करने का उल्लेख है।[१०] पी०वी० काणे के अनुसार ९वीं एवं १० वी शताब्दी तक अनुलोम विवाह होते रहे; किन्तु कालांतर में इसका प्रचलन कम होता गया और बाद में सदा के

१. देखिए—पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० २६९।
२. आदि पुराण १५।६९।
३. सम० क० ४, पृ० २३५; ५, पृ० ३७७; तुलना के लिए देखिए—आदि० १५।६९ तथा १३४।
४. पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० २६९।
५. सम० क० ४, पृ० २३५।
६. वही ७, पृ० ६१९।
७. आदि पुराण १५।६९ तथा १३४।
८. मनुस्मृति ३।१२।
९. गौतम स्मृति ४।१।
१०. याज्ञवल्क्य स्मृति १।५७।

लिए लुप्त हो गया।[१] संभवतः जैन विचारधारा के अनुसार समान धर्मी से विवाह के पश्चात पति-पत्नी के बीच परस्पर स्नेह के साथ साथ इहलौकिक तथा पारलौकिक सुख वृद्धि में सहायता मिलती थी।

विवाह के प्रकार

स्मृतिकारों ने आठ प्रकार के विवाह का उल्लेख किया है—ब्राह्म विवाह, देव विवाह, आर्ष, प्राजापत्य, गान्धर्व, राक्षस, असुर एवं पैशाच विवाह।[२] इन आठ प्रकार के विवाहों में प्रथम बार अर्थात् ब्राह्म विवाह, आर्ष विवाह और प्राजापत्य विवाह प्रायः सभी जातियों के लिए विहित थे, गांधर्व और राक्षस विवाह केवल क्षत्रियों के लिए, तथा असुर एवं पैशाच विवाह सभी के द्वारा उपेक्षित से थे।[3] समराइच्च कहा के कथा प्रसंग में तीन प्रकार के विवाह का उल्लेख है—स्वयंबर विवाह, प्रेम विवाह और परिवार द्वारा विवाह।

स्वयंवर-विवाहः-

समराइच्च कहा के उल्लेख से पता चलता है कि उस समय कुछ राजघरानों में स्वयंबर प्रथा का प्रचलन था।[४] कन्या जब विवाह के योग्य हो जाती थी तो पिता देश के अन्दर दूर दूर तक के प्रतिष्ठित व्यक्तियों को आमंत्रित करता था और तद्नुसार किसी निश्चित तिथि पर स्वयंबर का आयोजन किया जाता था।[५] रामायण में सीता तथा महाभारत में द्रोपदी का विवाह भी स्वयंबर प्रथा के अनुसार किया गया था; किन्तु यहाँ विवाह कन्याओं की अपनी इच्छा पर नहीं अपितु पूर्व निर्धारित दक्षता प्राप्त करने वालों के बीच प्रतियोगिता के आधार पर होना निश्चित था।[६] ऋग्वेद में भी गान्धर्व विवाह का उल्लेख है।[७] स्वयंबर को धर्म शास्त्रकारों ने व्यावहारिक रूप में गांधर्व के समान ही माना है।[८] धर्म शास्त्रों में स्वयंबर के कई प्रकार बताए गये हैं प्रथम जिसमें युवावस्था प्राप्त कर

१. पी० वी० काणे—धर्म शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० २७८।
२. मनु० ३।२०-२१ तथा २७-३४; याज्ञवल्य १।५८-६१; शंखस्मृति, ४।१२४-२६।
३. शंखस्मृति ४।३।
४. सम० क० ४, पृ० ३३९; ७, पृ० ६३२; ८, पृ० ७५७; ९, पृ० ८९४।
५. वही ९, पृ० ८९४।
६. काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ३००।
७. ऋग्वेद १०।२७।१२; १।११९।५।
८. याज्ञवल्क्य स्मृति १।६१।

लेने पर कन्या तीन वर्ष[1] या तीन मास[2] जोह कर स्वयंबर का वरण कर सकती है। याज्ञवल्क्य के अनुसार पितृहीन तथा अभिभावक हीन कन्या स्वयं योग्य वर का वरण कर सकती है।[3] समराइच्चकहा की ही भाँति यशस्तिलक में भी उल्लिखित है कि स्वयंबर-मंडप में जन समुदाय उपस्थित होता था तथा कन्या हाथ में वरमाला लिए मंडप में प्रवेश करती और अपनी रुचि के अनुसार किसी योग्य व्यक्ति के गले में जयमाला डाल देती थी।[4] इस प्रकार पति के निर्वाचन के पश्चात् शुभ मुहूर्त में विवाह संस्कार सम्पन्न किया जाता था। इस प्रथा के अनुसार कन्या को अपने भावी पति के चयन की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। उपरोक्त उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि स्वयम्बर प्रथा का प्रचलन अधिकतर राजघरानों में ही था। स्वयम्बर के आयोजन का पूरा उत्तरदायित्व कन्या पक्ष वालों पर ही होता था।

प्रेम विवाह

समराइच्च कहा में प्रेम विवाह का भी उल्लेख प्राप्त होता है। कन्या और पुरुष द्वारा परस्पर अवलोकन मात्र से ही रूप, गुण, यौवन आदि के प्रति आकर्षण-वश प्रेम श्रोत प्रवाहित हो जाता था। परिणामतः यही प्रेम धीरे-धीरे वृद्धिगत होकर विवाह के रूप में परिणत हो जाता था।[5] महाभारत में अर्जुन और सुभद्रा के प्रेम विवाह का उल्लेख हैं।[6] मनुस्मृति में वर और कन्या की परस्पर सम्मति से जो प्रेम की भावना के उद्रेक का प्रतिफल हो तथा सम्भोग जिसका उद्देश्य हो, उस विवाह को गान्धर्व विवाह कहा गया है।[7] कादम्बरी में भी कादम्बरी और चन्द्रापीड का विवाह प्रेम विवाह का ही प्रतिफल है।[8] प्रेम विवाह के आधार पर पति-पत्नी के जीवन में परस्पर प्रेम, संयोग एवं सहकारिता आदि की भावना बढ़ती है।

---

१. बौधायन धर्मसूत्र ४।१।१३; मनु० ९।९० ।
२. गौतम० १८।१०९; विष्णु धर्मसूत्र २५।४०-४१ ।
३. याज्ञवल्क्य स्मृति, १।६४ ।
४. यशस्तिलक पृ० ७९, ४७८, ३५८ उत्त०; देखिए—दी एंज आफ इम्पीरियल कन्नौज पृ० ३७६ ।
५. सम० क० द्वितीय एवं सप्तम् भव की कथा तथा ९, पृ० ८९५ ।
६. महाभारत—आदि पर्व २१९।२२ ।
७. मनु० ३।२७-३४ ।
८. कादम्बरी पृ० ४१३; देखिए—उपमितिभवप्रपंचा कथा पृ० २५३ ।

परिवार द्वारा विवाह

समराइच्च कहा में वरान्वेषण की प्रथा का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[1] विवाह के योग्य हो जाने पर कन्या के माता-पिता द्वारा उसके योग्य रूप तथा कलाओं आदि में निपुण वर की खोज की जाती थी। कन्या के योग्य वर की प्राप्ति होने पर शुभ लग्न मुहूर्त में विवाह क्रिया सम्पन्न की जाती थी। वरान्वेषण कार्य में धात्री और पुरोहित का कार्य महत्त्वपूर्ण था। मनुस्मृति में ब्राह्म विवाह की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि जिस विवाह में बहुमूल्य अलंकारों और परिधानों से सुसज्जित, रत्नों से मंडित कन्या पंडित एवं सुचरित्रवान व्यक्ति को निमंत्रित कर (पिता द्वारा) दी जाती है उसे ब्राह्म विवाह कहते हैं।[2] यशस्तिलक में भी उल्लिखित है कि वरान्वेषण क्रिया में धात्री और पुरोहित का कार्य महत्त्व का होता था।[3] अतः स्पष्ट है कि प्राचीन काल में परिवार द्वारा वरान्वेपण करके शुभ लग्न मुहूर्त में जो विवाह क्रिया सम्पन्न की जाती थी उसे हम ब्राह्म विवाह के अन्तर्गत मान सकते हैं। इसे समराइच्च कहा में यज्ञ स्वरूप कहा गया है।

विवाह विधि

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में विवाह क्रिया को एक पवित्र संस्कार माना गया है। गृहस्थ आश्रम की सफल भूमिका निभाने के लिए हर व्यक्ति को विवाह सूत्र में बंधना परम आवश्यक समझा जाता था। समराइच्च कहा में तो विवाह क्रिया को यज्ञ क्रिया का सा महत्त्व दिया गया है।[4] हरिभद्र ने समराइच्च कहा में विवाह विधि का सांगोपांग वर्णन किया है[5] जिसका विश्लेषण हम अधोलिखित ढंग से कर सकते हैं।

दान क्रिया

समराइच्च कहा में विवाह के अवसर पर मांगलिक वाद्य, नृत्य आदि के साथ याचकों को दान दिये जाने का उल्लेख है। शांखायन धर्मसूत्र में ब्राह्मणों के लिए एक गाय, राजा महाराजा के विवाह में एक ग्राम, वैश्य के विवाह में एक

१. सम० क० ७, पृ० ७१९।
२. मनु० ३।२७-३४।
३. यशस्तिलक पृ० ३५०-५१, उत्त०।
४. सम० क० ७, पृ० ६३५; ९, पृ० ९०१।
५. वही पृ० ९३, १०१; ४, पृ० ३३९-४०; ७, पृ० ६३३ से ३५ तक; ८, पृ० ७६५-६७; तथा ९, पृ० ८९९-९०१।

घोड़े का दक्षिणा दान देना उचित बताया गया।[१] बौधायन धर्मसूत्र में केवल एक गाय दान देने की बात कही गयी है।[२] अतः विवाह के समय दान देने की प्रवृत्ति धर्म शास्त्रों में भी देखने को मिलती है। आदिपुराण में भी विवाह के अवसर पर दान क्रिया का उल्लेख है।[३]

शुभ दिन निर्धारण

ज्योतिषियों द्वारा विवाह क्रिया सम्पन्न करने के लिए शुभ दिन का निर्धारण किया जाता था। हर्षचरित में भी विवाह के लिए शुभ मुहूर्त निर्धारित करने का उल्लेख है।[४]

वर-वधू का अंग प्रसाधन

विवाह क्रिया सम्पन्न होने के पूर्व वर-वधू को सुगन्धित पदार्थों का लेप किया जाता था। तत्पश्चात लाल-वस्त्र पहने हुए युवतियों द्वारा दूर्वांकुर, दधि, अक्षत, आदि छिड़का जाता था। मानव धर्मसूत्र में वर-वधू के परिधान एवं सन्नहन का उल्लेख है।[५] शांखायन धर्मसूत्र में वर-वधू के लिए उबटन लगाने का उल्लेख है।[६] आदि पुराण में उल्लिखित है कि वर-वधू उज्ज्वल, सूक्ष्म एवं रेशमी वस्त्र धारण करते थे। परिधान धारण करने के पश्चात् उन्हें प्रसाधन गृह में ले जा कर अलंकृत किया जाता था।[७]

मंजन क्रिया

वर-वधू को विवाह मंडप में ले जाने के पूर्व सुवर्ण कलशों में भरे सुगन्धित जल से स्नान कराया जाता था। आदिपुराण में उल्लिखित है कि वर-वधू को आंगन में बैठाया जाता था; तत्पश्चात् विधि विधान जानने वाले लोग कलशों में भरे पवित्र जल से वर-वधू का अभिषेक करते थे। उस समय शंख ध्वनि की जाती थी तथा मंगल वाद्य बजाए जाते थे।[८]

१. शांखायन धर्मसूत्र १।१४।१३-१७।
२. बौधायन धर्मसूत्र १।४।३८।
३. आदिपुराण ७।२६८-७०।
४. हर्षचरित ४, पृ० १४५।
५. मानव धर्मसूत्र १।११।४-६।
६. शांखायन धर्मसूत्र १।१३।५।
७. आदिपुराण ७।२२२-२३३।
८. वही ७।२२२-२३३।

पुरोहित द्वारा पुष्पक्षेपण

पाणिग्रहण के पूर्व पुरोहित द्वारा सौभाग्य वृद्धि के लिए स्वस्ति क्रिया के पश्चात् मांगलिक पुष्पक्षेपण किया जाता था। आदिपुराण में भी उल्लिखित है कि पुरोहित के द्वारा पुष्पक्षेपण के साथ-साथ अभिषेक संस्कार किया जाता था। तदनन्तर वारांगनाएँ, कुलवधुएँ और समस्त नगरवासी जन वर-वधू को आशीर्वाद देकर पुष्प एवं अक्षतों का क्षेपण करते थे।[1]

नख-छेदन

समराइच्च कहा में अन्य कर्मों के साथ-साथ नाई द्वारा नहछू कर्म भी सम्पन्न करने का उल्लेख है।

वधू अलंकरण

विवाह मंडप में जाने से पूर्व वधू को नाना प्रकार के अंग प्रसाधन सामग्रियों तथा अलंकरणों द्वारा अलंकृत किया जाता था। पैरों में लाक्षारस (महावर), अधर रंजित करना, नेत्रों में अंजन, मस्तक पर तिलक, स्तन युगल पर पत्र लेखन, केश प्रसाधन, पैरों में नूपुर, अंगुलियों में मुद्रिका, नितम्बों पर मणि-मेखला, बाहु माला, स्तनों पर पद्मपराग मणि जटित वस्त्र, मुक्ताहार, कर्णाभूषण और मस्तक पर चूड़ा मणि आदि प्रसाधनों तथा अलंकरणों द्वारा वधू को अलंकृत करने का उल्लेख है। शांखायन धर्मसूत्र में वधू के हाथ में कंगन बाँधने का उल्लेख है।[2] आदिपुराण में भी उल्लिखित है कि वधू को प्रसाधन गृह में ले जाकर विवाह मंगल के योग्य उत्तम आभूषणों से अलंकृत किया जाता था। ललाट पर चंदन-कुंकुम का तिलक लगाया जाता था; वक्षस्थल पर श्वेत लेप, गले में मुक्ता के हार, केशों में पुष्पमालाएँ, कानों में कर्णाभूषण तथा कमर में छुद्र-घंटिकाओं से जटिल करधनी आदि आभूषणों से अलंकृत किया जाता था।[3]

वर अलंकरण

समराइच्च कहा में वधू के साथ-साथ वर को भी नाना प्रकार के अलंकरणों से अलंकृत किये जाने का उल्लेख है।

मंडपकरण

विवाह क्रिया का सम्पादन मंडप में किया जाता था। समराइच्च कहा में

---

१. आदि पु० ७।२२२-२३३।

२. शांखायन धर्मसूत्र १।१२।६-८।

३. आदिपुराण ७।२२२-२३३।

विवाह मंडप को मणिमुक्ता आदि से सजाये जाने का उल्लेख है। धर्मशास्त्र में भी मंडपकरण का उल्लेख है। पारस्कर गृह्यसूत्र में उल्लिखित है कि विवाह, चौल, उपनयन, केशान्त एवं सीमान्त आदि घर के बाहर मंडप में करना चाहिए।[1] आदिपुराण में भी मंडपकरण का सांगोपांग वर्णन मिलता है। मंडप का निर्माण बहुमूल्य पदार्थों द्वारा किया जाता था। मांगलिक द्रव्यों के साथ सौंदर्य वर्धक पदार्थों का भी उपयोग किया जाता था। विवाह मंडप के स्तम्भ स्वर्ण मणि मुक्ताओं से रचित होते थे और उनके नीचे रत्नों से शोभायमान बड़े-बड़े कुम्भ लगे रहते थे। उस मंडप की दीवालें स्फटिक की बनी होती थी जिसमें लोगों के प्रतिबिम्ब झलकते थे। मंडप की भूमि नील रत्नों से बनायी जाती थी और उस पर पुष्प बिखरे रहते थे। मंडप के भीतर मोतियों की मालायें लटकती रहती थी तथा मध्य में वेदी बनायी जाती थी। उस वेदी को अपने वैभव के अनुसार पाषाण, मृत्तिका, या मणियों आदि से निर्मित किया जाता था। उस मंडप के पर्यन्त भाग में चूना से पुते हुए श्वेत शिखर शोभित होते थे। मंडप के सभी ओर एक छोटी-सी वेदिका बनी होती थी जो कटिसूत्र के समान होती थी। मंडप का गोपुर द्वार उन्नत रहता था और गोपुर को अनेक प्रकार से सजाया जाता था।[2] मंडपकरण की यह अलंकरण विधि सम्भवतः राजाओं एवं महाराजाओं के सामर्थ्य के अनुसार ही संभव थी।

लग्न निर्धारण

विवाह मंडप में प्रवेश करने तथा विवाह की क्रिया-विधि संचालित करने के लिए ज्योतिषियों द्वारा शुभ मुहूर्त निर्धारित किया जाता था।

वर-यात्रा

बारात का जनवास से विवाह मंडप के लिए प्रस्थान करने को वर यात्रा कहा गया है। वर के मंडप में पहुँचने पर विलासिनियों द्वारा स्वागत किया जाता था। राजवली पाण्डेय के अनुसार वर के पहुँचने पर वहाँ दीपक तथा मंगल-घट लिए हुए स्त्रियां का एक दल स्वागत के लिए उपस्थित रहता था।[3]

भृकुटि-भग्न-क्रिया

समराइच्च कहा में उल्लिखित अन्य क्रिया विधि के साथ-साथ रत्नमयी अंगूठियों से बँधे सुवर्ण मुशल द्वारा-भौंह स्पर्श कराने का भी उल्लेख है।

---

१. पारस्कर गृह्यसूत्र १।४।
२. आदि पु० ७।२२-२३३।
३. राजबली पाण्डेय—हिंदू संस्कार, पृ० २८६।

परस्पर वदनावलोकन

वर-वधू का परस्पर मुख दृश्यावलोकन क्रिया भी सम्पन्न की जाती थी। बौधायन धर्मसूत्र में भी वर-वधू द्वारा परस्पर अवलोकन क्रिया का उल्लेख है।[१] आश्वलायन गृह्यसूत्र-परिशिष्ट के अनुसार सर्वप्रथम वर एवं वधू के बीच में एक वस्त्र रखा जाना चाहिए और ज्योतिषघटिका के अनुसार हटा लिया जाना चाहिए, तब वर-वधू को एक दूसरे को देखना चाहिए।[२]

उत्तरीय प्रतिबन्धन

विवाह मंडप में विवाह क्रिया का सम्पादन वर-वधू के परस्पर गठबन्धन के साथ किया जाता था। इस क्रिया में वर-वधू के उत्तरीय के एक-एक छोर को बांधा जाता था। हर्ष चरित में भी उत्तरीय प्रतिबन्धन द्वारा वर-वधू को वेदी की भांवर करने का उल्लेख है।[3] यह प्रथा आज भी प्रचलित है।

पाणिग्रहण

वर-वधू का मंत्रोच्चारण के साथ पाणिग्रहण होता था। ऋग्वेद में भी पाणिग्रहण क्रिया के सम्पादन में बताया गया है कि मैं तुम्हारा हाथ सुख के लिए ग्रहण करता हूँ।[४] काणे ने विवाह संकार को तीन भागों में बांटा है। उनके अनुसार कुछ कृत्य प्रारंभिक कहे जा सकते हैं, उनके उपरांत कुछ ऐसे कृत्य हैं जिन्हें हम संस्कार का सार तत्त्व कह सकते हैं, यथा—पाणिग्रहण, होम, अग्नि प्रदक्षिणा एवं सप्तपदी तथा कुछ कृत्य ऐसे हैं जो उक्त मुख्य कृत्यों के प्रतिफल मात्र हैं, यथा-ध्रुव-तारा, अरुन्धती आदि का दर्शन।[५] इस प्रकार पाणिग्रहण विवाह संस्कार का आवश्यक अंग है। आदि पुराण में उल्लिखित है कि वर-वधू को जल से पवित्र किया जाता था और मंत्रोच्चारण के साथ मंगलाक्षत छोड़े जाते थे। तत्पश्चात् पाणिग्रहण क्रिया सम्पन्न की जाती थी।[६] आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार कन्या के साथ वर अग्नि एवं कलश की दाहिनी ओर से तीन बार प्रदक्षिणा करेगा और कहेगा—"मैं अम (यह) हूँ, तुम सा (वह) हो, तुम सा हो और मैं अम हूँ; मैं स्वर्ग हूँ तुम पृथ्वी हो; मैं साम हूँ तुम

---

१. काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास भाग १, पृ० ३०४।

२. वही भाग १, पृ० ३०४।

३. हर्षचरित ४, पृ० १४७।

४. ऋग्वेद १०।८५।३६।

५. पो० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ३०२।

६. आदिपुराण—७।२४६-२५०।

क् हो। हम दोनों विवाह कर लें। हम संतान उत्पन्न करें। एक दूसरे को प्यारे, चमकीले, एक दूसरे की ओर झुके हुए हम लोग सौ वर्ष तक जीयें[1]।" पाणिग्रहण के समय आज भी वर-वधू एक दूसरे के साथ सुसम्बन्ध बनाए रखने के लिए शपथ ग्रहण करते हैं।

बरातियों का स्वागत

वधू पक्ष वाले वर पक्ष से आये हुए बरातियों के स्वागत में सुगंधित पुष्प मालाएँ, सुगंधित विलेपन, कर्पूर मिश्रित ताम्बूल, वस्त्र एवं आभूषण आदि का वितरण करते थे। आदि पुराण में विवाहोत्सव में सम्मिलित होने वालों का दान, मान एवं सम्भाषण द्वारा यथोचित आदर किये जाने का उल्लेख है।[2]

हवन विधि

विवाह मंडप के बीच बनी हवन कुण्ड में अग्नि प्रज्ज्वलित की जाती थी और उस अग्निकुण्ड में धूप, घृत, चीनी आदि पदार्थों की मंत्र सहित हवन क्रिया सम्पन्न की जाती थी। विवाह, संस्कार के समय हवन क्रिया का प्रचलन अतिप्राचीन है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में उल्लिखित है कि अग्नि के पश्चिम चक्की तथा उत्तर-पूर्व पानी का घड़ा रख कर वर को होम करना चाहिए।[3] काणे ने हवन क्रिया को विवाह संस्कार का सारतत्त्व कहा है।[4] हर्ष चरित में भी विवाह संस्कार के समय मंत्रोच्चारण द्वारा हवन कुण्ड में आहुति देने का उल्लेख है।[5]

भाँवर-क्रिया

समराइच्च कहा में पाणिग्रहण के पश्चात् वर-वधू द्वारा परस्पर उत्तरीय के एक-एक छोर के गठबन्धन के साथ अग्नि कुण्ड की परिक्रमा किये जाने का उल्लेख है। यहाँ यह परिक्रमा चार-बार करायी गयी है। यहाँ समराइच्च कहा में प्रथम भाँवर के समय वधू के पिता द्वारा वर को दक्षिणा-स्वरूप सौ स्वर्ण कलश देने का उल्लेख है। दूसरी भाँवर में वर के पिता द्वारा वधू के लिए हार, कुण्डल, करधनी, त्रुटितसार, कंगन आदि; तीसरी भाँवर के समय चाँदी के थाल, तस्तरी आदि बर्तन तथा चौथी भाँवर के समय बहुमूल्य वस्त्र आदि

---

१. आश्वलायन गृह्यसूत्र १।७।३-१।८।
२. आदि पुराण ७।२६८-७०।
३. आश्वलायन गृह्यसूत्र १।७।३-१।८।
४. काणे—धर्म शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ३०२।
५. हर्ष चरित ४, पृ० १४७।

वधू के पिता द्वारा वर पक्ष को दक्षिणा स्वरूप दिये जाने का उल्लेख है। धर्मशास्त्रों में वर-वधू द्वारा अग्नि एवं कलश की प्रदक्षिणा करने का उल्लेख है;[१] किन्तु दक्षिणा आदि देने का उल्लेख नहीं है। मालती माधव तथा कर्पूरमंजरी में भी हवन क्रिया के पश्चात् वर-वधू द्वारा विवाह वेदी की परिक्रमा किये जाने का उल्लेख है।[२] उपरोक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि हरिभद्र के काल में दहेज प्रथा का भी प्रचलन हो चुका था जिसमें भाँवर के समय वर पक्ष के लोग वधू को अलंकरण आदि तथा वधू पक्ष वाले वर के लिए विविध प्रकार की सामग्रियाँ तथा सोना, चाँदी आदि धन-सम्पत्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार दक्षिणा स्वरूप प्रदान करते थे।

नारी

प्राचीन भारतीय समाज की भित्ति पर नारी जीवन के अनेक चित्र देखने को मिलते हैं। वैदिक काल से ही स्त्रियों ने पुरुषों की सहगामिनी के रूप में सामाजिक उत्थान में बराबर योगदान दिया है। वैदिक काल में स्त्रियों ने भी ऋचायें बनायी, वेद पढ़े तथा पतियों के साथ धार्मिक कृत्य किये। अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा ने दो पद्यों की रचना की थी।[3] अपाला नाम की एक अन्य दार्शनिक स्त्री का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[४] वैदिक काल में स्त्रियाँ पुरुषों के समान शिक्षित होती थी तथा वे पुरुषों के साथ वाद-विवाद में बराबर-भाग लेती थी।[५] काणे के अनुसार उत्तर कालीन युग की तुलना में उनकी स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी थी।[६] वैदिक काल से लेकर हरिभद्र के काल तक आते-आते हम नारी जीवन का एक विकसित रूप देखते हैं। समराइच्च कहा में यदि दुष्टशीला नारी की निन्दा की गयी है तो सच्चरित्र नारी की प्रशंसा भी की गयी है। उसे सुधाहार तुल्य बताया गया है[७] जिससे तत्कालीन समाज में नारी वर्ग के गौरव का पता चलता है। एक अन्य स्थान पर नारी को प्रजापति कला की चरमोत्कृष्ट पृष्ठभूमि, लावण्य की उत्पत्ति तथा विशुद्ध शीलवाली[८] कहा गया

---

१. पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ३०४।
२. मालती माधव, अंक ६; कर्पूर मंजरी, अंक ४।
३. ऋग्वेद १।१७०।१-२।
४. वही ८।८०।९।१।
५. प्रभु—हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, पृ० २५८।
६. पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ३२४।
७. सम० क० ९, पृ० ९२२।
८. वही ८, पृ० ७३१।

है। दूसरे स्थान पर नारी की प्रशंसा में उसे सरल स्वभाव वाली स्थिर स्नेहालु अनंगराजधानी तथा धर्मरूप कल्प वृक्ष[1] के समान स्वीकार कर गौरव प्रदान किया गया है। महाभारत में भी नारी को पूज्य बताया गया है और कहा गया है कि जहाँ स्त्रियों का सत्कार होता है वहाँ हर प्रकार की सम्पन्नता सुलभ रहती है लेकिन जहाँ इनका अनादर होता है वहाँ सारे प्रयास अफलित होते हैं।[2] बौधायन धर्मसूत्र एवं स्मृतियों में भी स्त्रियों की प्रशंसा की गयी है।[3] कामसूत्र में तो स्त्रियों को पुष्पों के समान माना गया है।[4] यशस्तिलक में भी दुश्चरित्र वाली स्त्रियों की जहाँ निन्दा करके उन्हें तिरस्कृत किया गया है वहीं उनकी प्रशंसा मे बताया गया है कि स्त्री के बिना संसार के सारे कार्य व्यर्थ हैं, घर जंगल के समान है और जिन्दगी बेकार है।[5]

नारी तत्कालीन समाज में भोग-विलास की सामग्री नहीं समझी जाती थी वरन् उसका भी अपना व्यक्तित्व था तथा उसे भी स्वतंत्र रूप से विकसित एवं पल्लवित होने की पूर्ण सुविधायें प्राप्त थी। वह जीवन में पुरुष की सहगामिनी बनती थी, दासी नहीं। हरिभद्र के काल मे हमें नारी जीवन के विभिन्न रूपों यथा—कन्या रूप, पत्नी रूप, माता, विधवा, दासी, वेश्या तथा साध्वी रूप का पता चलता है।

कन्या

भारतीय समाज में कन्या सदा से ही लालन-पालन के साथ आदर की पात्र रही है। हरिभद्र के काल में यद्यपि पुत्र की अपेक्षा पुत्री के जन्म के अवसर पर माता-पिता को उतनी खुशी नहीं होती थी क्योंकि पुत्री एक देया (धरोहर) के रूप में समझी जाती थी फिर भी कन्या के प्रति माता-पिता के हृदय में अपूर्व प्रेम की भावना विद्यमान थी।[6] परिवार मे उसका पालन पोषण बड़े ही सुव्यवस्थित ढंग से होता था जिसके लिए धायी नियुक्त रहती थी।[7]

१. सम० क० २, पृ० १२३।
२. महाभारत—अनुशासन पर्व ४६।५।
३. बौधायन धर्मसूत्र २।२।६३-६४; मनु० ३।५५-६२; यज्ञवल्क्य० १।७१, ७४, ७८।
४. कामसूत्र ३।२, (कुसुम सधर्माणोहियोषितः)।
५. यशस्तिलक, पृ० १२०, (यामन्तरेण जगतः विफलाः प्रयासः, यामन्तरेण भवनानि वनोपमानि। यामन्तरेण हत् संगति जीवितं च)।
६. सम० क० ७, पृ० ६३२; ८, पृ० ७५१, ७५९; ९, पृ० ८९४।
७. वही ५, पृ० ३७१।

आदिपुराण से भी पता चलता है कि कन्या और पुत्र में कोई अन्तर नहीं था। दोनों के संस्कार समान रूप से सम्पादित कर कन्या की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है।[1] आदिपुराण में कन्या जन्म को अभिशाप नहीं माना गया है।[2] बाल्यावस्था से ही कन्या को नूपुर आदि विभिन्न अलंकारों से अलंकृत किया जाता था।[3] समराइच्च कहा में कन्या की शिक्षा दीक्षा पर विशेष बल दिया गया है; क्योंकि रूप, कला तथा विज्ञान आदि कन्या के गुण माने जाते थे।[4] इन्हीं गुणों से युक्त कन्या विवाह के योग्य मानी जाती थी। चित्रकला के साथ-साथ उसे काव्य आदि साहित्य की भी शिक्षा दी जाती थी[5]। समराइच्च कहा के उल्लेख से पता चलता है कि माता-पिता अपनी कन्या को कला-विज्ञान आदि से सुशिक्षित करने का भरपूर प्रयास करते थे।[6]

नारी शिक्षा के प्रमाण हमें वैदिक काल से ही मिलते हैं। अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा तथा अपाला एवं इन्द्राणी आदि सुशिक्षित एवं विदुषी स्त्रियाँ इसके प्रमाण हैं। इससे पता चलता है कि वैदिक काल में भी स्त्रियों को बाल्यावस्था से पुरुषों के समान सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत करने का प्रयास किया जाता था। आदिपुराण में भी विद्या की महत्ता बताते हुए कन्या को शिक्षा ग्रहण करने की प्रेरणा दी गयी है।[7] अन्य संस्कृत ग्रन्थों[8] में भी संगीत, वाद्य, नृत्य आदि कलाओं में नारी वर्ग की प्रवीणता का संकेत इस बात को स्पष्ट करता है कि कन्या को उक्त विषयों की शिक्षा दी जाती थी। समराइच्च कहा की भाँति रत्नावली में भी कन्या द्वारा चित्र-पट पर चित्र अंकित करने का उल्लेख है।[9] कर्पूरमंजरी तथा विद्धशाल भंजिका की नायिकाएं अपने प्रेमियों को पद्य रचना तथा पत्र लेख द्वारा समाचार भेजती थी।[10] अशिक्षित स्त्रियों में अशिष्टता एवं कुमार्ग प्रवृत्ति का प्रमाण मिलता

१. आदिपुराण ३८।७० ।
२. वही ६।८३ ।
३. सम० क० ८, पृ० ७८४ ।
४. वही ८, पृ० ७३८-३९ ।
५. वही २, पृ० ८७-८८; ८, पृ० ७५९ ।
६. सम० क० ८ पृ० ७५९.—'अहो मे धूयाये चित्तयम्म चउरत्तणं ।'
७. आदि पुराण १६।९८, 'विद्यावान पुरुषो लोके सम्मतिं याति कोविदैः । नारी च तद्वती धत्ते स्त्री सृष्टेरग्रिमं पदम् ।'
८. प्रिय दर्शिका पृ० १६; हर्ष चरित ४, पृ० १८०; कादम्बरी, पृ० ३२४ ।
९. रत्नावली, अंक २, पृ० ३२ ।
१०. कर्पूर मंजरी अंक ३, पृ० ३४; विद्धशाल भंजिका, अंक १, पृ० ६८; अंक ३, पृ० १६६ ।

है[1] जिससे स्पष्ट होता है कि लोगों में इस भावना को लेकर शिक्षा के प्रति विशेष झुकाव था। शिक्षित तथा सुसंस्कृत स्त्रियाँ सदा अपने कुल एवं मर्यादा का ध्यान रख कर आत्मकल्याण के मार्ग पर बढ़ती रहती थीं। अतः एक सफल गृहणी बनने के लिए कन्या को सभी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी।

रूप, कला एवं विज्ञान आदि से युक्त कन्याएं युवावस्था को प्राप्त होने पर विवाह योग्य समझी जाती थीं।[2] स्वेच्छा से अपने भावी पति का वरण कर सकती थी।[3] नायाधम्मकहा एवं जातक कथा में भी स्वयम्वर का उल्लेख प्राप्त होता है जिससे कन्या को अपने पति का चयन करने की स्वतन्त्रता प्राप्त थी।[4]

यद्यपि तत्कालीन समाज के लोगों में कन्या के प्रति स्नेह पूर्ण भावना थी फिर भी युवावस्था को प्राप्त सौन्दर्य युक्त कन्या के अपहरण का भी उल्लेख मिलता है।[5] सम्भवतः ऐसी भावना राजघरानों में थी। समान रूप, कुल तथा अनुराग वाली कन्याओं का अपहरण अनिन्दनीय माना जाता था।[6]

भार्या

विवाह के पश्चात् ही वधू गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होकर गृहणीपद प्राप्त करती थी। समराइच्च कहा में भार्या को गृहणी नामक संज्ञा से सम्बोधित किया गया है।[7] वह घर-गृहस्थी की साम्राज्ञी समझी जाती थी तथा अपने पति की जीवन-संगिनी तथा सलाहकार समझी जाती थी।[8] घर में प्रवेश करते ही सास-ससुर बहू का सम्मान करते थे तथा पति उसे जीवन साथी के रूप में ग्रहण करता था। अतः पति-पत्नी के बीच सहकारिता पूर्ण भावना के फलस्वरूप पत्नी को मित्रवत समझा जाता था।[9] दक्षस्मृति में उल्लिखित है कि एक कर्त्तव्यशील पत्नी घर गृहस्थी की केन्द्र विन्दु होती है क्योंकि उसी की सहायता से परिवार

१. सम० क० ९, पृ० ९२२।
२. वही ३, पृ० १८५; ७; पृ० ६७३, ७१३; ८, पृ० ७३७-३८।
३. वही ७, पृ ६३२; ८, पृ० ७५७; ९, पृ० ८९४।
४. नायाधम्मकहा १।१६।१२२-१२५; जातक ५, १२६।
५. सम० क० ६, पृ० ५०१; ८, पृ० ७४३।
६. वही ५, पृ० ३७७।
७. सम० क० ४, पृ० ३५८; ५, पृ० ३८८; ६, पृ० ५६४, ५६६; ७, पृ० ६८६; ९, पृ० ९१७।
८. सचाऊ, १, पृ० १८१।
९. सम० क० ९, पृ० ९२५।

के लोग त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का सम्पादन कर पाते हैं।[१] दाम्पत्य जीवन की सुदृढ़ता के लिए पति का अतिक्रमण न करना पत्नी के लिए अति आवश्यक समझा जाता था।[२] आपस्तम्ब धर्मसूत्र में पति-पत्नी को धार्मिक कृत्यों में समान माना गया है।[३] मनुस्मृति में भी पति और पत्नी को एक माना गया है।[४] एक आदर्श पत्नी बनने के लिए समान कुल, रूप, विभव और स्वभाव आदि का ध्यान रखा जाता था।[५] पत्नी के लिए समराइच्च कहा में विविध नाम प्रयुक्त हुए हैं यथा—भार्या,[६] वल्लभा[७] तथा गृहणी आदि। कहीं-कहीं उसे देवी नामक मर्यादित शब्द से सम्बोधित किया गया है।[८] इससे स्पष्ट होता है कि परिवार में पत्नी की प्रतिष्ठा थी। घर में उसका सम्मान होता था तथा सास-ससुर वधू के हर प्रकार के कष्ट को दूर करने का प्रयास करते थे।[९] सास, बहू को उसकी इच्छा के अनुसार पति के साथ बाहर जाने की आज्ञा भी देती थी।[१०] आदि पुराण से भी पता चलता है कि विवाहित स्त्री को घूमने फिरने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी।[११] अतः स्पष्ट होता है कि पत्नी के रूप में नारी जीवन बाधित नहीं था। वह अपने मनोनुकूल मर्यादित ढंग से आचरण करने में स्वतन्त्र थी।

पति, पत्नी का सबसे बड़ा प्रतिपालक माना जाता था। वह उसके सुख, सुविधा एवं सुरक्षा आदि का दायित्व वहन करता था।[१२] पत्नी के प्रति उसका अपूर्व प्रेम था। वह उसके वियोग में दुखी होता था तथा उसे प्राप्त करने का हर सम्भव प्रयास भी करता था।[१३] यहाँ तक कि पत्नी पति के लिए सुधाहार

---

१. दक्ष स्मृति, दक्षिण अध्याय ४।
२. अंगुत्तर निकाय ३।१७।
३. आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।६।१३।१६-१८।
४. मनुस्मृति ९।४५।
५. समं० क० ६, पृ० ४९५।
६. वही ४, पृ० ३४५; ५, पृ० ३६४, ४११-१२, ४४०, ४७४; ६, पृ० ४९५, ५११, ५५६ ५७९; ७, पृ० ६१२; ९, पृ० ९२५।
७. वही ९, पृ० ९२०।
८. वही ५, पृ० ४४५।
९. समं० क० ७, पृ० ६२३; ८, पृ० ८१४।
१०. वही ४, पृ० २४१।
११. आदि पुराण ४।७६।
१२. समं० क० ६, पृ० ५५०; ९, पृ० ९२१।
१३. वही ५, पृ० ४५४-५५; ६, पृ० ५४६।

तुल्य कही गयी है[१]। अतः वह सहगामिनी तथा सहकारितापूर्ण आचरण के साथ-साथ अपने सरल स्वभाव, स्थिर स्नेह, विशुद्ध शील, अपूर्व सौन्दर्य तथा धर्म रूपी कल्प वृक्ष के समान पति के हृदय को सदा विकसित करती रहती थी।[२] पत्नी पति के हित में अपना सर्वस्व अर्पण करने को तैयार रहती थी।[३] वह पति को अपना देवता समझ कर उसकी आराधना करती थी[४] तथा बिना उसे भोजन कराये स्वयं अन्न नहीं ग्रहण करती थी।[५] यहाँ तक कि एक आदर्श पत्नी पति के अलावा दूसरे पुरुष की मन से भी कल्पना नहीं करती थी और पति से विलग हो जाने की अपेक्षा आत्महत्या कर लेना श्रेयष्कर समझती थी।[६] समराइच्च कहा में एक स्थान पर एक स्त्री द्वारा अपने पति की मृत्यु के पश्चात् उसकी दिवंगत आत्मा की शान्ति के लिए दीपक जला कर पूजा करने का उल्लेख है।[७] एक अन्य स्थान पर एक स्त्री अपने पति की मृत्यु का समाचार पाते ही अपना पतिव्रत धर्म निभाने के लिए अग्नि में जलकर भस्म हो जाने को उद्यत हो जाती है।[८]

ऋग्वेद में भी पति-पत्नी के सुन्दर सम्बन्धों की चर्चा है। एक स्थान पर पत्नी के साथ पूजा के योग्य अग्नि की पूजा करने का उल्लेख है।[९] एक अन्य स्थान पर पति एवं पत्नी का एक मन का होकर अच्छे मित्र की भाँति धार्मिक कृत्य करने का उल्लेख है।[१०] आश्वलायन गृह्यसूत्र में विधान है कि पति की अनुपस्थिति में पत्नी घर की अग्नि की पूजा करे और उस अग्नि के बुझ जाने पर उपवास करे।[११] रामायण में राम ने भी यज्ञ करते समय सीता की मूर्ति बनवाकर अपने पास रखा था।[१२] धर्मशास्त्रों में भी पत्नी का सर्वप्रमुख कर्त्तव्य

१. सम० क० ९, पृ० ९२२।
२. वही ३, पृ० १६२; ८, पृ० ७३१।
३. वही २, पृ० १४३।
४. वही ७, पृ० ६७५, ६७८-७९।
५. वही २, पृ० १२३।
६. सम० क० ७, पृ० ६६२।
७. वही ९, पृ० ९२२।
८. वही ४, पृ० २७६; ६, पृ० ५०५; ८, पृ० ८०६, ८२१।
९. ऋग्वेद १।७२।५।
१०. वही ५।३।२।
११. आश्वलायन गृह्यसूत्र १।८।५।
१२. रामायण ७।९१।५।

पति की आज्ञा मानना एवं उसे देवता की भाँति सम्मान देना बताया गया है।[1] महाभारत में तो पत्नी को पति से दूर रहना बुरा कहा गया है।[2] एक अन्य स्थान पर द्रौपदी के द्वारा अपने पति के अनुसार ही आचरण करने की बात कही गयी है।[3] आदि पुराण के उल्लेख से स्पष्ट होता है कि पति से ही स्त्री की शोभा नहीं थी बल्कि पति भी स्त्री से शोभित होता था।[4] अतः स्पष्ट होता है कि हरिभद्र के काल में भी पति-पत्नी का जीवन परस्पर सहयोग एवं उच्चादर्शों पर अवलम्बित था।

समराइच्च कहा में भार्या के रूप में स्त्रियों को पति के साथ-साथ सास-ससुर तथा गुरुजनों के सम्मान करने की बात कही गयी है।[5] उसका दायित्व-पूर्ण कर्त्तव्य घर-गृहस्थी तक सीमित न होकर पूरे समाज में भी था। पति कुल में पत्नी के रूप में प्रवेश करने के उपरान्त ही नारी परिवार एवं समाज के प्रति अपने दायित्वों का उचित रूप से निर्वाह करती थी। अतः वैदिक एवं आगम कालीन समाज में पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन की दृष्टि से पत्नी का विशिष्ट स्थान था।[6]

समराइच्च कहा में पतिव्रता एवं आदर्श स्त्रियों के अलावा कुछ दुष्टशीला पत्नियों के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं जिनके स्वभाव से ऊब कर पति उन्हें त्याग कर दूसरा विवाह सम्पन्न कर लेते थे।[7] इस प्रकार की पत्नियाँ अपने जीवित पति का त्याग कर देती थीं[8] तथा उन्हें छल कपट से मार डालने का प्रयास करती थी।[9] ऐसी दुष्टशीला स्त्रियों की निन्दा करते हुए उन्हें मायावी, विषधर, विषलता, विद्युत की तरह नष्ट प्रेम वाली, उल्का, अनाम, व्याधि, मूर्छा, अरज्जुपाश तथा विना हेतु की मृत्यु कहा गया है।[10] यहाँ तक कि ऐसी दुष्ट आचरण वाली पत्नियों को संतति का नाश करने वाली तथा कुल में कलंक

१. पी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास भाग १, पृ० ३१८।
२. महाभारत, आदि पर्व ७४।१२।
३. वही, वन पर्व २३३।७-१४।
४. आदिपुराण ६।५९ (स तया कल्पवल्लेव सुरागीऽलंकृतो नृपः)।
५. सम० क० ८, पृ० ८१४; ९, पृ० ९१७।
६. कोमल चन्द्र जैन—बौद्ध एवं जैन आगमों में नारी जीवन, पृ० ८४।
७. सम० क० ६, पृ० ५२६-२७; ७, पृ० ६२१-२२-२३।
८. वही ४, पृ० ३०५।
९. वही ६, पृ० ५२६-२७।
१०. सम० क० ३, पृ० २२५; ४, पृ० २९४-९५; ५, ३९४।६; पृ० ५२७।

लगाने वाली कह कर निन्दित किया गया है।[१] दुष्ट शीला स्त्रियों के उल्लेख वैदिक काल में भी प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में उल्लिखित है कि नारी का मन दुर्दमनीय है।[२] एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि स्त्रियों के साथ कोई मित्रता नहीं, उनके हृदय भेड़िए के हृदय हैं।[3] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार स्त्री, शूद्र, कुत्ता एवं कौआ में असत्य विराजमान रहता है।[४] महाभारत में स्त्रियों को अनृत (झूठा) कहा गया है।[५] एक अन्य स्थान पर उन्हें विष, सर्प एवं अग्नि कह कर निन्दित किया गया है।[६] रामायण में उन्हें धर्म भ्रष्ट, चंचल, क्रूर एवं विरक्ति उत्पन्न करने वाली कहा गया है।[७] मनु ने भी ऐसी स्त्रियों को कामिनी, चंचल, प्रेमहीन, पतिद्रोही, परपुरुष प्रेमी आदि कह कर निन्दा की है।[८] गौतम[९] एवं मनु[१०] दोनों स्मृतिकारों ने दुष्टशीला स्त्रियों की निन्दा करते हुए उन्हें दण्ड का भागी बताया है। आदिपुराण में स्त्रियों के स्वभाव का विश्लेषण करते हुए दुष्टशीला स्त्रियों को स्वभावतः चंचल, कपटी, क्रोधी और मायाचारिणी बताया गया है। वासना के आवेश में आकर ऐसी स्त्रियाँ धर्म का भी परित्याग कर देती हैं।[११] यशस्तिलक में तो यहाँ तक उल्लेख है कि अग्नि शान्त हो जाय, विष अमृत बन जाय, राक्षसियों को वश में कर लिया जाय, क्रूर जन्तुओं को भी वश में कर लिया जाय, पत्थर भी मृदु हो जाय किन्तु स्त्रियाँ वक्र स्वभाव को नहीं छोड़ती।[१२] आगे कहा गया है कि ऐसी दुष्टशीला स्त्रियों को शिक्षित करना ठीक वैसे ही है जैसे साँप को दूध पिलाना।[१३] किन्तु

१. सम० क० ६, पृ० ५२६-२७; ७, पृ० ६१६-१७।
२. ऋग्वेद ८।३३।१६।
३. वही १०।९५।१५।
४. शतपथ ब्राह्मण १४।१।१।३१।
५. महाभारत, अनुशासन पर्व १९।६।
६. वही ३८।१२।
७. रामायण, अरण्य काण्ड ४५।२९-३०।
८. मनु० ९।१४-१५।
९. गौतम० २३।१४।
१०. मनु० ८।३७१।
११. आदिपुराण ४३।१००-११३।
१२. यशस्तिलक पृ० ५३-६३, उत्त०।
१३. वही, पृ० ३५२, उत्तं० (इच्छन्गृहस्यात्मन एवं शांति स्त्रियं विदग्धां खलु कः करोति। दुग्धेन यः पोषयते भुजंगी पुंसः कुतस्तस्य सुमंगलानि)।

तत्कालीन समाज में ऐसी दुष्टशीला स्त्रियाँ अपवाद स्वरूप थी। अधिकतर साक्ष्यों से पता चलता है कि पतिव्रत धर्म परायण एवं आदर्श स्त्रियों की प्रशंसा की गयी है। इन स्त्रियों को परिवार एवं समाज में आदर तथा सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था।

माता

भारतीय संस्कृति में माता रूप नारी को आदर की दृष्टि से देखा जाता है। नारी जीवन की सार्थकता माता रूप में ही निहित रही है। समराइच्च कहा में माता को जननी कह कर सम्मानित किया गया है।[1] एक अन्य स्थान पर पुत्र द्वारा माता की बन्दना का उल्लेख है।[2] वैदिक तथा उत्तर वैदिक काल में माता ही एक ऐसी पात्र थी जिसे सामाजिक, पारवारिक एवं धार्मिक आदि सभी दृष्टियों से महत्त्व दिया जाता था।[3] राम ने अपनी सौतेली माता की आज्ञा मानकर जंगल चले जाने का निश्चय किया और अवधि पूर्ण होने पर ही पुनः अयोध्या लौटे।[4] धर्मशास्त्रों मे पिता गुरु की अपेक्षा सौ गुना अधिक आदरणीय बताया गया है; किन्तु माता-पिता से भी हजारों गुना अधिक आदरणीय समझी गयी है।[5] आपस्तम्ब धर्मसूत्र में उल्लिखित है कि पुत्र को चाहिए कि वह अपनी माता की सदा सेवा करे चाहे वह जाति च्युत ही क्यों न हो, क्योंकि वह उसके लिए अत्यधिक कष्ट सहन करती है।[6]

जैन ग्रन्थ उपमितिभवप्रपंचा कथा में बताया गया है कि परिवार में माता का स्थान पिता से उच्च था; क्योंकि परिस्थितियों के वशीभूत होकर पिता दुष्ट हो सकता है लेकिन माता किसी भी परिस्थितियों में रह कर सन्तान की सेवा सुश्रूषा करती रहती हैं।[7] आदि पुराण में माता की वन्दना के सन्दर्भ में उसे तीनों लोकों की कल्याणकारिणो माता, मंगल करने वाली महादेवी, पुण्यवती और यशस्विनी कहा गया है।[8]

१. समा० क० ४, पृ० ३४५; ६, पृ० ५६४।
२. वही ४, पृ० २९६-९७।
३. कोमल चन्द्र जैन—बौद्ध एवं जैन आगमों में नारी जीवन, पृ० ११२।
४. रामायण ६।१३८।३८।
५. मनु० २।१४५; याज्ञवल्क्य० १।३५; गौतम० ६।५१।
६. आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।१०।२८।९।
७. उपमितिभवप्रपंचा कथा, पृ० १५३।
८. आदि पुराण १३।३०।

माता का पुत्र के प्रति अपूर्व प्रेम था। सन्तान के गर्भ में आते ही माता पुत्र के भावी कल्याण एवं समृद्धि के लिए दान, तप, एवं व्रत आदि के साथ-साथ त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम का सम्पादन करती थी।[१] आदिपुराण में भी उल्लिखित है कि माता बनने के पूर्व गर्भवती स्त्री का विशेष ध्यान रखा जाता था तथा उसके दोहद को पूर्ण करना प्रत्येक पति का कर्त्तव्य था।[२] समराइच्च कहा में उल्लिखित है कि माता पुत्र जन्म की खुशी में पारितोषिक, दान तथा बधाइयाँ आदि बांट कर परम आनन्द का अनुभव करती थी।[3] माता पुत्र को विदेश आदि दूरस्थ स्थान के लिए प्रस्थान करते समय क्षमा-शील बनने की शिक्षा भी देती थी।[४] यदि माता अपने संतान के लिए निःस्वार्थ भाव से अपना सर्वस्व अर्पण करने के लिए तैयार रहती थी तो पुत्र भी माता का सम्मान करता तथा उसकी आज्ञा का पालन करने के लिए अपने बड़े से बड़े हित का बलिदान करने के लिए उद्यत रहता था।[५]

पुत्र के साथ-साथ माता पुत्रवधू का भी बराबर ध्यान रखती तथा उसके सभी प्रकार के सुख और सुविधा का ध्यान रखती थी।[६] आदिपुराण में भी उल्लिखित है कि जननी को अपने पुत्र के विवाह के अवसर पर सबसे अधिक प्रसन्नता होती थी।[७] आगे यह भी बताया गया है कि मरु देवी को नवीन पुत्र वधुयें प्राप्त कर अत्यधिक प्रसन्नता हुई।[८] अतः स्पष्ट है कि जननी गृह-स्वामिनी के उत्तरदायित्वपूर्ण पद का निर्वाह करती हुई नवीन पुत्रवधू के स्वागत के लिए सदा उत्सुक रहती थी।

जहाँ हमें तत्कालीन समाज में आदर्श माता के अनेक चित्र देखने को मिलते हैं वहीं कुछ दुष्ट माताओं के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं जो अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए पुत्र को विष देकर मार डालने में भी संकोच नहीं करती थी।[९] किन्तु ऐसी माता को कुमाता कहकर उसकी निन्दा की गई है। संभवतः ऐसी माताएँ अपवाद स्वरूप ही थीं।

---

१ समः क० ४, पृ० २३६; ५, ३६५,४७१,६, ४९५; ७, ६०६।

२. आदिपुराण १५।१३७।

३. सम० क० ४, पृ० ३३६; ५, पृ० ४७१; ६, पृ० ४९५; ९, पृ० ८६०।

४. वही ४, पृ० २४१-४२।

५. वही ६, पृ० ४८५।

६. वही ४, पृ० २४१; ६, पृ० ५६४।

७. आदिपु० ७।२०५,१५।७३।

८. वही १५।७४।

९. सम० क० २, पृ० १२७।

विधवा

हरिभद्र के काल में विधवा को अशुभ सूचक माना जाता था। धर्मशास्त्रीय परम्परा के अनुसार पति की मृत्यु पर पत्नी को दूसरा विवाह करने की छूट न थी। अतः समराइच्च कहा के वर्णन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि या तो वह पति के शव के साथ चिता में जलकर सती हो जाती थी और या तो साध्वी के रूप में भजन-पूजन एवं तप आदि का आचरण करती थी। समराइच्च कहा के उल्लेख से स्पष्ट होता है कि पति की मृत्यु के पश्चात् पत्नी का विधवा-रूप जीवन उपेक्षित एवं अशुभ सूचक था।[१] अतः विधवायें इस प्रकार का उपेक्षित जीवन बिताने की अपेक्षा चिता में जल कर सती हो जाना श्रेष्ठ समझती थी।[२] कुछ स्त्रियाँ पति की मृत्यु के पश्चात् घर पर ही रह कर भजन-पूजन किया करती थी[3] अथवा संन्यासिनी बनकर साध्वी रूप में तप-व्रत, यज्ञ, पूजन आदि पुण्य कृत्य करती हुई अपना जीवन यापन करती थी।

विधवा स्त्रियों की दयनीय स्थिति के कुछ उल्लेख वैदिक काल में भी प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में एक स्थान पर उल्लिखित है कि मरुतों की अति शीघ्र गतियों में पृथ्वी पतिहीन स्त्री की भांति कांपती है।[४] यहाँ पृथ्वी को पतिहीन स्त्री की भांति कांपने का उल्लेख इस बात का सूचक है कि वैदिक काल में विधवाओं की स्थिति अच्छी नहीं थी।

बौधायन-धर्मसूत्र में बताया गया है कि विधवा को साल भर तक मधु, मांस मदिरा एवं नमक छोड़ देना चाहिए तथा भूमि पर शयन करना चाहिए।[५] विधवाओं को इस उपेक्षित एवं कष्टप्रद स्थिति का पता स्मृतियों से भी चलता है। मनु के अनुसार पति की मृत्यु के पश्चात् स्त्री यदि वह चाहे तो केवल पुष्पों, फलों एवं मूलों को ही खाकर अपने शरीर को गला दे पर उसे अन्य व्यक्ति का नाम भी नहीं लेना चाहिए। मृत्यु पर्यंत उसे संयमित रहना चाहिए, व्रत रखना चाहिए, सतीत्व की रक्षा करनी चाहिए और पतिव्रता के सदाचरण एवं गुणों की प्राप्ति की आकांक्षा करनी चाहिए।[६] वृद्धहारीत स्मृति में विधवा स्त्री की दिनचर्या इस प्रकार दी गयी है—'उसे बाल संवारना छोड़ देना चाहिए, पान

१. सम० क० ७, पृ० ६६४, ६६६।
२. वही ६, पृ० ५०५; ७, पृ० ६६२; ८, पृ० ८०६।
३. वही ७, पृ० ६१३, ६१५।
४. ऋग्वेद १।८७।३।
५. बौधायन धर्मसूत्र २।२।६६-६८।
६. मनुस्मृति ५।१५७-१६०।

खाना, गन्ध, पुष्प, आभूषण एवं रंगीन परिधान का प्रयोग छोड़ देना चाहिए, पीतल, कांसे के वर्तन में भोजन नहीं करना चाहिए, दो बार भोजन करना, अंजन आदि लगाना त्याग देना चाहिए, उसे श्वेत वस्त्र धारण करना चाहिए, इंद्रियों एवं क्रोध को दबाना चाहिए, धोखाधड़ी से दूर रहना चाहिए, प्रमाद एवं निन्दा से मुक्त होना चाहिए, पवित्र एवं सदाचरण वाली होना चाहिए, सदा हरि की पूजा करनी चाहिए, रात्रि में पृथ्वी पर कुश की चटाई पर शयन करना चाहिए तथा सत्संगति में लगा रहना चाहिए।[1]

काणे के अनुसार हिन्दू विधवा की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। उसका भाग्य किसी भी स्थिति में स्पृहणीय नहीं माना जा सकता था। वह अमंगल सूचक थी और किसी भी उत्सव में भाग नहीं ले सकती थी।[2] कभी-कभी विधवा स्त्रियां जीवन यापन के तीन उपायों (पति की सम्पत्ति, ज्ञातिकुल का संरक्षण तथा पर पुरुष का ग्रहण) को न अपना कर भिक्षुणी बन जाती थी तथा भिक्षुणी संघ की वरिष्ठ भिक्षुणी के संरक्षण में अपना जीवन बिताती थी।[3] उच्चवर्गीय स्त्रियां अधिकतर पति की मृत्यु पर चिता में ही जल कर मर जाना श्रेयष्कर समझती थीं; किन्तु कुछ स्त्रियां तो अपने घरों में ही रहकर सफेद वस्त्र पहनती, अलंकार आदि को अलग रख देती तथा तप, व्रत आदि धारण करती थीं।[4] आदिपुराण के एक आख्यान में भी पता चलता है कि विधवा स्त्रियों को अनाथ एवं बलहीन समझा जाता था।[5] अतः स्पष्ट होता है कि विधवा स्त्रियां अपनी प्रतिदिन की कठिनाइयों के कारण ही या तो चिता में जल कर सती हो जाती थी अथवा भक्ति भजन में लीन हो जाती थी।

साध्वी

हरिभद्र के काल में नारी के माता रूप की भांति साध्वी रूप भी अत्यधिक पूजनीय था। समराइच्च कहा में कुछ स्त्रियों द्वारा प्रव्रज्या ग्रहण कर धार्मिक क्षेत्र में अनुरक्त होने का उल्लेख है।[6] कुछ तो बाल्यावस्था से ही भक्ति-पूजा आदि में लीन हो जाती थी जिन्हें तापस कन्या कहा गया है।[7] ऐसी साध्वी

१. वृद्धहारीत स्मृति ११।२०५-२१०।
२. पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ३३१-३२।
३. कोमल चन्द्र जैन—बौद्ध एवं जैन आगमों में नारी जीवन, पृ० १२६।
४. हर्षचरित ५, पृ० १७१; कादम्बरी पृ० ४२।
५. आदिपुराण ४३।९८।
६. सम० क० ३, पृ० १८२।
७. वही ५, पृ० ४०७-८, ४१८।

स्त्रियाँ तपोभूमि में रहती, वल्कल धारण करती[1] तथा पानी पीने के लिए कमण्डलु लिए रहती थी।[2] अतः समाज का हर व्यक्ति उनकी धर्मनिष्ठा पर पूजा, वंदना के साथ उन्हें सत्कार प्रदान करता था।[3] नारियों में धार्मिक भावना के प्रादुर्भाव के उल्लेख आदि काल से ही प्राप्त होते हैं। वैदिक काल में नारी की धार्मिक प्रवृत्ति में किसी प्रकार की हीनता नहीं थी। उस समय वह प्रत्येक धार्मिक कार्य में पुरुष को सहयोग प्रदान करती थी।[4] जैन एवं बौद्ध आगामों से भी पता चलता है कि नारियों को न केवल गृहस्थाश्रम में पुरुषों के समान धर्माचरण करने का अधिकार था, अपितु भिक्षुणी बनने में भी कालान्तर में उन पर संघ की ओर से किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था।[5]

समराइच्च कहा में श्रमण धर्म का पालन करने वाली साध्वी स्त्रियों के संघ का उल्लेख है और उस संघ की प्रधान गणिनी होती थी।[6] गणिनी के साथ ही आत्म कल्याण के लिए श्रमण व्रतों का पालन करती हुई अनेक साध्वी स्त्रियाँ भी रहा करती थी। ये गणिनी यथोचित कल्प विहार भी करती थी तथा लोगों को शिक्षा-दीक्षा देकर प्रव्रजित किया करती थी। परिणामतः समाज के प्रत्येक लोग श्रद्धा एवं भक्ति से उनकी पूजा-वंदना किया करते थे।[7] समस्त प्राणिमात्र के कल्याणार्थ हर प्रकार का त्याग करने के कारण ही साध्वी स्त्रियों को अत्यधिक सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था।

वेश्या

हरिभद्र के काल में वेश्यावृत्ति का भी प्रचलन था जो उनकी (वेश्याओं की) जीविका का एक मात्र साधन था। समराइच्च कहा में एक स्थान पर उल्लिखित है कि धन ही वेश्याओं का पति है।[8] इसी ग्रन्थ में अन्य कई स्थानों पर वेश्या का उल्लेख आया है।[9] वेश्यावृत्ति का प्रमाण वैदिक काल से प्राप्त होता

१. सम० क० ५, पृ० ४०७-८।
२. वही ५, पृ० ४१४।
३. वही २, पृ० १०४-५; ४, पृ० ३४४; ५, पृ० ४१८, ४२३, ४२६; ७, पृ० ६८५।
४. कोमलचन्द्र जैन—जैन और बौद्ध आगमों में नारी जीवन, पृ० २२७।
५. वही, पृ० १८३।
६. सम० क० २, पृ० १०४; ७, पृ० ६१३।
७. सम० क० २, पृ० १०४; ७, पृ० ६१३।
८. सम० क० २, पृ० १५०, (वेसित्थियाहियय पिव अत्थ वल्लहं)।
९. वही १, पृ० ५३; २, पृ० ९२; ७, पृ० ६३४।

है। ऋग्वेद में मरुतगण विद्युत के साथ उसी प्रकार संयुक्त माने गये हैं जिस प्रकार युवती वेश्या से पुरुष लोग संयुक्त होते हैं।[1] मनुस्मृति में ब्राह्मणों को वेश्या के साथ भोजन करना वर्जित बताया गया है।[2] एक अन्य स्थान पर धूर्त वेश्याओं को दण्डित करने के लिए राजा को प्रेरित किया गया है।[3] महाभारत में भी वेश्यावृत्ति का उल्लेख कई स्थान पर किया गया है।[4] वात्स्यायन के कामसूत्र में उल्लिखित है कि वेश्याएं सभी प्रकार की कलाएं सीखती थी तथा राजाओं की तरफ से उन्हें सम्मान मिलता था।[5] बाणभट्ट ने भी वेश्याओं का उल्लेख किया है जो हर्षवर्धन के राज-दरबार में रहा करती थी।[6] दण्डी के दशकुमार चरित में भी वेश्याओं के उल्लेख हैं।[7]

समराइच्च कहा में वेश्या से भिन्न वारांगना शब्द का उल्लेख है जो मदन-महोत्सव तथा विवाह आदि उत्सवों पर नृत्य गान आदि कर जन समूह का आनन्दवर्धन करती थी।[8] विवाह के शुभ अवसर पर ये ही वारांगनाएं वर का शृंगार करती थी।[9] आदिपुराण में वारांगना और वेश्या को एक दूसरे से पृथक बताया गया है। इन वारांगनाओं को वेश्या की अपेक्षा उच्चतर स्थान प्राप्त था। विवाह, जन्म एवं राज्याभिषेक के अवसर पर वारांगनाओं का सम्मिलित होना आवश्यक माना जाता था।[10] वह मंगलमय गीत गाती तथा लय, तान युक्त एवं भावपूर्ण नृत्य भी करती थी। आदिपुराण में ये वारांगनाएं नृत्य-गान के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य करती हुई नहीं दिखाई पड़ती। ये धार्मिक तथा मांगलिक अवसरों पर ही बुलाई जाती थी।[11] अतः स्पष्ट होता है कि वारांगनाएं वेश्याओं की तुलना में शुभ सूचक मानी जाती थी।

---

१. ऋग्वेद १।१६७।४ ।
२. मनुस्मृति ४।२०९ ।
३. वही २।२५९ ।
४. महाभारत, आदिपर्व ११५।३९, उद्योग पर्व ३०।३८, वन पर्व २३९।३७।
५. कामसूत्र १।३ ।
६. हर्षचरित २, पृ० ७१; देखिए, कादम्बरी, १७२ ।
७. दशकुमार चरित २, पृ० ६६-६८ ।
८. सम० क० १, पृ० ५३; २, पृ० ९३-९४; ४, पृ० ३३९-४०; ७, पृ० ६३४ ।
९. वही २, पृ० ९६ ।
१०. आदिपुराण ७।२४३-४४ ।
११. वही १७।८३, ८६ ।

दासी

समराइच्च कहा में नारी के दासी रूप का भी उल्लेख है।[1] नारी का यह परिचर्या कर्म उनकी निर्धनता का प्रतिफल था। निर्धनता से प्रेरित होकर वे धनिकों के यहाँ उनकी सेवा-सुश्रूषा कर अपना जीवन यापन करती थी। कुछ दासियां तो कुल परम्परागत होती जिन्हें धनी-सम्पन्न परिवारों में सम्मान प्राप्त होता था तथा विवाह एवं पुत्र जन्मोत्सव में उन्हें पुरस्कार भी प्राप्त होता था।[2] कुछ दासियां विवाह के पश्चात् बहू के साथ उनकी परिचर्या के लिए आती थी। दास प्रथा का प्रचलन अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। ऋग्वेद के कई मंत्रों से दासत्व की झलक मिलती है।[3] उपनिषदों में भी दासियों का उल्लेख है।[4] जैन एवं बौद्ध आगमों से भी सम्पन्न परिवारों द्वारा दास-दासियां रखने का पता चलता है। दासी परिवार की ऐसी सेविका थी जिसके जीवन की सार्थकता स्वामी की आज्ञाओं के पालन में थी।[5]

समराइच्च कहा में दासी के तीन रूपों का उल्लेख प्राप्त होता है—दासी[6], चेटी[7] और धात्री रूप।[8] दासी सम्पन्न परिवारों में व्यक्तिगत परिचर्या के साथ-साथ घर गृहस्थी के कार्यों को सेवा भाव से करती थी। ये दासियां कुल परंपरागत भी होती थी। यहाँ तक कि कन्या के विवाह हो जाने पर उसके पति के घर भी सेवा कार्य के लिए जाती थी।

परिचारिका के रूप में नारी का चेटी रूप दासी तथा धात्री दोनों का सम्मिलित रूप था। ये चेटियाँ धात्री का भी कार्य करती थी तथा परिवार के

---

१. सम० क० १, पृ० ३३; २, पृ० ७९, ८९, १४६; ३, पृ० १७६; ४, पृ० २९०, ३१२; ५, पृ० ३७३, ३८४, ८, पृ० ७३३।

२. वही २, पृ० ७५; ४, पृ० २३६; ५, पृ ४७१; ६, पृ० ४९५; ९, पृ० ९६०।

३. ऋग्वेद ८।५।३८,८।१९।३६,८।५६।३।

४. कठोपनिषद् १।१।२५, छान्दोग्य उपनिषद् ७।२४।२।

५. कोमल चन्द्र जैन—जैन और बौद्ध आगमों में नारी जीवन पृ० १३४।

६. सम० क० २, पृ० १४७; ५, पृ० ३७१।

७. वही १, पृ० ३३; २, पृ० ७९,८७; ४, पृ० २५४,३५७; ५, पृ० ३७३; ८, पृ० ७३३,७६२।

८. वही १, पृ० ५४; २, ७७,८९,१४६; ३, पृ० १७६; ४, पृ० २३६; ५, पृ० ४७१,८, पृ० ४९५; ९, पृ० ९०४,५,८०।

अन्य लोगों की सेवा सुश्रूषा करती हुई आगन्तुकों का स्वागत भी करती थी। पुत्र जन्म की खुशी में इन्हें पुरस्कार प्रदान किया जाता था।

धात्री की नियुक्ति परिवार में संतान के लालन-पालन के लिए की जाती थी। वे बच्चों की देख-रेख, उनका पालन-पोषण, खेल-कूद सिखाना तथा वस्त्र-आभूषण आदि पहनाने का कार्य करती थी। इनका स्तर दासियों से उच्च होता था। आगम कालीन समाज में पाँच प्रकार की दासियाँ रखने की प्रथा थी। दूध पिलाने वाली, वस्त्र एवं अलंकार आदि पहनाने वाली, स्नान कराने वाली, क्रीड़ा कराने वाली तथा बच्चों को गोद में लेकर खिलाने वाली।[1] आदि पुराण में भी धात्री के कार्यों को पाँच भागों में बाँटा गया है, यथा—मंजन, मण्डन, स्तन्य, संस्कार तथा क्रीडन।[2] धात्री द्वारा शिशुओं को स्नान कराने की क्रिया को मंजन, वस्त्राभूषण पहनाने की क्रिया को मण्डन, दुग्ध पिलाने को (जिसमें स्तन पान भी सम्मिलित है) स्तन्य, तेल मर्दन,-नेत्र में अंजन तथा शरीर में उबटन लगाने की क्रिया को संस्कार तथा मनोरंजन के लिए विविध प्रकार के खेल खिलाने की क्रिया को क्रीडन कार्य के अंतर्गत माना जाता था। आदिपुराण में कुछ धात्री माता एवं सखी के रूप में भी उल्लिखित हैं। श्रीमती की पण्डिता धात्री इसी श्रेणी में आती है।[3]

ये परिचारिकाएँ अधिकतर घर के अंदर अर्थात अन्तःपुर में सेवा सुश्रूषा करती हुई अन्तःपुर की स्त्रियों के सुख-दुख में सहगामिनी बनती थी। कहीं-कहीं तो उनके सम्बन्ध मित्रवत भी होते थे।

●

१. कोमल चन्द्र जैन—बौद्ध एवं जैन आगमों में नारी जीवन, पृ० १४४।
२. आदि पुराण १४।१६५ (धात्र्यो नियोजितास्चास्य देव्यः शक्रेण सादरम्। मंजने मण्डने स्तन्ये संस्कारे क्रीडनेऽपि च।
३. वही ६।११४-१२५।

पाँचवा-अध्याय

शिक्षा एवं कला

प्राचीन भारत में चरित्र निर्माण, प्रतिभाशाली व्यक्तित्व, संस्कृति की रक्षा तथा सामाजिक एवं धार्मिक कर्तव्यों को सम्पन्न करने के लिए शिक्षा को समाज का अनिवार्य अंग माना जाता था।[1] समराइच्चकहा में शिक्षा को व्यक्तित्व के विकास के लिए अत्यधिक आवश्यक बताया गया है। राजकुमार को किशोरावस्था में ही लेखाचार्य की शिक्षा प्राप्त करने के लिए आचार्य को सौंप दिया जाता था।[2] ये लोग राजकुमारोचित कलाओं को सीखते थे।[3] काव्य रचना[4] तथा चित्रकला[5] के साथ-साथ वेद, श्रुत आदि का भी ज्ञान प्राप्त करते थे।[6] समराइच्चकहा के विवरणों से पता चलता है कि गुरुप्रदत्त शिक्षा के साथ लोग स्वाध्याय पर भी बल देते थे।[7] इस प्रकार ये राजकुमार अपने परिश्रम एवं अभ्यास के द्वारा समस्त शास्त्र एवं कलाओं में प्रवीण हो जाते थे।[8] समराइच्चकहा के उद्धरणों से पता चलता है कि शिक्षा का प्रचार मुख्यतया धनी-सम्पन्न एवं राजघराने के लोगों में ही अधिक था। गरीब लोग इसका लाभ कम उठा पाते थे।

हरिभद्र सूरि ने समराइच्चकहा में तत्कालीन समाज में प्रचलित शिक्षा के विषय के सन्दर्भ में ८९ प्रकार की कलाओं का उल्लेख किया है। हरिभद्र सूरी की भाँति अन्य बौद्ध एवं जैन सूत्रों, यथा-ज्ञाता धर्मकथा, समवायांग, औपपातिक सूत्र, राजप्रश्नीय सूत्र एवं कुवलयमालाकहा आदि में ७२ प्रकार की कलाओं का

---

१. ए० यस० अल्तेकर—एजूकेशन इन ऐंसियन्ट इंडिया, पृ० ३२६।
२. सम० क० २, पृ० १२८ (समप्पिया य लेहायरियस्स)।
३. वही ४, पृ० ३६५; ७ पृ० ६०९।
४. वही ८, पृ० ७५७।
५. वही ८, पृ० ७६०—'उवणीया से कुमार लिहिया चित्तवट्टिया।'
६. वही ३, पृ० २२६।
७. वही ५, पृ० ४८०।
८. वही ९, पृ० ८६३ --'सयल सत्थ कला संपत्ति सुंदरं पत्तो कुमार भावं।'

उल्लेख आया है।[1] बौद्ध एवं जैन सूत्रों के अतिरिक्त रामायण, महाभारत, कामसूत्र एवं कादम्बरी आदि ब्राह्मण ग्रंथों में ६४ प्रकार की कलाओं का विवरण प्राप्त होता है।[2] जैन सूत्रों में उल्लिखित कलाओं की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए हीरालाल जैन ने बताया है कि जैन धर्म में गृहस्थ धर्म की व्यवस्थाओं द्वारा उन सब प्रवृत्तियों को यथोचित स्थान दिया गया है जिनके द्वारा मनुष्य सभ्य एवं शिष्ट बनकर अपनी, अपने कुटुम्बों की तथा समाज एवं देश की सेवा करता हुआ उन्नत बना सके।[3] प्राचीनतम जैन आगमों में बालकों को उनके शिक्षण-काल में शिल्पों एवं कलाओं की शिक्षा पर जोर दिया गया है। यहाँ गृहस्थों के लिए जो षट्कर्म बताए गये हैं उनमें असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य के साथ-साथ शिल्प का भी विशेष उल्लेख है।[4]

समराइच्चकहा के आठवें भव में जिन ८९ कलाओं एवं विद्याओं का उल्लेख आया है[5] उसका क्रमशः विवरण इस प्रकार से दिया जा सकता है—

लेख—सुन्दर एवं स्पष्ट लिपि द्वारा अपने भावों एवं विचारों को कलात्मक ढंग से व्यक्त करना लेखन कला के अन्तर्गत आता था। इस कला के अन्तर्गत दो बातों का ध्यान दिया गया है—लिपि और लेख विषय। अन्य सूत्रों के अध्ययन से ब्राह्मी और खरोष्ठी आदि १८ प्रकार की लिपियाँ प्राप्त होती हैं।[6] प्राचीन काल में लेख का आधार पत्र, वल्कल, काष्ठ, दंत, लोहा, ताम्र, रजत

१. ज्ञाताधर्मकथा १, पृ० २१; समवायांग पृ० ७७ अ; औपपातिक सूत्र ४, पृ० १८६; राजप्रश्नीय सूत्र २११; जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति-टीका २, पृ० १३६; देखिए—अमूल्य चन्द्रसेन - सोसल लाइफ इन जैन लिटरेचर—कलकत्ता रिव्यू, मार्च १९३३, पृ० ३६४; डी० सी० दास गुप्त—जैन सिस्टम आफ एजूकेशन पृ० ७४; दिव्यावदान पृ० ५८, १००, ३९१; ललित विस्तर पृ० १५६।

२. रामायण १/९/५; भागवतपुराण १०/४५/३६; महाभाष्य १/१/५७; कादम्बरी, पृ० २३१-३२, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी १९६१; दशकुमारचरित २/२१।

३. हीरालाल जैन—प्राचीन भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० २८४।

४. वही, पृ० २८४।

५. सम० क० ८, पृ० ७३४-३५।

६. जगदीशचन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ३०१।

आदि बताये गये हैं और उनपर उत्कीर्णकर, सीकर, बुनकर, भेदकर, जलाकर, ठप्पा लगाकर अक्षरों का अंकन किया जाता था।[1] कामसूत्र में ६४ कलाओं के अन्तर्गत आलेख का भी उल्लेख आया है।[2] जैन ग्रंथ समवायांग एवं कुवलयमाला आदि में भी इस कला का उल्लेख आया है।

गणित—ज्योतिष ज्ञान के लिए गणना के उद्देश्य से अत्यन्त प्राचीनकाल से ही भारत में गणितशास्त्र का विशेष महत्त्व था। कल्प-सूत्र से ज्ञात होता है कि भगवान महावीर ने गणित एवं ज्योतिष में निपुणता प्राप्त की थी।[3] जैन सूत्रों मे पता चलता है कि ऋषभदेव ने अपनी पुत्री सुन्दरी को गणित की शिक्षा दी थी।[4] छांदोग्यउपनिषद् में वेद, पुराण, व्याकरण आदि के साथ-साथ राशि विद्या का उल्लेख आया है जिसका तात्पर्य गणित विद्या से लगाया जा सकता है।[5] इसी प्रकार समवायांग एवं कुवलयमाला में भी गणित को शिक्षा के विषय के रूप में गिनाया गया है।

आलेख—समराइच्चकहा में उल्लिखित आलेख्य कला के अन्तर्गत धूलि चित्र, सादृश्य चित्र और रस चित्र आदि आते थे।

नाट्य—मनोरंजन एवं कला की दृष्टि से इस विषय को अनिवार्य माना जाता था। इस कला के अन्तर्गत नाटक लिखने एवं उसके अभिनय को लिया जा सकता है। इसमें सुर, ताल आदि की गति के अनुसार अनेक प्रकार की शिक्षा भी दी जाती थी। नाट्य, नृत्य, गीत, वाद्य, स्वरगत, पुष्करगत, समताल आदि को प्राचीन काल में संगीत कला के अन्तर्गत माना जाता था। नाट्य, वाद्य, गेय और अभिनय के भेद से संगीत को चार प्रकार का बताया गया है। इसमें वीणा, तल, ताल, लय और वादित्र को मुख्य माना गया है।[6] राजप्रश्नीय सूत्र में ३२ प्रकार की नाट्यविधियों का उल्लेख है।[7] मुकर्जी के अनुसार वात्स्यायन के कामसूत्र में अभिनय के सन्दर्भ में नेपथ्य प्रयोग और नाटका-

१. हीरालाल जैन—प्राचीन भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० २८६-८७।
२. कामसूत्र १/३-१६
३. कल्पसूत्र १/१०।
४. आवश्यक चूर्णी, पृ० १५६।
५. छान्दोग्य उपनिषद् ७/१।
६. स्थानांग सूत्र ४, पृ० २७१।
७. राजप्रश्नीय—टीका पृ० १३६।

व्यायिका का उल्लेख किया है।[१] कुवलयमालाकहा में आये ७२ प्रकार की कलाओं में तथा बाणभट्ट की कादम्बरी में चन्द्रापीड द्वारा विभिन्न प्रकार की विद्याओं एवं कलाओं में पारंगत होने के सन्दर्भ में नाट्य शास्त्र का भी उल्लेख आया है।[२]

गीत—नाट्यकला के अतिरिक्त समराइच्चकहा में गीत कला का भी उल्लेख है। तत्कालीन समाज में बौद्धिक उत्थान एवं मनोविनोद के उद्देश्य से संगीत कला का अत्यधिक महत्त्व था। गीत में स्वर, ताल और लय का प्राधान्य माना जाता था। अन्य प्रकार की विद्याओं एवं कलाओं के साथ-साथ शतपथ ब्राह्मण तथा छांदोग्य उपनिषद् में नृत्य, गीत एवं वाद्य कला का भी उल्लेख आया है।[3] अत: यह कला अत्यधिक प्राचीन काल से चली आ रही थी। इसी प्रकार काम-सूत्र, समवायांग एवं कादम्बरी आदि ग्रन्थों में भी गीत, वाद्य एवं नृत्य आदि कलाओं का उल्लेख आया है जो तत्कालीन समाज में शिक्षा का एक प्रमुख विषय माना जाता था।[४]

वाद्य—इसे भी संगीत कला का एक अंग माना जाता था। वैदिक काल से ही इसकी परम्परा देखी जाती है। राजप्रश्नीय सूत्र में वाद्य कला के अन्तर्गत शंख, श्रृंग, भेरी, पटह आदि ४९ प्रकार के वाद्यों का उल्लेख है; किन्तु कुछ लोगों के विचार से पाठानुसार इनकी संख्या ५९ मानी गयी है।[५] कादम्बरी में भी वाद्य कला के अन्तर्गत वीणा, बांसुरी, मृदंग, कांसा, मंजीरे, तूती आदि वाद्य कलाओं का उल्लेख आया है।[६]

स्वरगत—इसके अन्तर्गत स्वर विशेष की शिक्षा दी जाती थी। जैन सूत्रों में षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद आदि सात स्वरों का उल्लेख है।[७] समवायांग सूत्र में भी ७२ कलाओं के अन्तर्गत स्वरगत, पुष्करगत और समताल आदि कलाओं का उल्लेख आया है।[८]

---

१. आर० के० मुकर्जी—एजूकेशन इन ऐंसियंट इंडिया, पृ० ३५४।
२. कादम्बरी, पृ० २३१-३२; कुवलयमाला कहा २२.१-१०।
३. शतपथ ब्राह्मण २९.५; छांदोग्य उपनिषद् ७.१।
४. कामसूत्र १/३-१६; समवायांग, पृ० ७७ अ; कादम्बरी पृ० २३१-३२।
५. जगदीशचन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० २३१।
६. कादम्बरी, पृ० २३१-३२।
७. स्थानांग सूत्र ७, पृ० ३७२, अनुयोगद्वार, पृ० ११७।
८. समवायांग सूत्र, पृ० ७७ अ।

पुष्करगत—बांसुरी और भेरी आदि को अनेक प्रकार से बजाने की कला को पुष्करगत कला के रूप में लिया जाता था।

द्यूत—जुआ खेलने की कला को द्यूतकला माना जाता था। यह मनोरंजन का एक साधन समझा जाता था। द्यूत कला के अन्तर्गत द्यूत, जनवाद आदि कलाओं का ज्ञान कराया जाता था। ऋग्वेद में अक्ष और पाश क्रीड़ा का उल्लेख है[1]। यहाँ अक्ष और पाश का तात्पर्य द्यूत क्रीड़ा से ही है। महाभारत में तो कौरव और पांडवों के बीच हुए द्यूत क्रीड़ा के फलस्वरूप ही पांडवों को निर्वासित जीवन बिताना पड़ा।[2] वात्स्यायन कामसूत्र में इसे ६४ कलाओं के अन्तर्गत गिनाया गया है।[3]

जनवाद—मनुष्य के शरीर, रहन-सहन, बातचीत, खान-पान तथा हाव-भाव आदि के द्वारा उसका परीक्षण करना जनवाद की शिक्षा के अन्तर्गत आता था। समवायांग में भी इसे ७२ कलाओं में गिनाया गया है।[4]

होरा—जात शास्त्र अर्थात् जन्म पत्री का निर्माण और फलादेश इस शिक्षा के अन्तर्गत आते थे। कुवलयमाला में इसे ७२ कलाओं में गिनाया गया है।[5]

काव्य—काव्य रचना तथा पुरातन काव्यों का अध्ययन आदि काव्य विषय के अन्तर्गत आते थे। काव्य कला को कला एवं शिक्षा का प्रमुख विषय माना गया है।[6]

वकमार्तिकम्[7]—इस विषय के अन्तर्गत भूमि सम्बन्धी अध्ययन सम्मिलित था। किस भूमि में कौन सी वस्तु उगायी जा सकती है। खाद, मिट्टी तथा बीज आदि की यथार्थ जानकारी इस विषय में सम्मिलित थी। सम्भवतः यह कृषि विज्ञान के विषय के रूप में था।

---

१. ऋग्वेद १०/३४/८।
२. महाभारत—शांति पर्व।
३. कामसूत्र १/३-१६; तुलना के लिए देखिए—कादम्बरी, पृ० २३१-३१; दशकुमार चरित, पृ० ६६; कुवलयमाला कहा २२/१-१०; समवायांग, पृ० ७७ अ आदि।
४. समवायांग पृ० ७७ अ।
५. कुवलयमाला कहा २२/१-१०।
६. देखिये—कादम्बरी, पृ० २३१-३२; कामसूत्र १/३-१६ काव्यसमस्यापूरणम्; समवायांग, पृ० ७७ अ; कुवलयमाला कहा २२/१-१०।
७. देखिए—समवायांग, पृ० ७७ अ।

अट्टावय (अष्टपद)—अर्थात् अर्थशास्त्र अथवा सम्पत्ति सम्बन्धी बातों का ज्ञान।[१] समवायांग सूत्र तथा प्रश्न व्याकरण में भी इसका उल्लेख आया है।[२]

अन्न विधि—भोजन बनाने और भोज्य पदार्थ सम्बन्धी सभी बातों का ज्ञान इस कला के अन्तर्गत आता था। स्वास्थ्य सम्बन्धी अन्न विधि, पानविधि, शयन-विधि आदि का उल्लेख विविध जैन सूत्रों में आया है।[३]

पान-विधि—पेय पदार्थ सम्बन्धी सभी बातों की जानकारी इस विषय के अन्तर्गत थी।

शयन-विधि—शयन अर्थात् शय्या सम्बन्धी सभी बातों का ज्ञान इसमें सम्मिलित था। कुवलयमाला कहा में शयन विधि के साथ-साथ आसन विधि का भी उल्लेख है।[४]

आर्या—यह एक प्रकार का छन्द था जिसके विविध रूपों की जानकारी की जाती थी। काव्यकला के अन्तर्गत आर्या, प्रहेलिका, मागधिका आदि का ज्ञान कराये जाने का उल्लेख है।[५]

प्रहेलिका—[६]पहेली बूझने एवं बुझाने की कला।

मागधिका—इसके अन्तर्गत मागधी भाषा और साहित्य का ज्ञान कराया जाता था।

गाथा[७]—छन्द अथवा श्लोक रचना सम्बन्धी कला का ज्ञान गाथा के अन्तर्गत आता था। वैदिक काल में भी गाथा का उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद में गाथापति[८], गाथिन[९] तथा ऋजुगाथा[१०] आदि का उल्लेख आया है।

---

१. पाइअ सद्द महण्णवो, पृ० २७।

२. समवायांग, पृ० ७७ अ; प्रश्न व्याकरण १/४—आगमोदय समिति बम्बई, १९१९।

३. जगदीश चन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० २९७।

४. कुवलयमाला कहा २२/१-१०; देखिए—कामसूत्र १/३-१६—शयन रचनम्।

५. समवायांग, पृ० ७७ अ।

६. कामसूत्र १/३-१६।

७. समवायांग, पृ० ७७ अ।

८. ऋग्वेद् १/४३/४।

९. वही १/७/१।

१०. वही ५/४४/५।

गीति—गीति काव्यों की रचना और उनका अध्ययन करना।

श्लोक[1]—साहित्य के अन्तर्गत पद्य श्लोक की रचना तथा उसकी जानकारी करना था।

महुसित्थ (मधुसिक्थ)[2]—मधु तथा मोम आदि बनाने की कला सम्मिलित थी।

गन्धजुत्ति (गन्धयुक्ति)[3]—इत्र, केशर तथा कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थों की पहचान करना तथा उनके गुण-दोषों की जानकारी रखना इस कला के अन्तर्गत था।

आभरणविधि[4]—वस्त्र तथा आभूषण निर्माण एवं धारण करने की कला इसमें सन्निहित थी।

तरुण प्रीति कर्म[5]—तरुण व्यक्तियों मे मित्रवत व्यवहार एवं प्रसन्न करने की कला को तरुणप्रीतिकर्म कहते थे।

स्त्री लक्षण—स्त्रियों की जाति तथा उनके गुण-दोषों की पहचान इस कला के अन्तर्गत थी। जैन सूत्रों में विविध प्रकार के लक्षणों और चिह्नों आदि के ज्ञान कराये जाने का उल्लेख आया है जिसके अन्तर्गत स्त्री, पुरुष, हय, गज, गो, मेष, कुक्कुट, चक्र, छत्र, दंड, असि, मणि, काकिनी आदि के लक्षणों का ज्ञान कराना था।[5]

पुरुष लक्षण—पुरुष वर्गों की जाति और उनके गुण दोष की विशिष्ट जानकारी रखना इस कला का विषय था।

हय लक्षण—घोड़ों की जाति एवं उनके अच्छे-बुरे लक्षणों की जानकारी करना था।

गज लक्षण—हाथियों की जाति तथा उनके शुभ-अशुभ लक्षणों की जानकारी रखना था।

गो लक्षण—गायों की जाति तथा उनकी अच्छी-बुरी नस्लों की जानकारी थी।

मेष लक्षण—अच्छे तथा खराब मेष (भेंड़) की पहचान एवं परीक्षण करने की कला।

---

१. तुलना के लिए—देखिए समवायांग, पृ० ७७ अ।

२. देखिए—वही, पृ० ७७ अ।

३. वही, पृ० ७७ अ; कुवलयमाला कहा २२/१-१०; कामसूत्र १/३-१६।

४. तुलना के लिए देखिए—समवायांग, पृ० ७७ अ।

५. जगदीश चन्द्र जैन—जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज; पृ० २९७।

कुक्कुट लक्षण—कुक्कुट अर्थात् मुर्गों की पहचान एवं उसके शुभाशुभ लक्षणों की जानकारी प्राप्त करना था।

चक्र लक्षण—चक्र परीक्षण और चक्र सम्बन्धी शुभ-अशुभ ज्ञान प्राप्त करना था।

छत्र लक्षण—छत्र सम्बन्धी शुभाशुभ की विशेष जानकारी रखना।

दण्ड लक्षण—दण्ड सम्बन्धी लक्षणों की विशिष्ट जानकारी रखना।

असि लक्षण—तलवार चलाने की कला तथा उसकी परीक्षा सम्बन्धी विशिष्ट जानकारी प्राप्त करना।

मणि लक्षण—मणि-मुक्ता-रत्न आदि की विशिष्ट जानकारी प्राप्त करना इस कला के अन्तर्गत था।

काकिनी लक्षण—प्राकृत शब्द महार्णव में काकिनी का अर्थ कौड़ी और सिक्कों में लगाया गया है।[1] यहाँ काकिनी-लक्षण का तात्पर्य कौड़ी अथवा रत्न विशेष की जानकारी से है।

चर्म लक्षण—चर्म की परीक्षा तथा चर्म सम्बन्धी अन्य प्रकार की सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त करना चर्म लक्षण के अंतर्गत था।

चन्द्र चरित—चन्द्रमा की गति तथा तद्विषयक अन्य प्रकार की जानकारी प्राप्त करना। सम्भवतः यह ज्योतिष विद्या का एक अंग था। चन्द्र, सूर्य, राहु, ग्रह चरित आदि ज्योतिष विद्या के अन्तर्गत आता था। जैनाचार्यों ने गणित तथा ज्योतिष विद्या में आश्चर्यजनक प्रगति की थी। आगमग्रंथों में चंद्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति का महत्त्वपूर्ण वर्णन प्राप्त होता है[2]। साथ-साथ यहाँ सूर्य के उदय, अस्त, ओज तथा चन्द्र-सूर्य के आकार, परिभ्रमण आदि, नक्षत्रों के गोत्र, सीमा तथा सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र एवं तारों की गति का उल्लेख है।[3]

सूर्य चरित—सूर्य की गति, गमन पथ तथा उस विषय सम्बन्धी सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त करना सूर्य चरित का विषय था।

राहु चरित—राहु ग्रह सम्बन्धी सभी प्रकार की जानकारी राहु चरित के अन्तर्गत था।

ग्रह चरित—सम्पूर्ण ग्रहों के विषय में विस्तृत ज्ञान प्राप्त करना ग्रह चरित कहा जाता था। बाणभट्ट ने कादम्बरी में ग्रह-नक्षत्र निर्णय तथा ज्योतिष विद्या को विभिन्न कलाओं के साथ-साथ गिनाया है।[4]

---

१. देखिए—पाइअ सद्द महण्णवो।

२. जगदीश चन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ३०६।

३. विन्टर नित्स—हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २, पृ० ४५७।

४. कादम्बरी, पृ० २३१–३३।

सूत्र-क्रीडा[1]—सूत्र द्वारा विभिन्न प्रकार के खेल करने की कला को सूत्र क्रीडा कहा जाता था। समवायांग सूत्र में ७२ प्रकार की कलाओं के अन्तर्गत सूत्र क्रीडा, वृत्त क्रीडा, धर्म क्रीडा तथा नलिका क्रीडा का उल्लेख क्रीडा कला के अन्तर्गत किया गया है।[2]

वस्त्र क्रीडा—वस्त्रों द्वारा विभिन्न प्रकार के खेल-कूद करने की कला को वस्त्र क्रीडा कहा जाता था।

बाह्य क्रीडा—बाह्याली में घुड़सवारी करने की कला को बाह्य क्रीडा कहते थे।

नलिका क्रीडा—द्यूत क्रीडा की तरह का ही एक खेल।

पत्रच्छेद[3]—पत्रों व पत्तों पर भेदने की कला अर्थात निशानेबाजी।

कटकछेद—सेना में सैनिकों को बेधने की कला इस कला के अन्तर्गत थी। समवायांग सूत्र में पत्रच्छेद की भाँति कटच्छेद्य नामक कला का भी उल्लेख है।[4]

प्रतरच्छेद—वृत्ताकार वस्तु को भेदने की कला को प्रतरच्छेद कला कहते थे।

सजीव—मृत या मृत तुल्य व्यक्ति को जीवित कर देने की कला को सजीव कहा जाता था। सजीव और निर्जीव कला को समवायांग की ७२ कलाओं में से एक माना गया है।[5]

निर्जीव[6]—मरण कला अर्थात मारने की कला को निर्जीव कला कहते थे।

शकुनरुत—पक्षियों की आवाज द्वारा शुभ-अशुभ का ज्ञान प्राप्त करना शकुनरुत कला कही जाती थी।

सूयाकार (सूचाकार)[7]—आकार मात्र से ही रहस्य की जानकारी प्राप्त कर लेने की कला को सूचाकार कहते थे।

दूयाकार (दूताकार)—दूत की आकृति तथा हाव-भाव से ही सब कुछ जान

---

१. तुलना के लिए-देखिये—कामसूत्र १/३–१६।
२. कुट्टनीमतम् श्लोक १२४।
३. समवायांग, पृ० ७७अ।
४. तुलना के लिए देखिये—समवायांग, पृ० ७७अ; कुट्टनीमतम् श्लोक २३६; कुवलयमाला कहा २२/१–१०।
५. समवायांग, पृ० ७७अ।
६. तुलना के लिए देखिये—कामसूत्र १/३–१६—'शुकसारिकाप्रलापनम्'; समवायांग, पृ० ७७अ; कादम्बरी पृ० २३१–३२—यहाँ विभिन्न प्रकार की कलाओं के साथ 'शकुन-शास्त्र' नामक विद्या का उल्लेख है।
७. तुलना के लिए देखिये—पिंडनिर्युक्ति ४३७, प्रकाशन (बम्बई १९२२)।

लेने की कला तथा दूत नियुक्ति के समय दूत के अनुरूप गुणों की जानकारी का ध्यान रखना आदि दूताकार के अन्तर्गत था ।

विद्यागत—वेद-शास्त्र आदि का ज्ञान प्राप्त करना विद्यागत कला का विषय था । समवायांग सूत्र में विभिन्न कलाओं के अन्तर्गत विद्यागत, मंत्रगत, रहस्य-गत, संभव, चार, प्रतिचार, व्यूह, प्रतिव्यूह आदि कलाओं को अलग-अलग गिनाया गया है ।[1]

मन्त्रगत—दैहिक, दैविक और भौतिक बाधाओं को दूर करने के लिए मन्त्र-विधि का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना मन्त्रगत विद्या का विषय था ।

रहस्यगत—रहस्य (गूढ़तम) की समस्त जानकारी अथवा जादू-टोने आदि की जानकारी इस विषय के अन्तर्गत मानी जाती थी ।

संभव—सम्भवतः प्रसूति विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान इसके अन्तर्गत था ।

चार—तेज गमन करने की कला चार कला का विषय था । चार, प्रति-चार, व्यूह और प्रतिव्यूह आदि युद्ध सम्बन्धी विद्याएँ हैं जिनके द्वारा क्रमशः सेना को आगे बढ़ाना, शत्रु की सेना की चाल को विफल करने के लिए सेना का संचार करना, चक्रव्यूह रचना द्वारा सेना का विन्यास करना एवं शत्रु की व्यूह रचना को तोड़ने योग्य सेना का विन्यास किया जाता था ।

प्रतिचार—सम्भवतः उपचार सम्बन्धी विषय यथा—रोगी, घायल आदि के उपचार की विद्या ।

व्यूह—युद्ध के समय व्यूह रचना की कला इसका विषय क्षेत्र था । युद्ध के समय व्यूह की रचना कर लेने के पश्चात उसके प्रत्युत्तर में व्यूह रचने की कला को प्रतिव्यूह कहा जाता था ।

स्कन्धावारमान[2]—छावनी के प्रमाण, यथा—लम्बाई-चौड़ाई तथा तद्‌विषयक अन्य प्रकार की जानकारी इस कला में सम्मिलित थी । वास्तुकला के अन्तर्गत नगरमान, वास्तुमान, स्कन्धावार निवेशम आदि का आभास होता है ।[3] स्कन्धा-वारमान, नगरमान, वास्तुमान, स्कन्धावार निवेशम, नगर निवेशम का आशय शिविर आदि को बसाने एवं उसके योग्य भूमि, गृह आदि का मान प्रमाण निश्चित करना था ।[4]

---

१. समवायांग सूत्र, पृ० ७७अ ।

२. तुलना के लिए देखिये—समवायांग सूत्र, पृ० ७७अ; कामशास्त्र १|३–१६ तथा कादम्बरी, पृ० २२१–२२ में 'वास्तुविद्या' ।

३. जगदीशचन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० २९८ ।

४ हीरालाल जैन—प्राचीन भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० २९० ।

नगरमान—नगर के प्रमाण आदि की जानकारी प्राप्त करना नगरमान विद्या का विषय क्षेत्र था। समवायांग सूत्र में स्कन्धावारमान, नगरमान, वास्तुमान, स्कन्धावारनिवेश, वास्तुनिवेश तथा नगरनिवेश को अलग-अलग कला के रूप में गिनाया गया है।[1]

वास्तुमान—भवन, प्रासाद तथा गृह के प्रमाण आदि को जानने की कला वास्तुमान कला थी।

स्कन्धावार निवेशम—छावनियों की रचना सम्बन्धी सम्पूर्ण जानकारी, यथा—छावनियों के डालने का उचित स्थान तथा उचित रचना, रसद की समुचित व्यवस्था तथा शत्रु से सुरक्षा आदि का विशेष ज्ञान स्कन्धावार निवेश विद्या का विषय था।

नगर निवेशम—नगर बसाने की कला को नगर निवेश विद्या कहते थे।

वास्तु निवेश—भवन, प्रासाद एवं घर बनाने की कला को वास्तु निवेश के अन्तर्गत माना जाता था।

इष्वस्त्र[2]—वाण प्रयोग करने की कला को इष्वस्त्र कला कहते थे।

तत्वप्रवाद—तत्वज्ञान की शिक्षा, ज्ञान आदि तत्व प्रवाद के अन्तर्गत आता था। कादम्बरी में अन्य कलाओं के अन्तर्गत मीमांसा, न्याय, वैशेषिक आदि दर्शन-शास्त्र के विषय के रूप में उल्लेख आया है।[3]

अश्व शिक्षा—घोड़ों को नाना प्रकार के कदम तथा चालें सिखलाने की कला को अश्व शिक्षा कहा जाता था। समवायांग, कादम्बरी, कुवलयमाला कहा आदि ग्रन्थों में अश्व शिक्षा, हस्ति शिक्षा आदि का उल्लेख विविध कलाओं के अन्तर्गत आया है।[4]

हस्ति शिक्षा—हाथियों को युद्ध करने की शिक्षा देना तथा रणक्षेत्र में संचालन आदि की शिक्षा आदि हस्ति शिक्षा के अन्तर्गत था।

मणि शिक्षा—मणियों को सुन्दर एवं आकर्षक बनाना तथा मणि की सही जानकारी रखना आदि को मणि शिक्षा कहा गया है।

---

४. समवायांग, पृ० ७७अ।

१. तुलना के लिए देखिए—समवायांग सूत्र, पृ० ७७ अ०; प्रश्नव्याकरणसूत्र १।५; पउमचरिअ ९८।४०—प्राकृत ग्रंथ परिषद्—वाराणी—५ से प्रकाशित।

२. कादम्बरी, पृ० २३१—३२।

३. समवायांगसूत्र, पृ० ७७ अ; कादम्बरी, पृ० २३१-३२; कुलयमाला कहा २२।१—१०।

धनुर्वेद[1]—धनुष चलाने की कला को धनुर्वेद के अन्तर्गत माना जाता था।

हिरण्यवाद—चाँदी के विभिन्न प्रकार के प्रयोग को जानने की कला को हिरण्यवाद कहा जाता था। हिरण्यपाक, सुवर्णपाक, मणिपाक, धातुपाक का उल्लेख समवायांग सूत्र में एक ही कला के अन्तर्गत आया है।[2] कादम्बरी में विविध कलाओं के अन्तर्गत 'रत्नपरीक्षा' का उल्लेख है।[3] कामसूत्र में भी विभिन्न कलाओं के साथ 'रूप्यरत्नपरीक्षा, धातुवाद और मणिरागाकरज्ञान आदि का उल्लेख है।[4]

सुवर्णवाद[5]—सोने के अनेक भेद तथा उसके प्रयोग करने की कला को सुवर्णवाद कहा जाता था।

मणिवाद—मणियों के भेद तथा उनके प्रयोगों को मणिवाद कहा जाता था।

धातुवाद—धातु सम्बन्धी विशिष्ट जानकारी रखना धातुवाद की श्रेणी में आता था।

बाहु युद्ध—बाहु युद्ध करने की कला का ज्ञान जिसे मल्ल युद्ध भी कहा जाता था। युद्ध विद्या में युद्धनियुद्ध, युद्धा-तियुद्ध, मुष्टि युद्ध, धनुर्वेद, व्यूह, प्रतिव्यूह आदि कलाएं मानी जाती थीं। समवायांगसूत्र में बाहुयुद्ध, दंडयुद्ध, मुष्टियुद्ध, अस्थि युद्ध, युद्ध, नियुद्ध और युद्धनियुद्ध आदि सभी को एक ही कला अर्थात् युद्ध-कला के रूप में गिनाया गया है।[6]

दण्ड युद्ध—दण्ड अर्थात् लाठी से युद्ध करने की कला को दण्ड युद्ध कहते थे।

मुष्टि युद्ध—मुक्का या घूँसा मारकर युद्ध करने की कला को मुष्टि युद्ध के अन्तर्गत रखा गया था।

अस्थि युद्ध—हड्डियों से युद्ध करने की कला को अस्थि युद्ध कहते थे।

युद्ध—रणक्षेत्र में युद्ध करने की कला को युद्ध विद्या माना जाता था।

नियुद्ध—कुश्ती लड़ने की कला को नियुद्ध की संज्ञा दी जाती थी।

युद्ध-नियुद्ध—घमासान लड़ाई करने की कला को युद्ध-नियुद्ध विद्या कहा जाता था।

१. तुलना के लिए देखिए—कादम्बरी, पृ० २३१-३२; समवायांगसूत्र, पृ० ७७ अ।
२. समवायांगसूत्र, पृ० ७७ अ।
३. कादम्बरी, पृ० २३१-३२।
४. कामसूत्र १।३–१६।
५. तुलना के लिए, देखिए—कुवलयमाला कहा २२।१–१०।
६. समवायांग सूत्र, पृ० ७७ अ।

छठाँ-अध्याय

आर्थिक दशा

अर्थ का महत्व

भारतीय जीवन का मूल आधार पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) बताया गया है।[1] अतएव बिना धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के जीवन का सन्तुलन सम्भव नहीं। यद्यपि जीवन का अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य मोक्ष माना गया है, फिर भी त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) पूर्णतया त्याज्य नहीं हैं, क्योंकि बिना इन तीनों पुरुषार्थों को प्राप्त किये मोक्ष नामक शाश्वत सुख असम्भव है। जीवन के उद्देश्य का दृश्य दो रूपों में (व्यवहार और परमार्थ अथवा प्रवृत्ति और निवृत्ति) देखा जा सकता है। जिनमें मोक्ष को परमार्थ अथवा निवृत्ति से तथा धर्म, अर्थ और काम को व्यवहार अथवा प्रवृत्ति से जोड़ा गया है।

जीवन के तीन मूल उद्देश्य त्रिवर्ग के सेवन से ही सम्भव है, जिनमें धर्म सर्वोच्च है।[2] समराइच्च कहा में त्रिवर्ग[4] (धर्म, अर्थ, काम) का सेवन करना ही लोक धर्म बताया गया है। यही समस्त भौतिक सुखों का मूलाधार बताया गया है। अर्थ (धन) के अभाव में धर्म और काम तथा इन तीनों के अभाव में मोक्ष की सिद्धि असम्भव है। धर्म, अर्थ, काम आदि सभी पुरुषार्थ की सिद्धि एक दूसरे पर आधारित है।[5] अग्निपुराण में युवराज की शिक्षा में धर्म, अर्थ और काम को आवश्यक बताया गया है।[6]

---

१. महाभारत १२, ५९, ७२–७६; १८, ५, ५०; २, ५, ६; मनु० ७, १००; विष्णु पुराण १, १८, २१; अमर कोश २, ७, ५८।

२. महाभारत १२, ५९, २९–३१; कठोपनिषद् २, १-२ (यहाँ श्रेय और प्रेय का भेद बताया गया है); मनु० १२।२८।

३. गोपीनाथ कविराज अभिनन्दन ग्रन्थ में—लल्लन जी गोपाल—इकोनामिक परसूट आफ एंसियंट इंडिया, पृ० ४०६।

४. सम० क० ९, पृ० ८६५–६६।

५. पद्मपुराण, ६, २८४, १२।

६. अग्निपुराण—राजधर्म २, पृ० ४०६ धर्मार्थे काम शास्त्राणि धनुर्वेदं च शिक्षयेत्।

समराइच्च कहा में उल्लिखित है कि अर्थ रहित पुरुष पुरुष नहीं कहा जा सकता; क्योंकि दरिद्र व्यक्ति न यश प्राप्त कर सकता है, न सज्जनों की संगति प्राप्त कर सकता है और न तो परोपकार सम्पादन ही कर सकता है।[१] इसके साथ-साथ अर्थ को ही देवता बताया गया है। अर्थ ही व्यक्ति का सम्मान बढ़ाता है, गौरव जनाता है, मनुष्य का मूल्य बढ़ाता है, सौभाग्यशाली बनाता है तथा यही (अर्थ) कुल, रूप और बुद्धि को प्रकाशित करता है।[२] महाभारत[3] में अर्थ की महत्ता को स्वीकार किया गया है और इसे जीवन का बहुमूल्य अंग बनाया गया है। यहाँ अर्जुन कहते हैं गरीबी एक पाप है। जीवन के सर्वश्रेष्ठ कार्य धन सम्पत्ति पर आधारित हैं, सम्पूर्ण धार्मिक कृत्य अर्थ पर ही निर्भर रहते हैं, सभी प्रकार के सुखों तथा स्वर्ग की प्राप्ति धन से ही सम्भव हैं। धन से ही बुद्धि प्रकाशित होती है। अतः वह व्यक्ति जिसके पास धन नहीं है वह धार्मिक क्षेत्र में सफल नहीं हो सकता और न तो समाज में सुखी जीवन ही व्यतीत कर सकता है। अतः बिना धर्म और अर्थ के समान योगदान के वह सुख अलभ्य है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र[४] में धर्म और काम का मूलाधार अर्थ ही बताया है। सर्वदर्शन संग्रह में भी चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) में अर्थ और काम को जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य बताया गया है।[५]

जैन ग्रंथ आदि पुराण में भी बताया गया है कि आदि तीर्थंकर ने अपने पुत्र भरत को अर्थशास्त्र की शिक्षा दी थी।[६] अर्थशास्त्र के अन्तर्गत भौतिक कल्याण सम्बन्धी सभी बातों यथा—उत्पादन, उपभोग, विनिमय और वितरण आदि का अध्ययन किया जाता है। आर्थिक विचार के अन्तर्गत धन कमाना, अर्जित धन का रक्षण करना, पुनः उसका सम्बर्द्धन करना तथा योग्य पात्रों को दान देना बताया गया है।[७] अतः स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में जीवन के चार

---

१. सम० क० ४, पृ० २४६—अत्थरहिओ पुरिसो अपुरिसो चेव।
२. वही ६, पृ० ५३८–३९—'अन्नं च एस अत्थो नाम महन्तं देवयारुवं—॥'; देखिए—आदिपुराण ४१।१५८–'लक्ष्मी वाग्वनिता समागम सुखस्यैकाधिपत्यं दधत्।
३. महाभारत १२, ८, ६–३३; १२, १६७, १२–१४।
४. अर्थशास्त्र १, ७–अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्याः। अर्थमूलो हि धर्म कामौ इति; देखिए—पराशर० ८।३–'अर्थं मूलोधर्मकामौ।'
५. सर्वदर्शन संग्रह, पृ० २; प्रबोध चन्द्रोदय, पृ० ५६।
६. आदिपुराण १६।११९॥
७. वही ४२।१२३—'अर्थसम्मार्जनं, रक्षणं, वर्धनं, पात्रे च विनियोजनम्॥

मूल उद्देश्यों में अर्थ का अत्यधिक महत्व था जिसे सम्पूर्ण सुखों का उद्गम स्रोत माना जा सकता है तथा जिसके उत्पादन के प्रधान स्रोत कृषि, व्यापार-वाणिज्य, शिल्प आदि थे।

व्यापार-वाणिज्य

बाजार

प्राचीन काल में कृषि के अतिरिक्त देश की समृद्धि का मुख्य आधार व्यापार-वाणिज्य था। व्यापार का मुख्य ध्येय समाज के लिए विभिन्न प्रकार की आवश्यकीय वस्तुओं को उत्पादक के पास से उपभोक्ता के पास पहुँचाना था।

समराइच्च कहा में 'हट्ट'[1] शब्द का उल्लेख है जिसका प्रयोग आजकल हाट अथवा बाजार के रूप में किया जाता है। इन हाटों के बीच में सड़कें विस्तृत तथा चौरस होती थीं। विशेष अवसरों पर उन्हें सजाया जाता था।[2] भोजन, वस्त्र आदि उपभोग की सभी सामग्रियाँ बाजारों में सुलभ थी।[3] पाल अभिलेख में 'हाटक'[4] नामक अधिकारी का उल्लेख है जो संभवतः हाट (बाजार) का प्रबन्ध करता था। प्रतिहार अभिलेख में उल्लिखित है कि बंका नामक वैश्य भिन्न-भिन्न स्थानों (हाटों) से क्रय-विक्रय की सामग्री खरीद कर लाता था।[5] परमार लेख उन वणिकों के विषय में संकेत करते हैं जो सामान लाते तथा हाटों में बेचते थे।[6]

बाजार सामग्री

समराइच्च कहा में बाजार से भोजन सामग्री ले आने का वर्णन है।[7] इससे प्रतीत होता है कि उस समय के बाजारों में गेहूँ, चावल, घी-दूध, साग-सब्जी आदि की बिक्री होती थी। चेलादि भाण्डं[8]—' के उल्लेख से भी यह

१. सम० क० ४, पृ० २६०; ७, ६१४–७१७; ९, ८५८ ॥
२. वही ७, पृ० ६३३–३४; ९, ८५८।
३. वही, ७ पृ० ७१७ 'हट्टाओ अहं किञ्चिभोयण जायं—तथा पृ० १७२—चेलादिभाण्डं—।'
४. इपि० इंडि० १७, पृ० ५२५।
५. वही २०, पृ० ५५।
६. वही २१, पृ० ४८, लेख में हाट शब्द का उल्लेख किया गया है जिसका प्रबंध एक मण्डल द्वारा किया जाता था—आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इंडिया ऐनुअल रिपोर्ट, १९३६–३७, पृ० ९१ ॥
७. सम० क० ७, पृ० ७१७ (हट्टाओ अहं किञ्चिभोयणजायं)।
८. वही ३, पृ० १७२।

सूचित होता है कि वस्त्र-कपास-सन अनाज आदि का क्रय-विक्रय दूरस्थ व्यापारिक केन्द्रों के साथ-साथ इन हाटों (बाजारों) में भी होता था।

मार्ग

हरिभद्र कालीन भारत में हाट[1] में जाने-आने की सुविधा के लिए चौरस एवं विस्तृत मार्ग थे।[2] इन मार्गों का प्रबन्ध एवं मरम्मत संभवतः राज्य की तरफ से किया जाता था जिससे व्यापारिक वर्ग तथा अन्य लोगों के आवागमन की सुविधा रहे।

वाहन

हाटों में व्यापारिक सामग्रियों को ले आने तथा ले जाने की सुविधा के लिए बैल-गाड़ी[3] का प्रयोग होता था। मनुस्मृति में गाड़ी का उल्लेख है, जिसे बैल, खच्चर, भैंस आदि खींचते थे।[4] निशीथ चूर्णी में भी व्यापारिक सामग्री ढोने के लिए गाड़ी का उल्लेख है।[5] ये बैल गाड़ियाँ निजी तथा भाड़ा कमाने वाली (किराये पर बोझ ढोने वाली) होती थीं।[6] चाहमान अभिलेख में व्यापारिक सामग्री ढोने वाली बैलगाड़ी का उल्लेख है।[7]

दूरस्थ प्रदेशों में व्यापार के लिए सार्थवाह की अध्यक्षता में व्यापारियों का सार्थ[8] चला करता था। उस सार्थ में भार-वाहक तथा गाड़ी, रथ आदि खींचने के लिए हाथी, घोड़े, बैल, खच्चर, ऊँट आदि जानवरों का उपयोग होता था।[9]

१. सम० क० ४, पृ० २६०; ७, पृ० ७१४–७१६ ॥
२. वही ९, पृ० ८५८ ॥
३. वही ४, पृ० ३५५; ७, पृ० ८५०; देखिए—उपमितिभव प्रपंचा कथा, पृ० ८६७–६८।
४. मान मनु० ८, २९०।
५. निशीथ चूर्णी ४, पृ० १११—अणुरंगा णामघंसिओ तथा ३, पृ० ९९— अणुरंगा गड्डी।
६. सम० क०, पृ० ३३५।
७. इपि० इंडि० ११, पृ० ३७ और ४३।
८. सम० क० ४, पृ० २४२; ६, पृ० ५०४, ५०९, ५११-१२, ५३५, ५३७, ५५३, ५५४-५५; ७, पृ० ६५६, ६५८, ६६६-६७, ६७२; देखिए— तिलकमंजरी, पृ० ११७; पतंजलि—महाभाष्य १, १, ७४, पृ० ४६३— 'कश्चित कांतारे समुपस्थिते सार्थमुपादत्ते, तथा २, २, २४, पृ० ३७०।
९. निशीथ चूर्णी ३, पृ० ९९ 'हत्थि तुरगादि गमेव आण, ४, पृ० १११; २, पृ० ९; त्रिशष्टि शलाका पुरुष चरित १, ७।

बृहत्कल्प भाष्य[१] में पाँच प्रकार के सार्थों का उल्लेख है, यथा-गाड़ियों और छकड़ों से माल ढोने वाले (मंडी), ऊँट, खच्चर, बैल आदि से माल ढोने वाले (बहिलग), अपना माल स्वयं ढोने वाले (भारवह), अपनी आजीविका के योग्य द्रव्य लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करने वाले (ओदरिया) और कार्पटिक (कप्पडिय) साधुओं का सार्थ।

तौल-माप

समराइच्च कहा में तराजू-बाट[२] का उल्लेख हुआ है जिससे स्पष्ट होता है कि आधुनिक काल की तरह प्राचीन काल में भी वस्तुओं का क्रय-विक्रय और उसका मूल्य निर्धारण तौल के ही आधार पर किया जाता था। निशीथ चूर्णी[३] में भी तुला का उल्लेख है। वणिक लोग बहुत चालाक होते थे। अतएव वे गलत तौल (कुदा तुला) और गलत परिमाप से ग्राहकों को धोखा भी देते थे।[४] हरिभद्र के पूर्वकाल में भी तुला, बाट और परिमाण आदि का बराबर प्राप्त होता है।[५]

समराइच्च कहा में 'निओइयं भाण्डं'[६] का उल्लेख है जिससे स्पष्ट होता है कि वस्तुओं का मूल्य निर्धारण तौल के साथ-साथ माप से भी किया जाता था।

सिक्के

समराइच्च कहा में दीनार नामक सिक्के का उल्लेख कई बार आया है।[७] इस सिक्के का व्यवहार संख्या में किया जाता था।[८] आपसी लेन-देन अथवा वस्तुओं के क्रय-विक्रय में इन सिक्कों का प्रयोग किया जाता था। प्राचीन काल में दीनार ग्रीक से लिया गया लैटिन का 'देनरियस' था, जो एक प्रकार का चाँदी का सिक्का था।[९] किन्तु संस्कृत शब्द-कोशों में इसे एक स्वर्ण सिक्का

१. बृहत्कल्प भाष्य १, ३०६६।
२. सम० क० १, पृ० ६२; ३, पृ० २१२।
३. निशीथ चूर्णी १, पृ० १४४; ४ पृ० १११, धरिमं यं तुलाए धरिजति।
४. वही १, पृ० ११५।
५ पतंजलि महाभाष्य ४, ४; ११, काशिका० ३, ३, ५२।
६. सम० क० ६, पृ० ५३९; देखिए—निशीथ चूर्णी १, पृ० ११५—कुदामनः।
७. वही २, पृ० ११४; ३, १७१; ४, २६७; ६, ५०९; ८, ७४६।
८. वही २, पृ० ११४; ८, पृ० ७४६।
९. लल्लन जी गोपाल—एकोनामिक लाइफ आफ नार्दर्न इण्डिया, पृ० २०९।

बताया गया है। राजतरंगिणी[1] में सोने, चाँदी और ताँबे के दीनारों का उल्लेख है। निशीथ चूर्णी में दीनार का उल्लेख एक स्वर्ण सिक्के के रूप में किया गया है जिसका प्रचलन पूर्व देश में अधिक था।[2] एक अन्य स्थान पर मयूर से अंकित दीनारों का उल्लेख है।[3] गुप्तकाल में दो प्रकार के स्वर्ण सिक्कों का प्रचलन था, जिनमें प्रथम तो रोमन दीनैरम के वजन के बराबर था तथा दूसरा मनु का सुवर्ण था।[4]

समराइच्च कहा में 'षोडस सुवण्ण'[5] के उल्लेख से स्पष्ट होता है कि दीनारों के अलावा सुवर्ण का भी व्यवहार संख्या में किया जाता था, जिसकी पुष्टि गुप्तकाल में प्राप्त सिक्कों से की जा सकती है।[6] पूर्वकाल में कुषाण और गुप्तों के शासन काल में स्वर्ण सिक्कों का प्रचलन था। अनेक शताब्दियों तक कोई सोने के सिक्के नहीं बने। इस काल में सर्वप्रथम गंगेय देव (त्रिपुरी का कल्चुरी वंशज) ने सोने के सिक्के बनवाए, जिसके स्वर्ण सिक्के उपलब्ध हुए हैं।[7] प्रथम चंदेल राजा कीर्तिवर्मन ने भी स्वर्ण सिक्के चलाए थे जो संख्या में कम थे।[8] रत्नपुर के कल्चुरी वंशज पृथ्वी देव, जज्जल देव और रत्न देव तृतीय ने १३ ग्रेन से लेकर ६० ग्रेन तक के वजन के स्वर्ण सिक्के चलाए थे।[9] उदयादित्य नामक परमार वंश के शासक (१०६०–१०८७ ई०) ने स्वर्ण सिक्के चलाए थे।[10] उत्तर प्रदेश के झाँसी जिले में सिद्धराज जयसिंह के चलाये गये सिक्के प्राप्त हुए हैं।[11]

---

१. राजतरंगिणी ८७, ९५०।

२. निशीथ चूर्णी ३, पृ० १११; बृहत्कल्प भाष्य वृत्ति २, पृ० ५७४।

३. वही ३, पृ० ३८८।

४. भण्डारकर—लेक्चर्स आन नुमिस्मेटिक्स, पृ० १८३ तथा ब्राउन—दी क्वायन्स आफ इण्डिया, पृ० ४५।

५. सम० क० ४, पृ० २४४ (षोडस सुवण्ण), ५५८।

६. लल्लन जी गोपाल—एकोनामिक लाइफ आफ नार्दर्न इण्डिया, पृ० २०९।

७. २२ स्वर्ण सिक्के–आजमगढ़ से–जर्नल आफ दी नुमिस्मेटिक सोसायटी आफ इण्डिया, १७।१११; ३ स्वर्ण सिक्के–कनिंघम–आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया, रिपोर्ट्स १०।२५; कार्पस इन्स्क्रिप्सनम इंडिकैरम ४, पृ० CL. XXXXIII.

८. इण्डियन एण्टीक्वेरी ३७, पृ० १४८।

९. जर्नल आफ दी एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल २६ (१९३०), नं० ३५।

१०. सी० आर० सिंहल—'बिब्लियोग्राफी आफ इण्डियन क्वायन्स, प्लेट १, पृ० ९६।

११. वही, पृ० ९६।

धर्मशास्त्रों में ७० रूपक को १ सुवर्ण के बराबर तथा २८ रूपक (चाँदी) को १ दीनार के बराबर बताया गया है।[1] इस प्रकार दीनार और सुवर्ण सिक्के के मूल्य में २:५ का सम्बन्ध था।

प्रादेशिक व्यापार-केन्द्र

छोटे एवं बड़े स्थानीय हाटों के अलावा भारत के व्यापारी व्यापार के निमित्त देश के अन्दर विभिन्न व्यापारिक केन्द्रों को भी आया करते थे। ये व्यापारी अपनी सुविधा तथा जान-माल की रक्षा के लिए सार्थ[2] बना कर चलते थे। समराइच्च कहा में अमरपुर के साथ लक्ष्मी निलय[3], सुशर्म नगर[4], वैराट नगर[5] आदि के व्यापार का उल्लेख है। इसी प्रकार श्रीपुर से श्वेतविका[6] नामक व्यापारिक केन्द्र के बीच व्यापार का उल्लेख प्राप्त होता है। माकंदी का रहने वाला धरण उत्तरा-पथ के अचलपुर नामक प्रसिद्ध नगर में व्यापार के निमित्त जाता है और वहाँ से आठ गुना लाभ प्राप्त कर वापस लौटता है।[7] श्रावस्ती[8] तथा उज्जयिनी[9] नामक प्रसिद्ध व्यापारिक नगरों का वर्णन भी आया है जहाँ पर देश के विभिन्न भागों के व्यापारी व्यापार के निमित्त आते-जाते रहते थे।

इस प्रकार के उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में देश के अन्दर विभिन्न व्यापारिक केन्द्रों का आपसी व्यापार होता था जो मनुष्यों के उपयोग की विभिन्न सामग्रियों को देश के एक कोने से दूसरे कोने तक सुलभ करने का एक साधन था। व्यापारिक केन्द्रों में अमरपुर, लक्ष्मी निलय, सुशर्म नगर, वैराट नगर, श्रीपुर, श्वेतविका, माकन्दी, अचलपुर, श्रावस्ती तथा

---

१. पी० बी० काणे—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र भाग ३, पृ० १२२।
२. सम० क० ४, पृ०—२४२; ६, ५०४—५११—१२, ५३५—३६, ५५३-५४-५५-५६, ५५८, ५६६-६७, ५७२।
३. वही ३, पृ० १७२।
४. वही ४, पृ० २४०-४१, २५६, २६१, २८७।
५. वही ४, पृ० २८५।
६. वही ५, पृ० ३९८-९९।
७. वही ६, पृ० ५१०।
८. वही० ४, पृ० २५७, २८६—८७; देखिए....यन० सी० बन्द्योपाध्याय—एकोनामिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन ऐंसियण्ट इण्डिया, पृ० २२१-२२।
९. वही ९, पृ० ८५८; देखिए वही, पृ० २२१, २२२।

उज्जयिनी आदि प्रसिद्ध नगर थे। ताम्रलिप्ति[१] तथा वैजयन्ती[२] नामक प्रसिद्ध बन्दरगाहों से भी देश के व्यापारी स्थल मार्गों से व्यापार करते थे।

प्रादेशिक व्यापार-मार्ग

समराइच्च कहा के पात्र देश के अन्दर स्थल मार्गों द्वारा विभिन्न व्यापारिक केन्द्रों में व्यापार के निमित्त आते-जाते दिखाई देते हैं। ये व्यापारी अपने जान-माल की सुरक्षा तथा अन्य सभी प्रकार की सुविधाओं के लिए सार्थ (सार्थ अर्थात साथ अथवा झुण्ड) बनाकर चला करते थे।[३] यह सार्थ व्यापारियों का कारवाँ था, जो देश के एक छोर से दूसरे छोर तक चला करता था। उस सार्थ का नेता सार्थवाह कहलाता था जिसकी अध्यक्षता में व्यापारिक झुण्ड दूरस्थ प्रदेशों को जाता था[४]। समराइच्च कहा में नगर एवं हाटों के मार्ग[५] का तो उल्लेख है, पर इन दूरस्थ प्रदेशों को जाने वाले मार्गों अथवा सड़कों का उल्लेख नहीं है। इतना अवश्य पता चलता है कि इन व्यापारियों को दुर्गम मार्ग से होकर जाना पड़ता था[६] जिसे पार करने के लिए उन्हें कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। मार्ग में चलते समय चोर-डाकुओं के भय के कारण ये व्यापारी अपने साथ सशस्त्र सुरक्षा दल भी लेकर चलते थे।[७]

मार्ग में यात्रा करते हुए ये व्यापारी विश्राम के लिए पड़ाव डालते थे जहाँ अपनी सुविधा के लिए कपड़ों के तम्बू डालकर उसके नीचे विश्राम करते थे।[८] कभी-कभी उनके विश्राम स्थल पर लूटपाट मचाने वाले शबरों के आक्रमण भी होते थे जिनसे आयुधधारी सुरक्षा-दल को युद्ध करना पड़ता था।[९]

---

१. सम० क० ४, पृ० २४०–४१–४२; ५, पृ० ३६७–६८–६९; ७, पृ० ६५२–५३–५४।

२. वही ६, पृ० ५३९।

३. वही ४, पृ० २४२; ६, पृ० ५०४, ५०९, ५११–१२, ५३५, ५३७, ५५३–५५४–५५; ७, ६५६, ६५८, ६६६–६७, ६७२; देखिए—त्रिषष्टि-शलाकापुरुष चरित, १, पृ० ७॥

४. निशीथ चूर्णी २, पृ० ४६९; अनुयोग द्वार चूर्णी, पृ० ११; बृहत्कल्पभाष्य वृत्ति १०४०।

५. सम० क० ९, पृ० ८५८; निशीथ चूर्णी में ३, पृ० ४९८, ५०२ (यहाँ नगरों में राजमार्ग, द्वि मार्ग, त्रिमार्ग, चौक्क (चौराहा) आदि का उल्लेख है।)

६. वही ६, पृ० ५११–१२; ७, ६५६, ६५८॥

७. वही, ६, पृ० ५११–१२; ७, पृ० ६५६॥

८. वही ७, पृ० ६५६॥

९. वही ६, पृ० ५११–१२॥

युद्ध में कमजोर पड़ने पर इन व्यापारियों का सुरक्षा-दल, स्त्री-बच्चे आदि नष्ट हो जाते और सार्थ भी लुट जाता था।[१] व्यापारियों के ये मार्ग अधिकतर जंगली एवं पहाड़ी होते थे जो भयानक एवं असुरक्षित थे। इसी कारण उन्हें काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। अन्य साहित्यिक साक्ष्यों में भी व्यापारिक यात्रा सम्बन्धी कठिनाइयों का उल्लेख है।[२] सन्देश-रसक[3] में मार्गों को दुर्गम एवं भयावह बताया गया है। चीनी यात्री ह्वेनसांग भी मार्ग में डाकुओं द्वारा लूट लिया गया था।[४]

यद्यपि समराइच्च कहा में नगरों एवं हाटों के अलावा दूरस्थ प्रदेशों तक जाने वाले मार्गों एवं सड़कों का उल्लेख नहीं है फिर भी अन्य ग्रंथों में माल ले जाने तथा ले आने के लिए छोटी तथा लम्बी सड़कों का उल्लेख है।[५] देशी-नाममाला में रथ्य[६] (लम्बा मार्ग अथवा सड़क) और लघुरथ्य[७] (छोटी सड़क) का उल्लेख किया गया है। समरांगणसूत्रधर[८] में भी कई प्रकार की सड़कों का विवरण प्राप्त होता है जो नगर के बाहर जाती थी। बहुत से भूमि दान में दान दी गयी भूमि की सीमा बाँधने के ध्येय से लम्बी सड़कों का उल्लेख है।[९]

प्राचीन काल में यद्यपि सड़कें बहुत कम थीं और जो थीं भी वह अच्छी नहीं थीं। त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित[१०] में उल्लिखित है कि वर्षा के समय व्यापारियों को सड़कों से होकर चलना दूभर हो जाता था। उनके ऊँट फिसलकर गिर पड़ते थे। कीचड़ में बैल तथा खच्चर आदि फँस जाते थे। उपमितिभव प्रपंचा कथा[११] से पता चलता है कि सड़कें चौरस तथा समतल न होने के कारण उन पर

१. सम० क० ७, पृ० ६५६–६५८।
२. निशीथ चूर्णी ३; पृ० ५२७; ४, पृ० ११८; कुट्टनीमतम्, पंक्ति २१८–२९; उपमितिभव प्रपंचा कथा, पृ० ६६३, ८६३; कथाकोष, पृ० २०७; राजतरंगिणी ७, १००९।
३. संदेशरसक पंक्ति ११७—'मग्गुदुग्गमू सभाउ'।
४. दी लाइफ, पृ० ६०, ७३, ८६, १९८।
५. वैजयन्ती २, ३१–३३; अभिधानरत्नमाला, पंक्ति २८९।
६. देशीनाममाला, ३, ३१; ४, ८; ६, ३९; ७, ५५; ८, ६; १, १४५।
७. वही ३, ३१।
८. समरांगण सूत्रधर १, पृ० ३९, पंक्ति ६–१४।
९. कामरूप शासनावली, पृ० १८०।
१०. त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित १, पृ० ७।
११. उपमितिभवप्रपंचा कथा, पृ० ८६३—'विषम मार्गाः'।

यात्रा करना आसान काम नहीं था। त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित[1] में एक अन्य स्थान पर उल्लेख है कि एक सेना को अपने अभियान के समय मार्ग में पड़ने वाले वृक्षादि को काट कर सुगम पथ बनाना पड़ा था।

कहीं-कहीं यात्रियों की सुविधा के लिए नगर से बाहर मार्गों पर राज्य की ओर से पानी पीने का प्रबन्ध किया जाता था।[2] अबूजईद हसन ने लिखा है कि सड़कों के किनारे यात्रियों की सुविधा के लिए सराएँ बनवाई गयी थीं।[3] प्रबन्धचिंतामणि[4] में उल्लेख है कि बुद्धिमान तथा प्रजा पालक राजाओं द्वारा सड़कों पर यात्रियों की सुविधा के लिए सत्रागार (आरामदेह गृह) का निर्माण कराया जाता था। किन्तु समराइच्च कहा में ऐसा उल्लेख नहीं है।

ऊपर के विवरण एवं साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में निकटस्थ स्थानों को जाने वाले मार्गों में सुख-सुविधा थी; किन्तु दूरस्थ व्यापारिक केन्द्रों को जाने वाले मार्ग सुविधाजनक एवं सुरक्षित नहीं थे, क्योंकि यात्रियों को अधिकतर वन्य प्रदेशों तथा पहाड़ी स्थलों को पार करके जाना पड़ता था, जहाँ उनके जान-माल को खतरा पैदा हो जाता था।

व्यापार-सामग्री

समराइच्च कहा में हाथी दाँत का व्यापार, रस वाणिज्य, लाख, चँवर और विष वाणिज्य[5] का संकेत प्राप्त होता है। इसके साथ-साथ धन-धान्य, हिरण्य, सुवर्ण, मणि-मुक्ता-प्रवाल, द्विपद (पक्षी), चतुष्पद[6] (अर्थात अश्व, हस्ति, गाय, बैल, बकरी आदि चार पैर वाले पशुओं) के उल्लेख से भी स्पष्ट होता है कि इनका भी क्रय-विक्रय प्रादेशिक व्यापारिक केन्द्रों में होता था। निशीथ चूर्णी में व्यापारिक सामग्रियों को चार भागों में विभाजित किया गया है।[7] यथा—गणिम

---

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित ४, पृ० ३२५।
२. तिलक मंजरी, पृ० ११७।
३. अबू जईद हसन—ऐंसियन्ट एकाउन्ट्स आफ इंडिया एण्ड चाइना, पृ० ८७।
४. प्रबंधचिंतामणि, पृ० १०६।
५. सम०क० १, पृ० ६३।
६. वही, १, पृ० ३९।
७. निशीथ चूर्णी ४, पृ० १११—'सत्थ विहाणं पुण गणिमादि चउव्विधं गणिमं पूगफलादि धरिमं जं तुलाए दिज्जति खंडसक्करादि, मेज्जं घृत तुलादि, पारिच्छ रयणमोतियादि, १, पृ० १११; देखिए—बृहत्कल्पभाष्य वृत्ति ३, पृ० ८६४; नायाधम्म कहा, ८, पृ० ९८।

(गणना करने योग्य) पूगफल आदि, धरिम (जो तौली जा सके), खाँड़, शक्कर, पिप्पल आदि; परिमाप करने योग्य वस्तुएँ यथा—घी, चावल आदि और चौथी प्रकार की पारिच्छ (परीक्षण) करके क्रीत वस्तु यथा रत्न, हीरा, मोती आदि। अतः निशीथ चूर्णी के उल्लेख से पता चलता है कि कुछ व्यापारी तो केवल खाद्य सामग्री का ही व्यापार करते थे, यथा चावल, गेहूँ, तेल, मक्खन[1] आदि। पूर्वी भारत के कपड़े लाट देश में मँहगे दामों पर बेंचे जाते थे।[2] निशीथ चूर्णी में उल्लिखित है कि पिप्पली, हरिताल, मनोसिला, लवण आदि सामग्रियाँ सैकड़ों योजन दूर से मँगाई जाती थीं।[3]

वैदेशिक व्यापार-केन्द्र

समराइच्च कहा में उल्लिखित है कि तत्कालीन बड़े-बड़े भारतीय व्यापारी व्यापार के निमित्त भारत से बाहर जाया करते थे।[4] यहाँ के व्यापारी अधिक लाभ की लालसा से समुद्री मार्गों से होकर जलयानों द्वारा विभिन्न द्वीपों को जाया करते थे।[5] समराइच्च कहा के पात्र वैजयन्ती[6] तथा ताम्रलिप्ति[7] नामक प्रसिद्ध बन्दरगाहों से भारत के बाहर महाकटाह[8] द्वीप, चीन द्वीप[9], सिंहल द्वीप[10], सुवर्ण द्वीप[11] और रत्न द्वीप[12] आदि के लिए प्रस्थान करते थे।

इन द्वीपों व देशान्तर में वे अपने व्यापारिक माल बेंच कर यथेष्ट लाभ प्राप्त कर अपने देश के लिए उपयुक्त व्यापारिक सामग्री खरीद कर वापस आते

---

१. निशीथ चूर्णी ४, पृ० १११; बृहत्कल्पभाष्य वृत्ति ३, पृ० ८६४।

२. वही २, पृ० ९४, बृहत्कल्पभाष्य वृत्ति ४, पृ० १०६८।

३. वही ३, पृ० ५१६—हरितालमणोसिला जहा लोण—एते पिप्पलिमादिणो जोयण सतातो आगया वि जे हरीतकिमादिणो आतिण्णा ते घेप्पंति····; तथा बृहत्कल्पभाष्य वृत्ति २, पृ० ३०६।

४. सम०क० ५, पृ० ४९८।

५. वही ४, पृ० २४६, २५१, २६८; ६, ५३९–४०, ५४२–४३–४४, ५५१, ५५५; ७, ६१३।

६. वही ६, पृ० ५३९।

७. वही ४, पृ० २४०–४१–४२; ५, ३६७–६८, ६९; ७, ६५२–५३–५४।

८. वही ४, पृ० २५०, २५९; ५, पृ० ४२६–२७; ७, ६१३।

९. वही ६, पृ० ५४०, ५५१–५२, ५५५।

१०. वही ४, पृ० २५४; ५, ४०३, ४०७, ४२०।

११. वही ५, पृ० ३९७–९८; ६, पृ० ५४०, ५४३।

१२. वही, २, पृ० १२६; ६, ५४४–४५।

थे। कभी-कभी व्यापार की अनुमति प्राप्त करने के लिए वहाँ के राजा को भेंट आदि प्रदान करते थे जिससे वे (व्यापारी) कर-मुक्त हो जाते थे।[1]

अन्य स्रोतों से भी पता चलता है कि भारत का व्यापार बाह्य देशों से चला करता था। ६०७ ई० में चीनी सम्राट ने समुद्री मार्ग से ची-तु (स्याम) से व्यापारिक सम्बन्ध बनाने का सन्देश भेजा था।[2] ६५६–६५८ ई० में भारत के बहुत से प्रदेश यथा—चान-पो (चम्पापुर), कान-चिह-फो (कांचीपुर), सिह-ली-चुन (संभवतः चालुक्य राज्य) और मोलो (मलाया) आदि ने चीन देश से व्यापारिक समझौता के लिए अधिकारिक सम्बन्ध स्थापित किये थे।[3] बृहत्कथा मंजरी में उल्लिखित है कि भारतीय व्यापारी कटाक्ष द्वीप (संभवतः कटाह द्वीप) को जाते थे।[4] बृहत्कथा श्लोकसंग्रह तथा कथाकोष[5] में भारतीय व्यापारियों द्वारा सुवर्ण द्वीप जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। हरिषेण द्वारा रचित बृहत्कथा कोष में भारतीय व्यापारियों द्वारा सुवर्ण द्वीप[6] तथा रत्नद्वीप[7] जाने का उल्लेख है।

कथा-सरित्सागर की कहानियों में सुवर्ण द्वीप तथा कटाह द्वीप से व्यापार का वर्णन प्राप्त होता है और उस कहानी का एक पात्र अपने पुत्र तथा छोटी बहन को खोजने के लिए नारिकेल द्वीप, कटाह द्वीप, सुवर्ण द्वीप और सिंहल-द्वीप को जाने वाले व्यापारियों से मिलता है।[8] सातवीं शताब्दी में धर्मपाल नामक बौद्ध भिक्षु ने बंगाल से सुवर्ण द्वीप को प्रस्थान किया था।[9]

फाहियान के समय में ताम्रलिप्ति से सुमात्रा जाने के लिए एक जहाज लंका आया था।[10] कथासरित्सागर[11] में भी भारतीय व्यापारियों द्वारा लंका

---

१. सम० क० ६, पृ० ५०९, ५५१, ५६२; देखिये—ज्ञाताधर्मकथा, ८, पृ० १०२ तथा—प्रतिपाल भाटिया—परमाराज, पृ० ३०४।
२. चाऊ जु-कुआ, पृ० ७–८।
३. जर्नल आफ दी मलाया ब्रांच आफ दी रायल एशियाटिक सोसायटी ३२, भाग २, पृ० ७४–७५।
४. बृहत्कथा मंजरी २, पृ० १८३।
५. बृहत्कथा श्लोकसंग्रह १८, ४२८; कथाकोष, पृ० २९।
६. बृहत्कथा कोष ५३, ३।
७. वही ७८, ४२।
८. आर० सी० मजूमदार–सुवर्ण द्वीप १, पृ० ३७–३८, ५१–५२।
९. इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली १३, ५९३, ५९६।
१०. लीग, पृ० १००।
११. कथासरित्सागर (टानी), ६, पृ० २११।

जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। आठवीं शताब्दी में लंका के एक अभिलेख में भारतीय व्यापारियों द्वारा लंका से व्यापार किये जाने का उल्लेख है।[1]

ताम्रलिप्ति नामक प्रसिद्ध बन्दरगाह से सुवर्ण द्वीप, कटाह द्वीप आदि को भारतीय व्यापारिक जहाज आते-जाते थे।[2] ताम्रलिप्ति के अलावा भारत के पूर्वी तट पर पाटमपुरी, कलिंग अथवा कलिंग पाटम, चिकाकोल, वानपुर और रामेश्वर आदि बंदरगाह व्यापार के केन्द्र माने जाते थे।[3]

वैदेशिक व्यापार-सामग्री

समराइच्च कहा के पात्र विभिन्न द्वीपों में व्यापार के योग्य निर्यात की जाने वाली वस्तुएँ लेकर जाते थे। समराइच्च कहा में व्यापारियों द्वारा भाण्ड ले जाने का उल्लेख है।[4] ये भाण्ड विभिन्न धातुओं-सिक्कों एवं अन्य प्रकार की सामग्रियों के होते थे। स्वर्ण भाण्ड[5], रत्न भाण्ड[6] आदि से स्पष्ट होता है कि बाहरी देशों से स्वर्ण, रत्न, मणि-मुक्ता आदि का आयात होता था। रत्नद्वीप से रत्न तथा सुवर्ण भूमि से स्वर्ण प्राप्ति का वर्णन इस बात को सिद्ध करता है कि उन-उन द्वीपों से क्रमशः रत्न और स्वर्ण का आयात होता था। समराइच्च-कहा में इस बात का उल्लेख नहीं किया गया है कि कौन-कौन-सी वस्तुओं का आयात-निर्यात होता था।

इब्नखुरदद्‌व ने भारत से निर्यात की जाने वाली विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उल्लेख किया है, यथा-मुसव्बर की लकड़ी, चंदन की लकड़ी, कपूर और कपूर का पानी, जायफल, नारियल, साग-सब्जियाँ, मखमल तथा सूती वस्त्र, एवं हाथी दांत के बने सामान आदि।[7] मार्कोपोलो के अनुसार भारतीय व्यापारी अपने साथ मसाले, कीमती पत्थर, मोती, सिल्क के कपड़े और सोना आदि व्यापारिक सामग्री लेकर चलते थे।[8] मार्कोपोलो आगे लिखता है कि भारत-चीन देश से सिल्क के कपड़े तथा सोना आदि प्राप्त करता था।[9] भार-

---

१. जर्नल ऑफ दी एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल १९३५, पृ० १२।
२. बृहत्कथा श्लोकसंग्रह १८, १७६; बृहत्कथा मंजरी २, १८३।
३. टी० सी० दास गुप्त—एस्पेक्ट आफ बंगाली सोसायटी, पृ० ३०।
४. सम० क० ४, पृ० २४०-४१-४२, २४७, २८६-८७।
५. वही ४, पृ० २८३; ६, ५५१, ५५८, ५६१।
६. वही ६, पृ० ५८६-८७।
७. फेरण्ड टेक्स्ट्स, पृ० ३१।
८. मार्कोपोलो १, १०७।
९. वही २, ३९०; २, २४, १३२, १५२, १५७, १७६, १८१।

तीय साहित्यों में भी चीनी सिल्क (चीनांशुक) का उल्लेख मिलता है।[१] वैजयन्ती में भी चीनपट्ट[२] का उल्लेख है। एक तामिल अभिलेख (ग्यारहवीं शदी का) में उल्लिखित है कि दक्षिणी भारत को चीन देश से सोना प्राप्त होता था।[3] मार्कोपोलो के अनुसार विदेशी व्यापारी जो आते थे वे अपने साथ सोना, चाँदी, ताँबा आदि ले आते थे।[४] वैजयन्ती के अनुसार भी सुवर्ण द्वीप को सोने का केन्द्र माना जाता था और वहाँ से भारत के लिए सोना आता था।[५] तिलकमंजरी में उल्लिखित है कि उपर्युक्त द्वीपों में मणिरत्नों की खान, सोना, चाँदी और मोती आदि का उद्गम स्थान है।[६]

सामुद्रिक व्यापार-वाहन

समराइच्च कहा में यान पात्र[७] (जलयान) का उल्लेख कई बार किया गया है। इन जलयानों (समुद्री जहाज) द्वारा भारतीय व्यापारी चीन द्वीप, सिंहल द्वीप, सुवर्ण द्वीप तथा महाकटाह द्वीप आदि बाह्य देशों को जाते तथा व्यापार करके वापस लौट आते थे। निशीथ चूर्णी में चार प्रकार के जलयानों का उल्लेख है जिनमें एक सामुद्रिक मार्गों को तय करने के लिए प्रयुक्त समझा जाता था[८] तथा अन्य तीन समुद्र के किनारे तथा नदियों व झीलों के लिए प्रयुक्त थे।[९] प्रथम प्रकार का यान सबसे बड़ा जलयान[१०] था जो सामुद्रिक रास्तों से देश-विदेश को आया-जाया करता था। इन जहाजों को रोकने के लिए लंगर[११] का प्रयोग किया जाता था। ये जलयान पालों के सहारे हवा के वेग से चलाए

१. कुट्टनीमतम् पंक्ति ६६, ३४४; नैषधीय चरित—२१, २।
२. वैजयन्ती, पृ० ४३, १, ६०।
३. जर्नल ऑफ दी नुमिस्मेटिक सोसायटी आफ इंडिया, २०, १३।
४. मार्कोपोलो २, ३९५, ३९८।
५. वैजयन्ती, पृ० ४२, १।२१।
६. तिलक मंजरी, पृ० १३३।
७. सम० क० ४, पृ० २४६, २५१, २६८; ६, ५३९-४०; ५४२-४३-४४, ५५१–५५५।
८. निशीथ चूर्णी १, ६९—'वारिणी णावातारिमे उदगे चउरो।'
९. वही ९, पृ० ६९।
१०. वही १, पृ० ६९; ज्ञातृधर्मकथा ९, १२३; १७; पृ० २०१।
११. सम० क० ४, पृ० २४६–४७; ६. ५३९-४०; ज्ञातृ धर्म कथा ८, पृ० ९८; आचारांग २।३, १।३४२।

जाते थे।[1] उनमें पतवार तथा डंडे भी लगे रहते थे।[2] इन जलयानों के चालकों को निर्यामक कहा जाता था।[3] कभी-कभी समुद्री तूफानों में ये यान भग्न हो जाते थे और यात्रियों को काफी नुकसान उठाना पड़ता था; वे स्वयं फलकों (लड़की के पटरें) आदि की सहायता से किसी प्रकार बच कर बाहर निकल पाते थे।[4]

समुद्र में तैरने वाले जहाजों को नाव[5], पोत[6], प्रवहण[7], अथवा यानपट्ट[8] कहा जाता था। जैन ग्रन्थ अंगविज्जा में प्राचीन भारत में चार प्रकार के जहाजों का उल्लेख है।[9] इनमें नाव और पोत सबसे बड़े जहाज माने जाते थे। कोत्थिम्ब, संघाड़, प्लावा और तप्पक आदि कुछ छोटी थी, कत्थ और वेल उनसे कुछ छोटी तथा तुम्बा, कुम्भा और दाति आदि सबसे छोटी आकार की जहाजें थीं।[10] साक्ष्यों से पता चलता है कि भारतीय जहाज चीन के जहाजों से छोटे होते थे।[11]

प्राचीन काल में भारतीय व्यापारी व्यापार के निमित्त यात्रा प्रारम्भ करने के पूर्व दान आदि के साथ गुरु-देवता तथा जलनिधि की पूजा अर्चा भी किया करते थे।[12] यात्रा करते समय समुद्री मार्गों में उन व्यापारियों को बड़े-बड़े तूफानों

---

१. सम० क० ४, पृ० २४६-४७; ६, ५३९-४०; ज्ञातृधर्म कथा ८, पृ० ९८।

२. आचारांग २।३, १।३४२ में अलित्त (डंडा), पीटय (पतवार), वंस (बांस), वलय और रज्जु का भी उल्लेख है।

३. सम क० ६, पृ० ५४०; देखिए—आवश्यक चूर्णी, पृ० ५१२; निशीथ चूर्णी ३, पृ० ३७४।

४ वही ४, पृ० २५३, ७, ७१३; देखिए–निशीथ चूर्णी ३, पृ० २६९; वृहत्कल्प भाष्यवृत्ति ५, पृ० १३८८; ज्ञातृधर्म कथा ९, पृ० १२३; यशस्तिलक, पृ० ३४५ उत्तर०।

५. निशीथ चूर्णी १, पृ० ६९।

६. वही ४, पृ० ४००।

७. वही ३, पृ० १४२।

८. वही ३, पृ० २६९।

९. वासुदेवशरण अग्रवाल—इंट्रोडक्शन आफ सार्थवाह, पृ० १०।

१०. वही पृ० १०।

११ मार्कोपोलो–२, पृ० ३९१।

१२. सम० क० ४, पृ० २४६-४७; ६, पृ० ५३९-४०; देखिए ज्ञातृधर्म कथा ८, पृ० ९७।

का सामना करना पड़ता था। तूफान के समय ये जलयान काबू के बाहर हो जाते थे तथा नाविक और यात्री घबड़ा जाते थे।[१] कभी-कभी तो उनके जहाज टूट जाते थे तथा सब व्यापारिक सामग्री आदि नष्ट हो जाती थी।[२]

शिल्प

समराइच्च कहा में तत्कालीन भारतीय शिल्पों के भी कुछ नाम आये हैं। ये शिल्पी अपने हस्त कौशल के सहारे अपनी जीविका चलाते थे। आदि पुराण में भी हस्त कौशल को शिल्प कर्म कहा गया है।[३] अपने हस्तकौशल के बल पर अपना जीवन निर्वाह करने वालों में बढ़ई, लुहार, कुम्हार, सुनार, चमार, जुलाहा आदि मुख्य थे। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में 'शिल्पी' शब्द की व्याख्या करते हुए स्नायक, संवाहक, अरन्तरक, रजक, मालाकार आदि को तो शिल्पी कहा है इसके साथ-साथ उबटन बनाना, सुगंधित चूर्ण तैयार करना, चन्दन द्रव तैयार करना, कस्तूरी एवं कुंकुम आदि के द्वारा विभिन्न प्रकार के चूर्ण तैयार करना शिल्पियों का ही कार्य था।[४] समाज में आर्थिक दृष्टिकोण से इन शिल्पियों का अत्यधिक उपयोग समझा जाता था। समराइच्च कहा में यद्यपि शिल्प के विषय में तो कुछ उल्लेख नहीं मिलता किन्तु कुछ शिल्पियों का नाम अवश्य आया है जिनका विवरण अधोलिखित ढंग से प्राप्त होता है।

सुवर्णकार[५]—ये सोने, चांदी आदि धातुओं द्वारा विभिन्न प्रकार के आभूषण तैयार करते थे। ये लोग स्वर्ण आदि धातुओं के विशेषज्ञ होते थे। महाभाष्य में सुवर्ण को एक बार तपाने की क्रिया के लिए 'निष्टपति सुवर्ण सुवर्णकारः' किन्तु बार-बार तपाने के लिए 'निस्तपति' का उल्लेख हुआ है।[६] अतः स्पष्ट होता है कि पहले स्वर्ण को तपा लिया करते थे और तत्पश्चात् उससे आभूषण आदि तैयार करते थे।

चित्रकार[७]—चित्रकार भी एक प्रकार के शिल्पी थे। वे अपनी चित्रकारिता का प्रदर्शन मकानों, वस्त्रों और बर्तनों आदि पर किया करते थे।

---

१. सम० क० ६, पृ० ५४०; देखिए—ज्ञातृधर्म कथा ७, पृ० २०१।
२. वही ४, पृ० २५३; ७, पृ० ७१३; ज्ञातृधर्म कथा ९, पृ० १२३।
३. आदि० १६।१८२ (शिल्पं स्यात्कर कौशलम्)।
४. अर्थशास्त्र—चौखम्बा प्रकाशन, १९६२, पृ० ५१४।
५. सम० क० पृ० ५६०; देखिए—जम्बू दीप प्रज्ञप्ति ३, पृ० ४३; रामायण—२, ८३, ११–१४।
६. पतंजलि महाभाष्य, ८, ३, १०२।
७. सम० क० ७, पृ० ७३९; देखिए—जम्बूदीप प्रज्ञप्ति ३, ४३; ज्ञातृ धर्म कथा, ८, पृ० १०५॥

लोहार—समराइच्च कहा में लोहे की वस्तुओं, यथा लोह पिंजर, लौह-शृंखला, लोहे की कील[१] आदि के उल्लेख से लोहारों के व्यवसाय का अनुमान लगाया जा सकता है। लुहार खेती के योग्य हल, कुदाली, लकड़ी काटने का फरसा, आदि बना कर बेंचते थे।[२] लोहे से स्पात बनाया जाता था और उससे अनेक औजार, हथियार, कवच आदि तैयार किये जाते थे। बृहत्कल्पभाष्य[3] में उल्लिखित है कि इस्पात से साधुओं के उपयोग आने वाले छुरा, सुई, आरा, नहनी आदि बनाये जाते थे। लोहे की भट्टियों में कच्चा लोहा पकाया जाता था। गर्म एवं जलते हुए लोहे को सड़मी से पकड़ कर उठाया जाता था और फिर नेह[४] (अहिकरिणी) पर रख कर कूटा जाता था। इस प्रकार लोहे को हथौड़े से कूट, पीट एवं काट कर उपयोगी वस्तुएँ तैयार की जाती थीं।

कुम्भकार—फोडिय कम्भ[५] अर्थात् वासन या वर्तन (मिट्टी के) बना कर बेचने वाले कुम्भकारों को भी शिल्पकारों की श्रेणी में रखा जाता था। इन्हें कुलाल भी कहा जाता था। कुम्भ (घड़ा) बनाने के कारण इन्हें कुम्भकार कहा जाता था।[६] जिसे घट की आवश्यकता पड़ती थी वह कुम्हार के घर जा कर घट बनाने का आदेश देता था।[७] बड़े-बड़े मटके चतुर कुलाल ही बना सकता था, जिसे महाकुम्भकार कहते थे।[८] वह बाद्यों के साँचे आदि तैयार करता था।[९] कुलाल द्वारा बनाये गये पात्रों को कौलालक कहते थे।[१०] अन्य ग्रंथों में भी कुम्भकार द्वारा रचित घड़े, कलम आदि का उल्लेख प्राप्त होता है।[११] पण्यशाला में वर्तनों की बिक्री की जाती थी, भाण्डशाला में उन्हें इकट्ठा करके रखा जाता था, कर्मशाला में उन्हें तैयार किया जाता, पचनशाला में उन्हें

---

१ समा० क० ३, पृ० २०८; ४, पृ० ३०९, ३१९, ३४३; ७, पृ० ६६३; ९, पृ० ९२६।

२ उत्तराध्ययन सूत्र, १९–६६; आवश्यक चूर्णी, पृ० ५२९।

३. बृहत्कल्पभाष्य, १।२८८३।

४. व्याख्या प्रज्ञप्ति, १, १६।१।

५. समा० क० १, पृ० ६२–६३; देखिए—रामायण २, ८३, ११–१४।

६. पतंजलि महाभाष्य १, ३, ३, पृ० २३।

७. आपिशल शिक्षा १, पृ० १७।

८. पतंजलि महाभाष्य ३, १, ९२, पृ० १६७।

९. वही ४, ४, ५५, पृ० २५९।

१०. पतंजलि महाभाष्य ४, ३, ११६, पृ० २५०।

११. उपासक दशा ७, पृ० ४७–४८; अनुयोग द्वार सूत्र १३२, पृ० १३९।

पकाया जाता और इंधन शाला में बर्तन पकाने के लिए घास, गोबर आदि संचित किये जाते थे।[१]

रजक—समराइच्च कहा में इन्हें वस्त्र-शोधक[२] कहा गया है। महाभाष्य में एक स्थान पर रजक, रजन और रज शब्दों की निष्पत्ति बतलायी गयी है।[3] जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में भी रजक (धोबी) का उल्लेख किया गया है।[४]

कार्पटिक[५]—समराइच्च कहा में कार्पटिक नामक शिल्पी का भी उल्लेख प्राप्त होता है। संभवतः ये लोग दरी, गलीचा आदि विभिन्न प्रकार के मोटे एवं सुन्दर कपड़े बनाकर बेचते थे।

आजीविका के अन्य साधन

समराइच्च कहा में जैनाचरण का पालन करने वाले लोगों के लिए अधो-लिखित पन्द्रह प्रकार के कर्मों को वर्जित किया गया है, जिससे स्पष्ट होता है कि सामान्य लोगों में ये कर्म आजीविका के साधन के रूप में गिने जाते थे। जैन ग्रंथ भगवती सूत्र में इन पन्द्रह प्रकार के कर्मों का उल्लेख है जो जैनाचार के लिए वर्जित थे। धर्म शास्त्रों में मुख्यतया ब्राह्मणों के लिए इन कर्मों में कुछ की मनाही की गयी है जिनका उल्लेख अधोलिखित ढंग से है।

इंगालकम्म[६]—कोयला, इंट आदि बनाकर बेचने वाला कर्म इंगालकम्म कहा जाता था।

वणकम्म[७]—जंगल आदि में वृक्षों से लकड़ियाँ काटकर तथा उसे बेचकर आजीविका चलाना वणकम्म कहा जाता था। याज्ञवल्क्य स्मृति[८] में ब्राह्मणों को आपत्ति काल में वृक्ष, झाड़-झंखाड़ तथा लकड़ी आदि का व्यवसाय करने की छूट दी गयी है।

भाडियकम्म[९]—भाड़े पर घोड़े, गाड़ी, खच्चर और बैल आदि से बोझा

१. निशीथ भाष्य १६।५३, ९०; बृहत्कल्पभाष्य २, ३४४४।
२. सम० क०, १, पृ० ५१; देखिए—रामायण—२. ८३. ११–१४ में रजक; तथा महाभारत-अनुशासन पर्व में 'धोबी'।
३. पतंजलि महाभाष्य ६, ४, २४, पृ० ४०८।
४. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति ३, ४३।
५. सम० क० ४, पृ० २५७, २८५।
६. वही १, पृ० ६२–६३; देखिये—भगवती सूत्र८।५।३३०।
७. वही १, पृ० ६२–६३; भगवती सूत्र ८।५।३३०।
८. याज्ञवल्क्य स्मृति ३।४२।
९. सम० क० १, पृ० ६२–६३; भगवती सूत्र ८।५।३३०।

ढोकर आजीविका चलाना । गौतम ने तो ब्राह्मणों को भेंड़-बकरियाँ, घोड़े, बैल आदि को बेचने तक की मनाही की है और बताया है कि ऐसा करने पर व्यक्ति तत्क्षण पापी हो जाता है ।[१]

दंत वाणिज्य[२]—हाथी दांत आदि का व्यवसाय करना ।

लक्ख वाणिज्य[३]—लाख (लाह) का व्यापार कर आजीविका चलाना । कालिका पुराण में भी शूद्र तक को मधु, चर्म, लाक्षा (लाह), आसव एवं मांस को छोड़कर सब कुछ क्रय-विक्रय की छूट दी गयी है ।[४] मनु के अनुसार लाह बेचने वाला ब्राह्मण पापी हो जाता है ।[५]

केशवाणिज्य[६]—केश का व्यापार अर्थात् भेड़-बकरियों के बाल काट कर बेचना जिससे कम्बल आदि बनाये जाते थे । गौतम ने तो आचार्य ब्राह्मणों को भेंड़-बकरियाँ तक को बेचने की मनाही की है ।[७]

रसवाणिज्य[८]—दूध-दही, मधु, मक्खन आदि को बेंचकर जीवन-यापन करना । कालिका पुराण में शूद्र को भी मधु, आसव आदि बेंचना वर्जित किया गया है ।[९] गौतम ने भी ब्राह्मणों को दूध-दही, मधु आदि को बेचने के लिए मना किया है ।[१०]

विष वाणिज्य[११]—विषाक्त वस्तुओं का व्यवसाय । यहाँ भी गौतम ने ब्राह्मणों को विषैली औषधियाँ बेचने के लिए मना किया है ।[१२]

निल्लछण कम्म[१३]—शरीर के अंगों (नाक-कान आदि) को छेद कर आजीविका कमाने वाला कर्म ।

---

१. गौतम ७।१५ ।
२. सम० क० १, पृ० ६२–६३; भगवती सूत्र ८।५।३३० ।
३. वही १, पृ० ६२–६३; देखिये—भगवती सूत्र ८।५।३३० ।
४. पी०वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० १४८ ।
५. मनु० १०।९२ ।
६. सम०क० १, पृ० ६२–६३; भगवती सूत्र ८।५।३३० ।
७. गौतम० ७।१५ ।
८. वही १, पृ० ६२–६३; भगवती सूत्र ८।५।३३० ।
९. पी०वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० १४८ ।
१०. गौतम ७।८–१४ ।
११. सम०क० १, पृ० ६२–६३; भगवती सूत्र ८।५।३३० ।
१२. गौतम ७।८–१४ ।
१३. सम० क० १, पृ० ६२–६३; भगवती सूत्र ८।५।३३० ।।

जन्तपीलण कम्म[१]—कोल्हू आदि चलाने का व्यवसाय।

दावग्गि दावणय कम्म[२]—जंगल आदि जलाने के लिए आग लगाना या लगवाना।

असइपोषण[३]—कुत्ता, बिल्ली आदि पशु तथा दास-दासी आदि पाल कर बेचना या भाड़े से आय कमाना। गौतम ने भी पशु तथा मनुष्य (दास) आदि का व्यवसाय करना अनैतिक माना है।[४]

सागडि कम्म[५]—गाड़ी जोत कर आजीविका चलाने वाला कर्म। गौतम ने गाड़ी जोतना तो दूर रहा, गाड़ी में जोतने वाले बैल को भी बेचना आचार्य ब्राह्मणों के लिए वर्जित बताया है।[६]

सरदह तलायस्सोसणाय[७]—तालाब, दह आदि सुखा कर आय प्राप्त करने वाला कर्म। गौतम ने भी मधु-मांस, विषैली वस्तुओं के साथ ही जल का व्यवसाय करना ब्राह्मणों के लिए वर्जित बताया है।[८]

गारुड़िया[९]—गारुड़िक मंत्र आदि जानने वाले गारुड़िया कहे जाते थे। ये लोग भयंकर से भयंकर विषैले सर्पों के काट लेने पर मंत्रौषधि आदि का उपचार कर लोगों को ठीक करते तथा उसी से अपनी जीविका चलाते थे।

पालतू-पशु

समराइच्च कहा में हिरण्य-सुवर्ण, मणि-मुक्ता आदि के साथ-साथ द्विपद अर्थात् पक्षी, चतुष्पद अर्थात् जानवरों (पालतू तथा जंगली दोनों) को भी सम्पत्ति की श्रेणी मे गिना गया है।[१०] वैदिक काल में पशु को एक प्रधान धन माना जाता था। ऋग्वेद में कहा गया है कि मानव, अश्व, और गौ के मांस भक्षी का सिर कुचल दो।[११] उस समय ग्राम्य पशुओं में गाय, भैंस, बकरी, भेंड़

---

१. सम० क० १, ६२–६३; भगवती सूत्र ८।५।३३०।
२. वही १, पृ० ६२–६३; भगवती सूत्र ८।५।३३०।
३. वही १, पृ० ६२–६३; भगवती सूत्र ८।५।३३०।
४. गौतम ७।८–१४; भगवती सूत्र ८।५।३३०।
५. सम० क० १, पृ० ६२–६३; भगवती सूत्र ८।५।३३०।
६. गौतम ७।१५।
७. सम० क० १, पृ० ६२–६३; भगवती सूत्र ८।५।३३०।
८. गौतम। ७-८, १४
९. सम० क० २, पृ० १३२; ४, पृ० २५५।
१०. वही १, पृ० ३९; ८, पृ० ७३४–३५।
११. ऋग्वेद ८, ४, १८।

घोड़ा, कुत्ता और सुअर यज्ञ-पशु थे। शतपथ ब्राह्मण में आया है कि 'कतमो प्रजापतिरिति, यज्ञरिति, कतमो यज्ञरिति पशुरिति' अर्थात् प्रजापति क्या है ? प्रजापति यज्ञ है। यज्ञ क्या है ? पशु ही यज्ञ है। यहाँ पशु की महत्ता बताते हुए उसे यज्ञ और प्रजापति कहा गया है।[१]

समराइच्च कहा में निम्नलिखित पालतू पशुओं का उल्लेख प्राप्त होता है—

गाय[२]—गाय से दूध प्राप्त किया जाता था तथा उसके बछड़े बड़े होकर हल खींचते थे। वैदिक काल में गाय को सर्वाधिक महत्व प्राप्त था।[३] महाभाष्य में आया है कि देवदत्त धनी है, क्योंकि उसके पास गो, अश्व और हिरण्य हैं।[४] उपाध्यायों व गुरुओं को श्रद्धा की प्रतीक गाय भेंट में दी जाती थी।[५] किसी किसी परिवार के पास तो सहस्रों गायें होती थीं।[६] प्राचीन काल में गाय, बैल, भैंस, भेंड़ आदि राज्य की बहुमूल्य संपत्ति समझे जाते थे।[७]

बैल[८]—महाभाष्य में आगे चल कर श्रेष्ठ बैल बनने वाले बछड़े को आर्षभ्य[९] कहा गया है। अच्छे बैल वे माने जाते थे जो गाड़ी और हल दोनों खीचने के काम आते थे।[१०] बैल रथ भी खींचते थे।[११]

---

१. श्रीचन्द्र जैन—हमारे पशु-पक्षी, पृ० ४१
२. सम० क० ३, १९२; ४, ३४७-४८; ८, ७३४-३५; ९, ९३८; देखिए—यन० सी० वन्द्योपाध्याय—एकोनामिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन ऐंसियन्ट इंडिया, पृ० १३९-४०।
३. ऋग्वेद—८, ४, १८; तथा देखिए- श्रीचन्द्र जैन—हमारे पशु-पक्षी, पृ० ३५।
४. महाभाष्य, १, ३, ९, पृ० २८, 'देवदत्तस्य गावोऽश्वा हिरण्यं च। आढ्यो-वैधवेयः।'
५. वही १, ४, ३२, पृ० १६७।
६. वही २, १, ५१, पृ० ३०५।
७. औपपातिक सूत्र ६; तथा हरिभद्र—आवश्यक टीका, पृ० १२८।
८. सम० क० २, पृ० १३५, १५२; ४, पृ० ३४७; देखिए औपपातिक सूत्र—६; आवश्यक—टीका, पृ० १२८।
९. महाभाष्य ५, १, १३, पृ० ३०५।
१०. वही ५, ३, ५५, पृ० ४४५ गौरयं शकटं वहति। गोतरोऽयं यः शकटं वहति सीरं च।
११. वही २, २, २४, पृ० ३३६।

भैंस-महिष[1]—समराइच्च कहा में महिष को अरण्य तथा पालतू दोनों प्रकार का पशु कहा गया है। किन्तु ये प्रायः अरण्य पशु ही थे। कहीं-कहीं इनके पाले जाने का भी संकेत प्राप्त होता है। तरुण भैंसों को, जिनके सींग निकल रहे हों, कटाह कहते थे।[2] अन्य जैन ग्रन्थों में भैंस भी गाय, बैल, भेंड़, बकरी की भाँति राज्य की बहुमूल्य सम्पत्ति समझी जाती थी।[3]

बकरा-बकरी[4]—आवश्यक चूर्णी में भी भेंड़, गाय आदि के साथ ही बकरी को भी दूध देने वाला पशु बताया गया है।[5] अजा को कृषकों का धन माना गया है।[6] भेंड़-बकरियों का प्रमुख उपयोग ऊन और मांस के कारण होता था। गो और अज दोनों को यज्ञों में बलि दी जाती थी।[7] इन्द्र और अग्नि को छाग की हवि देने का उल्लेख है।[8]

भेंड़[9]—जैन ग्रन्थों में इसे भी राज्य की सम्पत्ति समझा गया है।[10] गाय, भैंस की तरह इसका दूध भी उपयोग में आता था।[11] भेंड़ के दूध को अविसोढ, अविदूस या अविमरीस कहते थे।[12] भेंडों के बैठने को अविपट तथा उनके समूह को अविकट कहते थे।[13]

---

१. सम० क० २, पृ० १३५; ४, ३१६, ३१८, ३२३, ३४७-४८; ६, ५१०, ५३०; देखिए—एन० सी० बन्द्योपाध्याय—एकोनामिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन एंशियन्ट इंडिया, पृ० १४७।

२. महाभाष्य १, १, २२, पृ० २०६; तथा ४, २, ८७, पृ० १९६।

३. औपपातिक सूत्र ६; तथा हरिभद्र—आवश्यक टीका, पृ० १२८।

४. सम० क० ३, पृ० १८३; ४, ३१४, ३२३; ६, ५३०; देखिए—श्रीचन्द्र जैन—हमारे पशु पक्षी, पृ० ३२।

५. आवश्यक चूर्णी २, पृ० ३१९।

६. महाभाष्य १, १, ४६, पृ० २८० (अजाविधनौ देवदत्त-यज्ञदत्तौ न ज्ञायते कस्याजाधनं कस्याविधनं इति)।

७. वही ४, १, ९२, पृ० १५५ (गोरनुबन्ध्योऽजोग्निषोमीयः)।

८. वही २, ३, ६१, पृ० ४४८।

९. सम० क० ४, पृ० २७९।

१०. औपपातिक सूत्र ६; तथा हरिभद्र—आवश्यक टीका, पृ० १२८।

११. आवश्यक चूर्णी २, ३१९।

१२. महाभाष्य ४, २, ३६, पृ० १७७।

१३. वही ५, २, २९, पृ० ३७६।

गर्दभ[1]—उष्ट्र के समान खर (गर्दभ) भी भार वाहन एवं शकट वाहन के लिए पाला जाता था। महा भाष्य में गर्दभ द्वारा खींचे जाने वाले शकट को गर्दभ नाम दिया गया है।[2] गोशाल की भांति खरशाल[3] का भी उल्लेख प्राप्त होता है। गर्दभ अरण्यक भी थे।[4]

खच्चर[5]—यह अरण्य पशु के साथ-साथ पालतू भी था। प्रज्ञापना सूत्र में इसे अश्वतर कहा गया है।[6] यह भी एक भार वाहक पशु था।

कुत्ता[7]—कुत्ता भी एक पालतू पशु था। ऋग्वेद में माता-पिता तथा नौकरों के साथ कुत्ते के कल्याण की कामना की गयी है।[8] ऊंची नस्ल के कुत्ते को कौलेयक कहते थे।[9] महाभाष्य में उल्लिखित है कि कुत्ता इक्षु (ईख) के खेतों को शृंगाल के खाने से बचाता था।[10] श्वान और वाराह की शत्रुता को श्ववराहिका[11] कहते थे। कुत्तों के रहने के स्थान को गोष्ठश्व कहते थे।[12] कुछ निम्न श्रेणी के लोग कुत्ते का मांस भी खाते थे।[13]

बिल्ली[14]—यह भी एक ग्राम्य जीव था जो पाला भी जाता था तथा बिना पाले भी बस्ती में रहता था। भाष्यकार के अनुसार यह चूहे मारता था।[15] मोटा मर्जार स्थूलोतु कहलाता था।[16]

---

१. सम० क० १, पृ० ५४; २, पृ० १३५; देखिये—महाभाष्य—८, ३, ३३, पृ० ३५४।
२. महाभाष्य ४, ३, १२०।
३. वही ४, ३, ३५।
४. वही २, १, ६९, पृ० ३२३।
५. सम० क० ६, पृ० ५०६।
६. प्रज्ञापना सूत्र १।३४।
७. सम० क० १, ५४; ४, ३०८, ३२३; ७, पृ० ७११; ८, ८२९; ९, पृ० ९१९, ९२३, ९२५।
८. ऋग्वेद ७।५५।५।
९. महा० ४, २, ९६, पृ० २०२।
१०. वही ३, ४, १२, पृ० ४६७।
११. वही ४, २, १०४, पृ० २१०।
१२. वही ४, २, ७७, पृ० ५०४।
१३. वही ३, १३४, पृ० १९७।
१४. सम० क० ४, पृ० ३२०; ६, पृ० ५७८।
१५. महा० ३, २, ८४, पृ० ३३४।
१६. वही ६, १, ९४, पृ० १५१।

शरभ:—[1] समराइच्च कहा में इसे एक जंगली पशु बताया गया है। प्रज्ञापना सूत्र में इसे अरण्य पशु के रूप में उल्लिखित किया गया है।[2] सम्भवतः यह आठ पैर वाला तथा सिंह से बलवान जन्तु था।

अश्व:—[3] वैदिक काल में गाय के साथ अश्व को भी महत्त्व दिया जाता था तथा उसके मांस भक्षी का सिर काट देने का निर्देश है।[4] समराइच्च कहा में घोड़ों की कई जातियों का उल्लेख मिलता है, यथा-तुरुक्क, वाल्हीक, कम्बोज और बज्जरा[5] आदि। यह रथ में जोता जाता था। महाभाष्य में उल्लिखित है कि साधारण अश्व दिन में चार योजन तथा अच्छी नस्ल का अश्व आठ योजन चलता था।[6] घोड़े के सवार को अश्ववार कहते थे।[7] अश्वों से युक्त रथ को अश्वरथ कहते थे।[8] अश्व युद्ध में भी काम आते थे।[9] अश्वशाला को मन्दुरा कहते थे।[10] पतंजलि के समय में सिंध देश के घोड़े प्रसिद्ध थे। इसलिए घोड़े का सामान्य नाम सैन्धव[11] हो गया था।

हस्ति[12]—समराइच्च कहा में घोड़ों के साथ-साथ हस्तियों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। भद्र और मन्द जाति के हाथी श्रेष्ठ समझे जाते थे।[13] यह राजा-महाराजा अथवा धनी-सम्पन्न लोगों की सवारी के काम आता था। गज

१. सम० क० ४, पृ० ३४७।
२. प्रज्ञापना सूत्र १।३४; देखिये, आप्टे—संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० १००५,—"अष्टपादः शरभः सिंहघाती।"
३. सम० क० २, पृ० १००; ४, पृ० ३१९,३२६, ४, पृ० ३६५; ७,पृ० ६५५; ८, पृ० ७८४,८२३; ९, पृ० ९७१।
४. ऋग्वेद ८।४।१८।
५. सम० क० १, पृ० १६,२, पृ० १००।
६. महाभाष्य ५,३,५५, पृ० ४८६(अश्वोऽयं चत्वारि योजनानि गच्छति।
७. वही ८,२,१८, पृ० ३४२।
८. वही २,१;३४, पृ० २८७।
९. वही १,७,७२, पृ० ४४७।
१०. वही १,१,३, पृ० १०९।
११. वही १,१,४, पृ० २७४।
१२. सम० क० १, पृ० ५५; २, पृ० ७५, ११६, १३८, १५२; ४, पृ० २३६, २९४, ३३९; ५, पृ० ३७८, ४१०, ४७८; ६, पृ० ५३१; ७, पृ० ६३४, ६३८, ६४०, ६४७; ८, पृ० ७३४; ९, ७८४; ९, पृ० ८८९।
१३. वही २, पृ० १००।

को द्विप भी कहते[1] थे। क्योंकि वह मुख तथा सूँड़ दोनों स्थानों से पी सकता था। गजों का समूह गजता[2] तथा हस्तियों का समूह हस्तिके[3] कहलाता था। जंगली हाथियों को अरण्यगज कहते थे।[4] जंगल से हाथी पकड़ कर लाये जाते थे और हस्तिपक उन्हें प्रशिक्षित कर चलना आदि सिखाते थे।[5] विवाह आदि मांगलिक कार्यों के लिए प्रस्थान करते समय हस्ति को आगे रखा जाता था। इनसे युद्धक्षेत्र में शत्रु सेना को रौंदने का भी काम लिया जाता था।

अरण्य-पशु—पालतु पशुओं के साथ-साथ अरण्य पशुओं का भी उपयोग था। लोग मृग आदि का शिकार कर उनका मांस खाते थे। व्याघ्र, सिंह आदि के चर्म का भी उपयोग होता था। समराइच्च कहा में निम्नलिखित अरण्य पशुओं का उल्लेख है।

मृग[6]—समराइच्च कहा में इसे हिरण भी कहा गया है।[7] हिरण का शिकार कर उसका मांस खाया जाता था। महाभाष्य में हिरण का उल्लेख पाया गया है। हरित और हरिण जाति की स्त्री हरिणी तथा रोहित की रोहिणी कही जाती थी।[8] भाष्य में हरिण को एक जाति न्यंकु भी बतायी गयी है।[9] भाष्यकार ने इसे वातमज[10] अर्थात वायु के समान शीघ्रगामी कहा है। मृग की एक जाति 'ऋष्य' थी, जिसकी मादा को रोहित कहते थे।[11] काले मृग को कृष्ण सारंग कहते थे।[12] चमर बनाने के लिए चमरी (मृग की एक जाति) का शिकार किया जाता था।[13] मृगया का विषय होने के कारण ही इसका नाम मृग पड़ा।

---

१. महाभाष्य ३, २, ४, पृ० २०९।
२. वही ४, २, २३।
३. वही ४, १, १, पृ० १०।
४. वही ४, २, १३९, पृ० २१६।
५. वही १, ३, ६७, पृ० १५।
६. सम०क० ६, पृ० ५१०, ५१६; ८, पृ० ७८७; ५, पृ० ४७७; देखिये—प्रज्ञापना सूत्र १–२४।
७. वही १, पृ० ४७; ५, पृ० ४१०; ७, ६५६, ६५९; ८, पृ० ७९८।
८. महाभाष्य १, २, ६४, पृ० ५७३।
९. वही १, २, ७, पृ० ६८।
१०. वही ३, २, २८, पृ० २१५।
११. वही ६, ३, ३४, पृ० ३१८।
१२. वही २, १, ६९, पृ० ३२०।
१३. वही २, ३, ३६, पृ० ४३१ (केशेषु चमरीं हन्ति)।

भाष्यकार ने रुरु और पृषत जाति के मृगों का उल्लेख किया है।[1] यजुर्वेद संहिता में उल्लिखित है कि पृषत नामक मृग का चर्म वस्त्राभाव की पूर्ति करता है।[2]

शूकर[3]—शूकर पालतू तथा आरण्यक दोनों प्रकार के होते थे। पालतू शूकर मांस और बालों के लिए पाले जाते थे। ग्राम्य शूकर का मांस अभक्ष्य माना जाता था।[4] महाभाष्य में उल्लिखित है कि बाल निकालने के लिए शूकर को बांध लिया जाता था और फिर उसका एक-एक बाल खींच कर उखाड़ते थे।[5]

बिल्ली[6]—यह ग्राम्य जीव के साथ-साथ अरण्य पशु भी था।

महिष[7]—यह भी पालतू तथा आरण्यक दोनों प्रकार के होते थे। पालतू पशुओं की श्रेणी में इसका उल्लेख किया गया है।

वृषभ[8]—यह पालतू और आरण्यक दोनों प्रकार का होता था। पालतू पशुओं की श्रेणी में इसका विस्तृत विवरण दिया गया है।

गज[9]—यह भी पालतू एवं जंगली दोनों प्रकार का पशु होता था। जंगली हाथियों को अरण्य गज कहते थे।[10] जंगल के हाथी पकड़ कर लाये जाते थे और हस्तिपक उन्हें प्रशिक्षित करता था।[11]

सिंह[12] यह एक हिंसक पशु था। सिंह शब्द हिंस् धातु से वर्ण विपर्यय

---

१. महाभाष्य २, ४, १२, पृ० ४६६।
२. श्रीचन्द्र जैन—हमारे पशु पक्षी, पृ० ३३।
३. सम०क० ५, पृ० ४७७; ६, पृ० ५१०, ५७८, ५९३।
४. आपिशल शिक्षा १, पृ० ११।
५. महाभाष्य ८, २, ४४, पृ ३६२।
६. सम० क० ६, पृ० ५७८; ८, पृ० ८२९; ९, पृ० ८८७।
७. वही २, पृ० १३५; ६, पृ० ५१०, ५१६।
८. वही २, पृ० १३५; ८, पृ० ७९८।
९. वही २, पृ० १३५, १३८, १४९ १५२, ३, पृ० २३९; ४, पृ० २८५, २९४, ३३७, ३४०; ५, पृ० ४१०, ४७१; ६, ५११, ५१६, ५३२; ७, पृ० ६४८; ८, पृ० ७७६, ७८७, ८०१।
१०. महाभाष्य ४, २, १२९, पृ० २१६।
११. वही १, ३, ६७, पृ० १५।
१२. सम० क० १, पृ० ११, ५४; २, पृ० १३५, १५२; ४, पृ० २९४, ३१२, ३३७; ५, पृ० ४४५, ४४६; ६, पृ० ५१३, ५२७, ५३२, ५०५; ७, पृ० ६४८, ६५६, ६५९; ८, पृ० ७७२, ७७८, ८०१, ८१४।

होकर बना है ।[१] व्याघ्र सिंह आदि से व्याप्त अरण्यों का उल्लेख भाष्य में मिलता है ।[२] सिंह का चर्म अनेक काम में आता था । लोग उसे वस्त्र के रूप में भी धारण करते थे ।

व्याघ्र[३]—बाघ, चीता नामक जंगली हिंसक पशु था । व्याघ्री का भी उल्लेख पतंजलि भाष्य में मिलता है ।[४]

वाराह[५]—प्रज्ञापना सूत्र में भी इसका उल्लेख मिलता है ।[६]

सम्बर[७]**–शशक**[८]—आखेट पशुओं में मृगों की भाँति शशक का भी महत्व था । आज भी लोग खरगोश के मांस के लिए उनका शिकार करते हैं ।

खच्चर[९]—यह पशु पालतू और आरण्यक दोनों प्रकार के होते थे ।

शृगाल[१०]—भाष्य में शृंगाल के 'हुआँ हुआँ' करने का उल्लेख है ।[११] इसका कुत्ते से शाश्वत बैर है ।[१२] शृगाल को मरुज भी कहते थे ।[१३]

श्वान और कंकाल[१४]—सड़े-गले मांस तथा रक्त आदि पीने वाले वन्य जीव थे ।

पक्षी

पालतू तथा जंगली पशुओं के साथ-साथ द्विपद अर्थात् पक्षियों को भी समाज की सम्पत्ति समझा जाता था ।[१५] यजुर्वेद[१६] संहिता में बताया गया है कि

---

१. महाभाष्य ३, १, १२३, पृ० १९१ ।
२. वही, ५, २, ११५, पृ० ४१८ ।
३. समम० क० २, पृ० १३२; ६, पृ० ५१६, ५२७ ।
४. महाभाष्य–४, १, ४८, पृ० ६० ।
५. समम० क० ५, पृ० ४४५, ४४६; ६, पृ० ५११, ८, पृ० ७९८ ।
६. प्रज्ञापना सूत्र ११३४ ।
७. समम० क० ४, पृ० २५८; ६, पृ० ५१०; ७, पृ० ६६९; ८, पृ० ८२९ ।
८. वही ४, पृ० २६०; ६, पृ० ५३०, ७, पृ० ७०३ ।
९. वही ६, पृ० ५१८ ।
१०. वही ४, पृ० २८०; ८, पृ० ७७२, ८०१ ।
११. महाभाष्य १, ३, २१, पृ० ६२ ।
१२. वही २, ४, १२, पृ० ४६७ ।
१३. वही १, १, ४७, पृ० २८८ ।
१४. समम० क० ४, पृ० २०३, ७२४ ।
१५. वही १, पृ० ३९, ८, पृ० ७३४–३५ ।
१६. यजुर्वेद संहिता, भाग २, पृ० ३१६ ।

अग्नि के प्रयोग करने के लिए कुटर मुर्गा नामक पक्षी प्राप्त करें। वनस्पतियों के ज्ञान के लिए उल्लू जातियों के पक्षी को प्राप्त करें, उनके जीवन का अनुशीलन करें। अग्नि और जल की परीक्षा के लिए चाष नामक पक्षियों को देखें। स्त्री-पुरुष के संयमी, प्रेमी और सुन्दर सुखप्रद आलाप के लिए मयूर को देखें। मित्र और वरुण अर्थात् मित्रता और स्नेह तथा परस्पर वरण के लिए कपोत नामक पक्षियों को देखें। वैदिक युग में जहाँ पशु एक प्रधान धन था वहीं विहंग एक प्रकृष्ट मनोविनोद का साधन था। समराइच्च कहा में निम्नलिखित पक्षियों का उल्लेख है।

कुक्कुट[1]—यह एक पालतू पक्षी था। पाणिनी ने ह्रस्व दीर्घ एवं प्लुत की पहचान के लिए कुक्कुट के स्वर का ही आश्रय लिया है।[2] मुर्गों का मांस भी खाया जाता था, यद्यपि ग्राम्य कुक्कुट अभक्ष्य था।[3] मुर्गा भूख लगने पर कुट-कुट करता था।[4] प्राचीन काल से ही प्रभात काल में जागरण के लिए मुर्गा सहायता करता था।[5] आदि पुराण में भी कुक्कुट का उल्लेख प्राप्त होता है।[6]

मयूर[7]—यह भी पालतू पक्षियों की श्रेणी में गिना जाता था। मयूर को भाष्यकार ने व्यंसक (धूर्त) कहा है।[8] मयूर और मयूरी साथ-साथ नृत्य करते हुए उल्लिखित किये गये हैं।[9] आदि पुराण में भी मयूर का उल्लेख प्राप्त होता है।[10] यह इस समय राष्ट्रीय पक्षी माना जाता है।

हंस[11]—आदि पुराण में भी हंस[12], हंसी[13] एवं राजहंस[14] का उल्लेख पाया

१. सम० क० ४, पृ० ३०२, ३०३, ३२०, ३२३, ३३२, ३४२, ८।७३४–३५, ७७०।
२. महाभाष्य १, २, २७।
३. आपिशल शिक्षा १।११।
४. महाभाष्य ६, १, १४२, पृ० १९० (अपस्किरते कुक्कुटो भक्षार्थी)।
५. वही १, ३, ४८, पृ० ६७ (वरतनुसम्प्रवदन्ति कुक्कुटाः)।
६. आदि० ४।६४।
७. सम० क० ४, पृ० ३२३, ३३२; ७, पृ० ६११, ६२५, ६२७।
८. महाभाष्य २, १, ७२, पृ० ३३०।
९. वही ७, ३, ८७, पृ० २१२ (प्रियां मयूरः प्रतिनर्तीतीति)।
१०. आदि० ३।१७०।
११. सम० क० १, पृ० ९; २, पृ० ९८२–८७, ८९, ५, पृ० ४२०, ४३०, ४७४, ८ पृ० ७३२, ७८३, ७८५, ८४२।
१२. आदि० ४।७४, १४।६९, ९।५४।
१३. वही ६।७४, ११।२७, १२।२१।
१४. वही ९।३।

गया है। भाष्य में स्त्री हंस को वरटा कहा गया है।[1] हंस शब्द हन् धातु से बना है। जिसका अर्थ मार्ग का हनन (गमन) करने वाला है।[2]

चक्रवाक[3]:—पतंजलि ने भी चक्रवाक का उल्लेख किया है।[4] आदि पुराण में भी इसका नाम आया है।[5]

सारस[6] आदि पुराण में भी सारस का उल्लेख पाया गया है।[7]

तोता[8]:—यह एक पालतू पक्षी था। भाष्यकार ने शुकी का उल्लेख किया है।[9] शुक की चर्चा खण्डिक और उलूक के साथ की गई है।[10] आदि पुराण में भी शुक का उल्लेख प्राप्त होता है।[11]

गरुड़[12]—हंस, सारस की भाँति इसका भी उल्लेख पक्षियों की श्रेणी में प्राप्त होता है। आदि पुराण में इसे पतत्पति[13] (गरुड़) कहा गया है।

श्येन[14]—यह छोटी-छोटी चिड़ियों का शिकार करता था। श्येन द्वारा बटेर को मारने का उल्लेख है।[15]

लावक[16]—लवा अर्थात् बटेर नामक पक्षी था।

---

१. महाभाष्य ६, ३, ३४, पृ० ३१८ (हंसस्य वरटा योषित)।
२. वही ६, १, १३, पृ० ४३ (हन्तेर्हंसः हन्त्यध्वानमिति)।
३. सम० क० ५, पृ० ४७४, ८।७३२, ७६६–७६८, ८२९, ९।८६५, ९३४।
४. महाभाष्य २, ४, १२, पृ० ·६६।
५. आदि० १५।१०।
६. सम० क० ५।४१९, ८।७३२, ९।८६५
७. आदि० १४।६९, १४।१९९, २६।१५०।
८. सम० क० २।८२, १०७, ४।३२१।
९. महाभाष्य ४, १, ६३, पृ० ७४।
१०. वही ४, २, ४५, पृ० १८१।
११. आदि०, ६।७२, ४६१, १५।११४।
१२. सम० क० ४, पृ० ३२१।
१३. आदि० ११२०८।
१४. सम० क० ४।२८५; देखिए—महाभाष्य १, १, ४५, पृ० २७८।
१५. महाभाष्य ६, १, ४८, पृ० ७९।
१६. सम० क० ५, पृ० ४४५, ४४६; देखिए यजुर्वेदसंहिता २४ वाँ अध्याय।

चातक[1]—आदि पुराण में भी चातक[2] और चातकी[3] का उल्लेख प्राप्त होता है।

बगुला[4]—समराइच्च कहा में अन्य पक्षियों की भाँति इसका भी उल्लेख मात्र प्राप्त होता है।

कोकिल[5]—वसंत ऋतु को अवकोकिल कहा गया है, क्योंकि विशेष रूप से कोकिल इसी ऋतु में बोलती है।[6] स्त्री कोकिल को पिकी कहते थे।[7]

गृद्ध[8]—यह एक मांसाहारी पक्षी है। गृद्ध सम्बन्धी वस्तु को गार्ध्र कहते थे।[9]

कुरर[10]—बाज की जाति का मत्स्य भोजी पक्षी बताया गया है।[11]

क्षुद्र जन्तु

समराइच्च कहा में कुछ क्षुद्र जन्तुओं के भी नाम गिनाए गए हैं।

सर्प[12]—सर्प वल्मीक (बिल) में रहता है।[13] साँप सरकता है, इसीलिए इसका नाम सर्प पड़ा है। उसकी चाल को सृप्त कहते थे।[14] क्रोध के समय फन उठाकर फुफकारने की अवस्था को 'औजायमान'[15] कहते थे। घने और भयानक

१. सम० क० ८, पृ० ८४२।
२. आदि० ८।६१; ३१।७०; ५।२१८।
३. वही ७।१५९।
४. सम० क० ८, पृ० ८४२।
५. वही १, पृ० ९; २, पृ० ७८; ३, पृ० ६३७; ९, पृ० ८७९, ९२४।
६. महाभाष्य २,२,१८, पृ० ३५० (अवक्रुष्टः कोकिलः यावकोकिलो वसंतः)।
७. वही ४,१,६३, पृ० ७४।
८. सम० क० ६।५३०; ७।७०३; ९।९९८; आदि० १०।७४; १०।४२।
९. महाभाष्य ४,३,१५६, पृ० २६९।
१०. सम० क० २, पृ० १५२।
११. महाभाष्य ४,१,९३, पृ० १२५।
१२. सम० क० १, पृ० ५४; २।१०६, १५२; ४।२२३; ५।४२५; ६।५२७, ५७८; ९।९२४।
१३. महाभाष्य ७,१,६९, पृ० ३२३।
१४. वही २,३,६७, पृ० ४५४।
१५. वही ३,१,११, पृ० ४५।

जंगलों में सबसे बड़ा सर्प अजगर[१] पाया जाता था। यह अपने शिकार को काटने के स्थान पर निगल जाता है। आदि पुराण में भी अजगर[२] अहि[३], उरग[४], कृष्णाहि[५] दंदशूक[६] (विषैला भयंकर सर्प), नाग[७], पन्नग[८], भुजंग[९] आदि सर्पों की विभिन्न जातियों का उल्लेख पाया गया है।

मूष[१०]—नकुल सर्प का और सर्प मूषिक का शत्रु है। मूषिका का पुमान मौषिकार कहलाता था।[११]

नकुल[१२]—पतंजलि भाष्य में नकुल का उल्लेख सर्प के शाश्वत विरोध के रूप में हुआ है।[१३] अस्थिर व्यक्ति के व्यवहार के लिए 'अवतप्ते नकुलस्थितम्'[१४] कहावत प्रचलित थी।

जलचर

जल में रहने वाले जीव यथा मछली, मेंढक, सिसुमार का भी उल्लेख समराइच्च कहा में आया है। उपयोगिता की दृष्टि से मछली का महत्त्व था। मत्स्य को सौभाग्य का प्रतीक माना जाता है। आदि पुराण में जलचरों को 'अप्सुज'[१५] कहा गया है।

मत्स्य[१६]—मछली खाने के काम में आती थी। महाभाष्य में मीन के शिकारी

१. सम० क० २, पृ० १५२; ५।४४२।
२. आदि० ५।१२१।
३. वही ५।१०५।
४. वही १०।२८।
५. वही ६।८०।
६. वही ९।५५।
७. वही ४।७०।
८. वही १०।२९।
९. वही १।८१।
१०. वही २।१३७; ३।१८३; ९।९२४।
११. महाभाष्य ८,१,१२०, पृ० १४२।
१२. सम० क० पृ० ८, ७८७।
१३. महाभाष्य ४,२,१०४, पृ० २१०।
१४. वही १,४,१३, पृ० १४३।
१५. आदि० २८।१९४।
१६. सम० क० ४, पृ० ३२३।

को मैनिक कहा गया है।[१] मछली के कांटे साफ कर और उसके टुकड़े-टुकड़े किये जाते थे।[२] आदि पुराण में निमिरङ्गल[३] (एक बड़ी मछली), मत्स्य[४] तथा मीन[५] का उल्लेख है।

ओवक[६]—यह मर्प का शिकार माना जाता है। इसे पानी में रहने वाला सर्प तथा बड़ी-बड़ी मछलियां निगल जाती हैं।

सिसुमार[७]—जलचरों में यह सबसे शक्तिशाली जीव है। आदि पुराण में इसे मकर[८] कहा गया है।

वन सम्पत्ति वृक्ष

प्राचीन भारत का अधिकांश भूभाग वन से घिरा हुआ था। ये अरण्य विभिन्न प्रकार के वृक्ष, लता, गुल्म, हरित औषधियों आदि से भरे पड़े थे। भारत की समृद्धि में वृक्षों, लताओं आदि का महत्त्वपूर्ण योगदान है। समराइच्च कहा में उपभोग योग्य पल्लव, पुष्प, फल तथा छाया आदि से युक्त वृक्ष तथा वनस्पतियां देश अथवा समाज की सम्पत्ति कही गयी हैं।[९]

समराइच्च कहा में उल्लिखित कुछ वृक्ष फल-फूल, छाया; लकड़ी आदि देने के कारण उपयोगी थे किन्तु कुछ वृक्ष केवल शोभा, छाया आदि के लिए उपयुक्त समझे जाते थे।[१०] वृक्षों में अशोक का नाम कई बार उल्लिखित हुआ है। अशोक वृक्षों में रक्ताऽशकोक[११] का भी उल्लेख प्राप्त होता है। अन्य जैन ग्रन्थों में भी शोभा वृक्ष के रूप में अशोक का उल्लेख हुआ है।[१२] अशोक के

१. महाभाष्य ४.१,६३, पृ० ७४; तथा १,१,६८, पृ० ४३५।
२. वही १,१.३९, पृ० ५१६।
३. आदि० २८।१८२।
४. वही ११।१९९, ४।११७, १०।३०।
५. वही ५।३४, २८।१७१।
६. सम० क० २, पृ० १५२, ८।८४२।
७. वह ४, पृ० ३२३।
८. आदि० २८।१७१।
९. सम० क० ४, पृ० ३१० (उवभोगजोग्गपल्लवपुप्फफलच्छाहिउदगपभट्ठे)।
१०. वही १, पृ०११, ४१; २, पृ० ८७-८८, ११६; ५।३७८, ४२०; ६।५६६; ७।६३९-४०, ६६२, ६७८, ६८०; ८।७६६।
११. वही १।४१।
१२. आदि० ९।९; ६।६२; राजप्रश्नीय सूत्र १, पृ० ५; ३, पृ० १६; ज्ञातृधर्म कथा १, पृ० १०।

अतिरिक्त ताड़[1] के वृक्ष तथा न्यग्रोध[2] (वट वृक्ष) भी छाया तथा शोभा के ही काम में आते थे। न्यग्रोध वृक्ष की जटाएँ नीचे की ओर फैलकर वृक्ष का रूप लेती जाती हैं इसीलिए इसका नाम न्यग्रोध (नीचे की ओर फैलने वाला) पड़ा है।[3] इसे अवरोहवान, क्षीरी और पृथु पर्ण कहा गया है।[4]

शोभा तथा छाया वाले वृक्षों के साथ-साथ कुछ फल-फूल तथा वनस्पतियों वाले वृक्षों का भी उल्लेख समराइच्च कहा में है, जिन्हें उपयोगिता की दृष्टि से तत्कालीन समाज की सम्पत्ति कहा जा सकता है।

उन वृक्षों में आम्र[5] (फल तथा छाया वाला वृक्ष), सहकार[6] (आम्र का दूसरा नाम) चूत[7] (आम्र का दूसरा नाम), नारियल[8] अथवा नारिकेल,[9] जम्बू[10] (जामुन), कदली[11] (केला), साल[12] (साखू), वकुल,[13] निम्ब,[14] पलाश[15] (यज्ञ में

---

१. सम० क० २, पृ० ८२; ४, पृ० ३१०, ३७५, देखिए—आदि० ३०।१५।

२. वही २, पृ० ११५, १३५, १३६; ४, पृ० २८५, ३१०; ५, पृ० ४३३, ४३५; ६, पृ० ५०६, ५१७; देखिए— आदि ३१।११३।

३. महाभाष्य २, २, २९, पृ० ३८३।

४. वही १, १, ५६, पृ० ३४२, (ये क्षीरिणोऽवरोहवन्तः पृथुपर्णास्तेन्यग्रोधाः)।

५. सम० क० १०।१६, २।८७।८८, १३५, ९।८७९; देखिए—आदि० ४।१६; महाभाष्य १, १, ५६, पृ० ३४२ (गाँव के चारों ओर आम के बाग लगाने की प्रथा थी)।

६. वही १।१७, ३४, ४१, २।७८, ५।४०५, ४१०, ४५७, ६।५४६, ५८२, ७।६३६, ६३७।

७. वही ६, पृ० ५४६, देखिए—आदि० ४।१६।

८. वही ३।१६९, १७१, १८७।

९. आदि० ३०।१३।

१०. सम० क० २।१३५, ५।४०४; देखिए—आदि० १७।२५२ तथा महाभाष्य ४, १, ११९, पृ० १३८।

११. वही २, ८७, ८८, ५, पृ० ४०५, ४२०, ६।५४७, ५४९; देखिए—आदि० १७।२५२ (यहाँ आदि पुराण में कदली को मोच कहा गया है)।

१२. वही २, पृ० १०८, १३५, ३।१८३, ६।५७३, देखिए—महाभाष्य १,१,१। पृ० ९२।

१३. वही १, पृ० ११; २, १३५; ४, पृ० २८१; ७, पृ० ६३७, ६३९-४०।

१४. वही १, पृ० ४१; २, पृ० १३५; ३, पृ० १७४; ५, पृ० ४२८।

१५. वही २, पृ० १३५; ६, पृ० ५१८; ७, पृ० ६३७; देखिए—महाभाष्य ४, ३, १५५, पृ० २६६ तथा ३, १, ७९, पृ० १३९ (वेवरक्ता किंशुकाः)।

पलाश की समिधाएँ काम में आती थीं), किंपाक,[१] बाँस,[२] पूगपादप,[३] बबूल,[४] करीर,[५] खादिर[६] (कत्थे का वृक्ष), खज्ज,[७] पनस[८] (कटहल) पामाड वृक्ष,[९] चंदन,[१०] मंदार[११] (छोटा पादप), खंजन,[१२] अगुरु[१३] (शुष्क वृक्ष), तिलक,[१४] सिंदुवार,[१५] कदम्ब[१६] वृक्ष, तिमिर[१७] पादप, तमाल,[१८] कल्पवृक्ष,[१९] नारंगी,[२०] सरल,[२१] तालालि,[२२] अङ्कोल,[२३] वञ्जुला[२४] पादप, सल्लकि,[२५] तिनिश,[२६] कुटज[२७]

१. सम० क० ५, पृ० ४७८, ४८० ।
२. वही ५, पृ० ४७८; ६, पृ० ५११; देखिए—महाभाष्य १, १, १३, पृ० १८२ ।
३. वही ५, पृ० ४१९, ४६५ ।
४. वही ४, पृ० ३१० ।
५. वही ४, पृ० ३१० ।
६. वही २, पृ० १३५; ४, पृ० ३१० ।
७. वही ४, पृ० ३१० ।
८. वही ४, पृ० ४०५: देखिए—आदि० ३०।१९ तथा महाभाष्य ५, १, २, पृ० २९६ ।
९. ३, पृ० १७६ ।
१०. वही ६, पृ० ५४५; देखिए—आदि० ६८०, १।८१ ।
११. वही ६, पृ० ५४५; देखिए—आदि० ४।१९७ ।
१२. वही ४, पृ० ३१० ।
१३. वही ४, पृ० ३१०; देखिए—आदि० ३१।६८ ।
१४. वही २, पृ० १३५; ४ पृ० ३२५; ५ पृ० ३७८ ।
१५. वही ५, पृ० ३७८ ।
१६. वही २ पृ० १३५; ३, १७४; ५ पृ० ३७८; देखिए—आदि० ९।१७ ।
१७. वही ४, पृ० २५३ ।
१८. वही २ पृ० १३५; ३, पृ० २२४; ६, पृ० ५४५; ७ पृ० ६९६ ।
१९. वही ७ पृ० ६८३-६८४-६८८-६९६ ।
२०. वही २, पृ० १०८; ८ पृ० ८७९ ।
२१. वही २, पृ० १३५ ।
२२. वही २, पृ० १३५ ।
२३. वही २, पृ० १३५ ।
२४. वही २, पृ० १३५ ।
२५. वही २, पृ० १३५ ।
२६. वही २, पृ० १३५ ।
२७. वही २, पृ० १३५; देखिए—आदि० ९।१६ ।

सर्जा[1] और अर्जुना[2] पादप आदि मुख्य हैं।

वन सम्पत्ति लता

समराइच्च कहा में निम्नलिखित लताओं का उल्लेख है जो फल-फूल, अंग-प्रसाधन, गृह-वन-वाटिका आदि की शोभा तथा साज-सज्जा को बढ़ाने के लिए उपयुक्त समझी जाती थीं।

उन लताओं में माधवी लता,[3] चम्पक[4] लता, ताम्बूल,[5] नागवल्ली,[6] पुन्नाग,[7] मुक्त लता,[8] चूत लता,[9] लवंग लता,[10] अंगूर लता,[11] सुपारी[12] और कुंकुम[13] लता (केसर लता) आदि का उल्लेख है।

१. सम० क० २, पृ० १३५।
२. वही २, पृ० १३५।
३. वही २, पृ० ८७-८८; ४, पृ० ३६०।
४. वही १, पृ० ११-४१; देखिए—महाभाष्य २, १, १, पृ० २४०।
५. वही २, पृ० ८७-८८, ९०।
६. वही १, पृ० ११; २, पृ० ८८; ५ पृ० ४१९; आदि० ३१।१७।
७. वही १, पृ० ११; आदि० ३१।१७।
८. वही ७, पृ० ६७९।
९. वही ९, पृ० ८७९; राजप्रश्नीय सूत्र १, पृ० ५; ३, पृ० १८।
१०. वही ६, पृ० ५४७; ज्ञातृ धर्मकथा १, पृ० ३, १०।
११. वही २, पृ० ८७-८८।
१२. वही २, पृ० ८७-८८।
१३. वही २, पृ० ८७-८८; ज्ञातृ धर्मकथा १, पृ० ३।१०।

सप्तम—अध्याय

सांस्कृतिक जीवन

संस्कृति का जहाँ कला, दर्शन एवं आचार के साथ सम्बन्ध है वहीं भोजन पान एवं वस्त्र—आभूषण आदि के साथ भी है। शरीर, मन एवं आत्मा इन तीनों को सुसंस्कृत एवं अलंकृत कर उच्चतम जीवन-मूल्यों को प्राप्त करना ही सांस्कृतिक जीवन का लक्ष्य है।[1] समराइच्च कहा में प्राचीन भारत के सांस्कृतिक जीवन, यथा—भोजन-पान, वस्त्र-आभूषण, वाहन, खेल-कूद, उत्सव-महोत्सव आदि का सुविस्तृत उल्लेख है। सुसंस्कृत भोजन-पान तथा सुसंस्कृत जीवन की सही छाप हमें समराइच्च कहा में देखने को मिलती है।

भोजन-पान

भोजन-पान के द्वारा शरीर की पुष्टि के साथ-साथ मन और मस्तिष्क का भी संवर्धन होता है। भोजन के गुण-अवगुण के अनुसार ही लोगों के आचार-विचार एवं क्रिया-कलापों का निर्धारण होता है। परिणामतः भोजन-पान का प्रभाव अपने समय की संस्कृति पर पड़े बिना नहीं रहता। प्राचीन भारतीय संस्कृति में भोजन-पान का महत्त्व वैदिक काल से ही चला आ रहा है।[2] छान्दोग्य उपनिषद् में एक स्थान पर आया है कि आहार की पवित्रता से मन शुद्ध रहता है तथा मन की पवित्रता से स्थिर बुद्धि उत्पन्न होती है और स्मृति के प्राप्त होने पर सभी ग्रन्थियाँ मुक्त हो जाती हैं।[3] ऋग्वेद में बैठकर भोजन करने की बात कही गयी है।[4] शतपथ ब्राह्मण में दिन में दो बार भोजन करने का उल्लेख है।[5] भोजन-पान की महत्ता बताते हुए तैत्तिरीय उपनिषद् में बताया गया है कि भोजन से ही प्राणी उत्पन्न होते हैं और जो पैदा होता है वह भोजन पर ही निर्भर रहता है। इसलिए इसे सर्वौषधि कहा गया है।[6] समराइच्च कहा

---

१. नेमिचन्द्र शास्त्री—आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० १९२।

२. ओम प्रकाश—फूड एण्ड ड्रिंक्स इन ऐंसियन्ट इण्डिया, पृ० १०।

३. छान्दोग्य उपनिषद् ७।२६।२—"आहारशुद्धौ सत्वशुद्धि सत्व शुद्धाध्रुवास्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।

४. ऋग्वेद—६।३०।३।

५. शतपथ ब्राह्मण २।२२।६।

६. तैत्तिरीय उपनिषद् २।२।

में उल्लिखित भोजन-पान को हम चार वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—अन्नाहार, फलाहार, पेय पदार्थ तथा मांसाहार।

अन्नाहार—अन्नाहार का प्रयोग वैदिक काल से ही चला आ रहा है। यह खाया जाता है इसलिए अन्न कहलाता है। किन्तु ऋग्वेद में इसे पितु भी कहा गया है, क्योंकि यह पौष्टिक तत्त्व प्रदान करता है।[१] प्रश्नोपनिषद् में अन्न से ही सृष्टि उत्पन्न होने की बात कही गयी है—अन्न ही प्रजापति है, उसी से वीर्य बनता है और उस वीर्य से ही सम्पूर्ण प्रजा उत्पन्न होती है।[२] गीता से भी पता चलता है कि रज-वीर्य के संयोग से ही सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, उसी से पोषित होते हैं तथा वृद्धिगत होते हैं। अतः अन्न के द्वारा ही व्यक्ति सभी कर्म करता है तथा पुण्य, स्वर्ग एवं मोक्षादि प्राप्त करता है।[३] इसी ग्रन्थ में आगे बताया गया है कि यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सभी पापों से मुक्त हो जाते हैं।[४] समराइच्च कहा में यद्यपि अन्न आदि के महत्त्व पर प्रकाश नहीं डाला गया है फिर भी कथा प्रसंग में अधोलिखित खाद्य सामग्रियों का उल्लेख मिलता है।

चावल—समराइच्च कहा में दधि के साथ धान्य को भी मांगलिक वस्तु बताया गया है।[५] जिससे खाद्य पदार्थ में चावल के उपयोग का पता चलता है। चावल को दधि,[६] घृत[७] एवं मांस[८] आदि के साथ मिलाकर खाया जाता था। चावल का उल्लेख अथर्ववेद में यव के साथ किया गया है।[९] इसी प्रकार ब्राह्मण तथा उपनिषदों में चावल को भोज्य पदार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है।[१०]

---

१. ऋग्वेद १।१८७।२—'स्वादो पितो मधो पितो वयं त्वा ववृमहे। अस्माकमविता भव।'
२. प्रश्नोपनिषद् १।१।१४।
३. गीता ३।१४।
४. वही ३।१३—'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।'
५. सम० क० २, पृ० १५२; ६, पृ० ५९३।
६. बृहदारण्य उपनिषद् ६।४।१५।
७. शांखायन आरण्यक १२।८।
८. वही १२।८; शतपथ ब्राह्मण—११।५।७।५; बृहदारण्यक उपनिषद् ६।४।१८।
९. अथर्ववेद ८।७।२०।
१०. शतपथ ब्राह्मण—५।५।५।९; बृहदारण्यक उपनिषद् ६।३।२२; छान्दोग्य उपनिषद ३।१४।३।

यजुर्वेद में इसके पांच भेद गिनाए गये हैं जिसमें व्रीहि को सबसे अच्छा माना जाता था।[1] स्पष्ट है कि चावल का प्रयोग वैदिक काल से ही प्रारम्भ होता था। अधिकतर इसे पानी अथवा दुग्ध में पका कर खाया जाता था। जैन ग्रन्थ आदिपुराण में तो चावल की सात जातियों का उल्लेख है, यथा—साठी,[2] शलि,[3] कलम,[4] व्रीहि,[5] सामा,[6] नीवार[7] और श्यामाक।[8] यशस्तिलक में भी चावल की चार जातियों का उल्लेख है, यथा—दीदिवि,[9] श्यामाक,[10] शालि[11] और कालम[12] (यहां आदिपुराण में कलम को कालम कहा गया है) आदि जिससे पता चलता है कि चावल की भिन्न-भिन्न जातियां थीं।

मोदक—समराइच्च कहा में मोदक (एक प्रकार का मिष्ठान्न पदार्थ) का उल्लेख किया गया है।[13] यह घृत, अन्न, दूध और चीनी के मिश्रण से तैयार किया जाता था। आदिपुराण में अमृत गर्भमोदक का उल्लेख आया[14] है जो अत्यन्त स्वादिष्ट एवं सुगन्धित पदार्थ माना जाता था। मोदक का नाम यशस्तिलक में भी आया है।[15]

पक्वान्न—समराइच्च कहा के कथा प्रसंग में पक्वान्न का उल्लेख है।[16] यह

---

१. ओमप्रकाश—फूड एण्ड ड्रिंक्स इन ऐंसियन्ट इण्डिया, पृ० १०।
२. आदिपुराण—३।८६।
३. वही ४।६०।
४. वही ३।१८६।
५. वही ३।१८६।
६. वही ३।१८६।
७. वही ३।१८६; देखिए—अभिज्ञान शाकुन्तल २।३५—नीवारषष्टभाग मध्याकमुपहरन्तिति; रघुवंश १।५०।
८. आदिपुराण ३।१८६; देखिए—अभिज्ञानशाकुन्तल ४।१४—श्यामाकपुष्टि परिवर्धितकम्……।
९. यशस्तिलक, पृ० ४०१।
१०. वही पृ० ४०६।
११. वही पृ० ५१५-१६।
१२. वही पृ० ५१५।
१३. सम० क० २, पृ० १२७; ३, पृ० २२९, २३१।
१४. आदिपुराण ३७।१८८।
१५. यशस्तिलक, पृ० ८८, उत्तर खण्ड।
१६. सम० क० २, पृ० १२४।

घृत और चीनी के मिश्रण से तैयार किया जाता था। यशस्तिलक में पक्वान्न को स्वादयुक्त बताया गया है।[1]

सक्तु—समराइच्च कहा के कथा प्रसंग में इसे भी उल्लिखित किया गया है।[2] जौ अथवा गेहूँ को भूनकर तथा उसमें भूना हुआ चना मिलाकर पीसा जाता था और उसी पीसे हुए चूर्ण को सक्तू कहा जाता था। ऋग्वेद[3] तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण[4] में भी इसका उल्लेख है। यह पानी में मिलाकर पिण्ड के रूप में अथवा पतला बनाकर खाया जाता था।

फलाहार

समराइच्च कहा में अन्नाहार के अतिरिक्त फलाहार का भी उल्लेख है। फल-फूल का प्रयोग अधिकतर साधु-सन्यासी करते थे तथा कभी-कभी अतिथि सत्कार के लिए भी फलों का प्रयोग किया जाता था। यद्यपि धर्मसूत्रों में विभिन्न प्रकार के फलों का उल्लेख नहीं है फिर भी वैदिक कालीन आर्यों के भोजन-पान में फलाहार को मुख्य समझा जाता था।[5] समराइच्च कहा में निम्नलिखित फलों का उल्लेख है, यथा—

आम्र[6]—(इसका प्रयोग कच्चा तथा पका दोनों रूपों में किया जाता था), कदली,[7] कंकोल[8] फल (एक प्रकार का जंगली फल था), कन्दमूल,[9] नारंगी,[10] जम्बीर[11] (जिमिरिया नामक फल), पनस[12] (कटहल), पूगफल[13] (सुपाड़ी जिसका

१. यशस्तिलक, पृ० ४०२—'प्रियतमाधरैरिव स्वाद मानैः पक्वान्नैः।'
२. सम० क० ४, पृ० ३०७; देखिए—यशस्तिलक, पृ० ५१२, ५१५।
३. ऋग्वेद १०।७१।२।
४. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।८।१४।
५. ओमप्रकाश—फूड एण्ड ड्रिंक्स इन ऐंसियन्ट इण्डिया, पृ० ४२।
६. सम० क० ६, पृ० ५४६; देखिए—अष्टाध्यायी ८।४।५; आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।७।२०।३; आदि पुराण १५।२५२।
७. सम० क० ६, पृ० ५४१; ९, पृ० ९७२; देखिए—आदिपुराण १७।१५२; यशस्तिलक, पृ० ५१२।
८. वही २, पृ० ८८।
९. वही ८, पृ० ७९९-८००; देखिए—यशस्तिलक, पृ० ५१२, ५१६।
१०. वही ४, पृ० २५७; ५, पृ० ४३१, ४३३-३४।
११. वही ९, पृ० ९७२; देखिए—यशस्तिलक, पृ० ९६।
१२. वही ९, ९७२; देखिए—वाटर्स-आन युवान च्वांग १, पृ० १७७–(ह्वेनसांग ने भी यहाँ पनस का उल्लेख फलाहार की श्रेणी में किया है)।
१३. वही ४, पृ० ३४०; देखिए—आदि पुराण ३०।१३।

प्रयोग खाना खाने के बाद मुख शुद्धि के लिए किया जाता था) और अंगूर आदि[१]।

पेय पदार्थ

अन्नाहार और फलाहार के अलावा कुछ पेय भी आहार के रूप में प्रयुक्त होते थे। समराइच्च कहा में निम्नलिखित पेय पदार्थों का उल्लेख है।

दूध[२]—समराइच्च कहा के कथा प्रसंग में दूध का उल्लेख है। वैदिककाल से ही दूध का प्रयोग होता था जिसे ऋग्वेद में क्षीर[३] तथा पय[४] के नाम से उल्लिखित किया गया है। गाय का दूध गर्म करके काम में लाया जाता था।[५] गौतम,[६] आपस्तम्ब,[७] वशिष्ठ[८] तथा बौधायन[९] धर्मसूत्रों में सन्धिनी गाय का दूध, बछड़ा होने की स्थिति में दस दिन तक गाय, भेंड़ और भैंस का दूध तथा ऊँटनी और अन्य जानवरों का दूध सर्वथा निषिद्ध बताया गया है। जैन ग्रन्थ आदि पुराण में भी दूध का उल्लेख क्षीर[१०] तथा पय[११] के रूप में हुआ है जो पीने के काम में आता था।

द्राक्षापानिक[१२]—यह एक प्रकार का स्वास्थ्य वर्धक पेय पदार्थ था। आदि-पुराण में आरिष्ट[१३] का उल्लेख प्राप्त होता है जो द्राक्षा, गुण तथा चावल आदि पदार्थों को सड़ा कर तैयार किया जाता था।

१. वही ९, पृ० ९५८; वाटर्स—आन युवान च्वांग १, पृ० १७७-७८। (यहाँ ह्वेनसांग ने कश्मीर में अंगूर की अधिकता बतलाई है)।
२. सम० क० ३, पृ० १९२; ७, पृ० ६७५।
३. ऋग्वेद १।१६४।७।
४. वही १।१५३।४, १।२२।५, ६।५२।१०।
५. वही १।६२।९।
६. गौतम १७।२२-२६।
७. आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।५।१७।२२-२४।
८. वशिष्ट धर्मसूत्र १४।३४-३५।
९. बौधायन धर्मसूत्र १।५।१५६-१५८।
१०. आदि पुराण २०।११७, २६।४२।
११. वही १३।१९३।
१२. सम० क० ९, पृ० ९५८।
१३. आदि पुराण ९।३७।

मदिरा—समराइच्च कहा में मदिरा पान का भी उल्लेख[1] है जिसका सेवन करने वाला व्यक्ति निन्दित चरित्र का कहा गया है। सुरा पान का वर्णन वैदिक काल से ही प्राप्त होता है। ऋग्वेद में इसका उल्लेख कई बार किया गया है।[2] छान्दोग्य उपनिषद् में सुरा पान करने वालों को पापी बताया गया है।[3] इसी ग्रन्थ में एक स्थान पर केकय के राजा अश्वपति ने कहा है कि उनके राज्य में मद्यपान नहीं किये जाते।[4] गौतक धर्मसूत्र,[5] आपस्तम्ब धर्मसूत्र[6] एवं मनुस्मृति[7] आदि ग्रन्थों में ब्राह्मणों के लिए सभी प्रकार की नशीली वस्तुओं का प्रयोग वर्जित कहा गया है। स्मृतियों में सुरापान को महापातक बताया गया है।[8] यात्रियों ने, यथा—सुलेमान,[9] अबूजैद,[10] इब्नखुरददब[11] तथा अलमसूदी[12] आदि के विवरण से पता चलता है कि हिन्द के लोग मदिरा पान को त्याज्य समझते थे। यद्यपि धार्मिक दृष्टि से मदिरा पान घृणित माना जाता था फिर भी समाज में विभिन्न वर्ग के लोग इसका सेवन करते थे।

मांसाहार

समराइच्च कहा में जहाँ हमें अन्नाहार और फलाहार का उल्लेख है वहीं मांसाहार का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[13] यद्यपि धार्मिक दृष्टिकोण से तत्कालीन समाज में मांसाहार को त्याज्य माना जाता था, फिर भी समाज के उच्च

१. सम० क० ४, पृ० २८० (यहाँ पूर्व कृतकर्म दोष से सुरापान कर दुराचरण करने का उल्लेख है); ६, पृ० ५५४; ८, ८२७।
२. ऋग्वेद १।११६।७, ८।२।१२।
३. छान्दोग्य उपनिषद् ५।१०।९।
४. वही ५।११।५।
५. गौतम धर्मसूत्र २।२५।
६. आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।५।१७।२१।
७. मनुस्मृति १०।९४।
८. मनु० ११।५४; याज्ञवल्क्य० ३।२२७।
९. इलियट एण्ड डाउसन—हिस्ट्री आफ इण्डिया इज टोल्ड बाई हर औन हिस्टोरियन, वाल्यूम १, पृ० ७।
१०. वही १, पृ० ८।
११. वही १, पृ० १३।
१२. वही १, पृ० २०।
१३. सम० क० ४, पृ० ३०३, ३१३; ६, ५७८, ६०२।

वर्ग तक के लोग अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय भी मांस का प्रयोग करते थे।[1] समराइच्च कहा में एक स्थान पर नरक लोक में नारकियों को दी जाने वाली यातनाओं में मांस भक्षण के परिणाम स्वरूप उनके शरीर के मांस को पक्षियों से नोचे जाने की बात कही गयी है।[2] इससे स्पष्ट होता है कि जैन विचारधारा में मांस भक्षण त्याज्य था। मांसाहार का प्रचलन अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। ऋग्वेद में आया है कि अग्नि के लिए घोड़ों, बैलों, साड़ों, बाँझ गायों एवं भेड़ों की बलि दी गयी।[3] यद्यपि ऋग्वेद में गाय को रुद्रों की माता, वसुओं की पुत्री, आदित्यों की हवन एवं अमृत का केन्द्र मानकर उसकी हत्या करने की मनाही की गयी है;[4] किन्तु कहीं-कहीं ब्राह्मण ग्रन्थों में गाय की बलि दी जाने का भी संकेत मिलता है।[5] शतपथ ब्राह्मण में मांस को सर्वश्रेष्ठ भोजन बताया गया है।[6] यद्यपि वैदिक कालीन समाज में मांस भक्षण विहित था। कालान्तर में धार्मिक दृष्टिकोण से इसके प्रति घृणा का भाव बढ़ा। शतपथ ब्राह्मण में भी यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है कि मांसभक्षी अगले जन्म में उन्हीं पशुओं द्वारा खाया जायगा।[7] वृहदारण्यक उपनिषद् में आया है कि जो व्यक्ति बुद्धिमान पुत्र का इच्छुक है वह बैल या साँड़ या किसी अन्य पशु के मांस को चावल एवं घृत में पकाये।[8] आपस्तम्ब धर्मसूत्र में श्राद्ध के समय मांस भक्षण का उल्लेख है।[9] इसी प्रकार अश्वलायन गृह्य सूत्र में भी अतिथि के स्वागत के लिए मांस भक्षण का उल्लेख है।[10]

समराइच्च कहा में मछली,[11] सूकर,[12] बकरा, महिष[13] और शशक[14] आदि

---

१. सम० क० ४ पृ० ३१६, ३१८।
२. वही ८, पृ० ८५३-५५।
३. ऋग्वेद १०।५१।१४, ८।४३।११, १०।७९।६।
४ वही १०।१।१५-१६।
५. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।९।८; शतपथ ब्राह्मण ३।९।२।२१।
६. शतपथ ब्राह्मण ११।७।१।३।
७. काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास भाग १, पृ० ४२१।
८. वृहदारण्यक उपनिषद् ६।४।१८।
९. आपस्तम्ब धर्मसूत्र—२।७।१६।२५।
१०. आश्वलायन गृह्यसूत्र १२।२४।२२-२६।
११. सम० क० ४, पृ० ३१३।
१२. वही ३, पृ० ३७४।
१३. वही ४, पृ० ३१९।
१४. वही ६, पृ० ५१८।

का मांस खाने का उल्लेख है। जीवित महिष तथा मछली को निर्दयता पूर्वक भून कर तथा उसमें सोंठ, पीपल, मीर्च, लवंग और हल्दी डालकर पकाया जाता था।[१] मनु ने मधुपर्क, यज्ञ, देव कृत्य एवं श्राद्ध में पशु हत्या की आज्ञा दी है।[२] आगे उन्होंने यह भी लिखा है कि जब प्राणसंकट में हो तो मांस भक्षण से पाप नहीं लगता[3] जिसका याज्ञवल्क्य[४] ने भी किया है। एक स्थान पर तो मनु ने लिखा है कि मांस भक्षण, मद्य पान एवं मैथुन में दोष नहीं है क्योंकि ये स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं।[५] काणे के अनुसार स्मृति काल में दो प्रकार के व्यक्ति थे एक वे जो मांस भक्षण को वैदिक मानते थे। किंतु वेद के कथानुसार यज्ञ आदि अवसरों पर ही पशु बलि देते थे और दूसरे ऐसे लोग थे जो बिना नियंत्रण के मांस भक्षण करते थे।[६] मनु ने सभी प्रकार की मछलियों के भक्षण को निकृष्ट माना है; किन्तु श्राद्ध आदि के समय रोहित, राजीव, सिंह की मुखाकृति वाली मछलियों की छूट दी है।[७] इस प्रकार धर्म शास्त्रों में भी मांस, मछली खाने का उल्लेख है किन्तु यहाँ समय विशेष का ध्यान रख कर इसका उपयोग किया जाता था। चीनी यात्री ह्वेनसांग के अनुसार मछली, भेंड़ का मांस तथा हिरन का मांस स्वादिष्ट समझा जाता था।[८] हर्षचरित में भी उल्लिखित है कि हर्ष के सैनिकों को बकरी हिरन, चातक (चिड़िया) और खरगोश का मांस दिया जाता था।[९] अलबरूनी के अनुसार तत्कालीन समाज में भेंड़, बकरे, खरगोश, भैंसे, मछली, मृग, गैंडा, पानी में तथा स्थल पर रहने वाली पक्षियों में गौरैया, पेंडुकी तथा मोर आदि का मांस खाया जाता था।[१०]

इन उपरोक्त साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि हरिभद्र सूरि के काल में भी मांस भक्षण का प्रचलन था किन्तु धार्मिक दृष्टिकोण से इसे उचित नहीं समझा जाता था।

१. सम० क० ३, पृ० ३१३, ३१९।
२. मनु० ५।२७ तथा ४४।
३. वही ५।२७ तथा ३२।
४. याज्ञवल्क्य० १।१७९।
५. याज्ञवल्क्य ५।५३।
६. पी० वी० काणे–धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ४२३।
७. मनु० ५।१६।
८. वाटर्स—आन युवान च्वांग १, पृ० १७८।
९. हर्षचरित ७, पृ० १५१।
१०. सचाऊ—अलबरूनीज इण्डिया २, पृ० १५१।

वस्त्र

संस्कृति के अन्तर्गत भोजन पान के साथ-साथ वस्त्र एवं आभूषण का भी विशेष महत्व है। किसी भी देश के लोगों की सांस्कृतिक स्थिति का पता उसमें रहने वाले लोगों के वेशभूषा से भी आंका जा सकता है। मोहन-जोदड़ों और हड़प्पा की सभ्यता में तो बहुधा लोग नंगे ही रहा करते थे और यदि कुछ लोग कपड़े पहनते भी थे तो वह लंगोटी या छोटी धोती के रूप में। कभी-कभी लोग चादर भी ओढ़ लेते थे और अपने बाल फीते से बांध लेते थे।[1] वैदिक काल से लेकर सातवीं शती तक सिले हुए कपड़ों एवं आभूषणों का उल्लेख साहित्य में बराबर मिलता है और उनका अंकन भी बहुधा चित्रों में हुआ है।[2] बहुत प्राचीन काल से गान्धार और पंजाब में लोग ठंडक के कारण सिले वस्त्र पहनते थे और इन सिले हुए वस्त्रों में यूनानी, ईरानी और मध्येशिया का काफी प्रभाव देखने को मिलता है। इन प्रान्तों का उपरोक्त जातियों से अति प्राचीन काल से बहुत घनिष्ट सम्बन्ध था परिणामतः दोनों में सांस्कृतिक आदान-प्रदान का होना स्वाभाविक था।[3]

समराइच्च कहा के वर्णन से पता चलता है कि जहाँ धनी-सम्पन्न तथा राज-घरानों के लोग मूल्यवान एवं सुन्दर वस्त्रों को धारण करते थे वहीं गरीब लोग मलिन तथा फटे पुराने वस्त्रों को पहन कर किसी तरह अपना जीवन निर्वाह करते थे।

वस्त्र के प्रकार

समराइच्च कहा में निम्नलिखित प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख है।

दुकूल—समराइच्च कहा में इसका उल्लेख कई बार आया है।[4] यह एक श्वेत रंग का सुन्दर एवं कीमती वस्त्र था। इसका प्रयोग अधिकतर धनी-सम्पन्न तथा राजा-महाराजा ही करते थे। दुकूल का उल्लेख महाभारत में भी आया है जिसे मोतीचन्द्र ने रोमन लेखकों का बाहसाम माना है। आगे उन्हीं के अनुसार यह दुकूल वृक्ष की छाल के रेशों से बनता था, बंगाल का बना दुकूल सफेद और मुलायम होता था, पौन्ड्र का नीला और चिकना तथा सुवर्ण कुड्या का दुकूल ललाई लिए होता था। इसी प्रकार मणिस्नि धोदकवान दुकूल घुटे

१. मोतीचन्द्र—प्राचीन भारतीय वेशभूषा, भूमिका, पृ० ३।
२. वही—भूमिका, पृ० २।
३. वही पृ० ३।
४. सम० क० ४, पृ० २९७; ५, पृ० ४९५; ८, पृ० ७९८!

हुए सूत के बनते थे।[१] आचारांग सूत्र में उल्लिखित है कि दुकूल बंगाल में पैदा होने वाले एक विशेष प्रकार की रुई से बनने वाला वस्त्र था।[२] निशीथ चूर्णी में दुकूल को दुकूल नामक वृक्ष की छाल को कूटकर इसके रेशे से बनाये जाने वाला वस्त्र कहा गया है।[३] हर्षचरित में दुकूल का प्रयोग उत्तरीय, अधोवस्त्र, साड़ी चादर आदि के रूप में किये जाने का उल्लेख है।[४] वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार सम्भवतः कूल का अर्थ देश्य या आदिम भाषा में कपड़ा था, जिससे कौलिक शब्द बना है। दोहरी चादर या थान के रूप में विक्रयार्थ आने के कारण पट्ट द्विकूल या दुकूल कहलाने लगा।[५] यशस्तिलक में भी दुकूल का उल्लेख पाया गया है; राजपुर में दुकूल और अंशुक की बैजंतियाँ (पताकायें) लगाई गयी थीं।[६] इसी ग्रन्थ में आगे बताया गया है कि राज्याभिषेक के बाद सम्राट यशोधर ने धवल दुकूल धारण किये।[७] हम्मीर महाकाव्य में नीले रंग के दुकूल का उल्लेख है।[८]

इन सभी उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि दुकूल श्वेत, नीले तथा लाल आदि विभिन्न रंगों का होता था जो मृदु, स्निग्ध तथा कीमती किस्म का कपड़ा समझा जाता था।

अंशुक—समराइच्च कहा के उल्लेख से पता चलता है कि अंशुक एक प्रकार का महीन एवं सुन्दर रेशमी वस्त्र था।[९] मोतीचन्द के अनुसार यह चन्द्र किरण एवं श्वेत कमल के समान सफेद होता था।[१०] बुनावट के अनुसार इसके कई भेद बनाये गये हैं, यथा एकांशुक, अर्ध्यर्धांशुक, द्वयंशुक और त्रयंशुक आदि।[११]

---

१. मोतीचन्द्र—प्राचीन भारतीय वेशभूषा, भूमिका, पृ० ९।
२. आचारांग सूत्र २५।१३—दुकूलं गौड विषय विशिष्टं कार्पासिकम्।
३. निशीथ चूर्णी ७, पृ० १०-१२ दुगुल्लो रुक्खो तस्स वागो घेतुं उदूखले कुट्टिज्जति वाणिएण तात जाव भूसी भूतो ताहे कज्जति एतेषु दुगुल्लो।
४. हर्षचरित—१, पृ० ३४; ३, पृ० ८५ तथा ५, पृ० १७२।
५. वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ७६।
६. यशस्तिलक, पृ० १९ (दुकूलांशुक बैजयन्ती संततिभिः)।
७. यशस्तिलक, पृ० ३२३ धृत धवल दुकूल माल्य विलेपनालंकारः।
८. दशरथ शर्मा—अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ० २६२ में उद्धृत।
९. सम० क० १, पृ० ७४।
१०. मोतीचन्द—प्राचीन भारतीय वेशभूषा, पृ० ५५।
११. वही पृ० ५५।

आचारांग सूत्र में अंशुक और चीनांशुक दोनों का उल्लेख मिलता है।[१] बृहत्-कल्पभाष्य में दोनों को पृथक्-पृथक् गिनाया गया है।[२] कालिदास ने भी सीतांशुक[३], अरुणांशुक[४] रक्तांशुक[५] तथा नीलांशुक[६] का उल्लेख किया है। हर्षचरित में भी एक स्थान पर मृणाल के रेशों से अंशुक की सूक्ष्मता का दिग्द-र्शन कराया गया है।[७] एक अन्य स्थान पर फूल-पत्तियों और पक्षियों की आकृतियों से सुशोभित अंशुक का भी उल्लेख हुआ है।[८] आदिपुराण में भी रंग-भेद से इसे सितांशुक, रक्तांशुक और नीलांशुक आदि कई नामों से उल्लिखित किया गया है।[९]

यशस्तिलक में भी सफेद अंशुक, कुसुम्भांशुक या ललाई लिए हुए रंग का अंशुक[१०] तथा कार्दमिकांशुक अर्थात् नीला या मटमैले रंग का अंशुक[११] आदि का उल्लेख है। रंग आदि के भेद से अंशुक कई प्रकार का होता था जो संभवतः दुकूल से निम्नकोटि का कपड़ा माना जाता था।[१२] यह सुन्दर, स्निग्ध तथा महीन होता था।

चीनांशुक—समराइच्च कहा में चीनांशुक नामक वस्त्र का भी उल्लेख है।[१३] यह एक प्रकार का पतला एवं स्निग्ध रेशमी वस्त्र था। इसका उल्लेख अन्य जैन ग्रन्थों में भी किया गया है।[१४] बृहत्कल्पभाष्य में इसकी व्याख्या कोषकार नामक कीड़े से अथवा चीन जनपद के बहुत पतले रेशम से बने वस्त्र से की गई है।[१५]

१. आचारांग २।१४।६—अंशुयाणि वा चीणांसुयाणि वा।
२. बृहत्कल्पभाष्य सूत्र ४।३६६१—'अंसुग चीणंसुगे च विगलेंदी।'
३. विक्रमोर्वशी ३।१२—सितांशुका मंगल मात्र भूषणा।
४. रघुवंश ९।४३—'अरुणरागनिषेधिभिरंशुकैः।'
५. ऋतु संहार ६।४।२९।
६. विक्रमोर्वशी, पृ० ६०।
७. हर्षचरित १, पृ० १०।
८. वही १, पृ० ११४—बहुविधिकुसुमशकुनिशतशोभितादतिस्वच्छादंशुकात्।
९. आदिपुराण १०।१८१, ११।१३३, १२।३०, १५।२३।
१०. यशस्तिलक—उत्तर खण्ड, पृ० १३—'सित पताकांशुक।'
११. वही पृ० १४—कुसम्भांशुक पिहित गौरीपयोधरः।
१२. वही पृ० २२०—'कार्दमिकांशुकाधिकृत काय परिकरः।'
१३. सम० क० ५, पृ० ४३८।
१४. आचारांग २।१४।६; भगवतीसूत्र ९।३३।९; निशीथ चूर्णी ७, पृ० ११।
१५. बृहत्कल्पभाष्य ४।३६।६२।

दशरथ शर्मा के अनुसार चीनांशुक चीनी सिल्क की भांति जान पड़ता है।[१]

अर्धचीनांशुक—चीनांशुक की भाँति समराइच्च कहा में अर्धचीनांशुक का भी उल्लेख है।[२] संभवतः यह आधा रेशम तथा आधा सूत का बना होता था अथवा चीनांशुक के छोटे नाप का टुकड़ा था।

देवदूष्य—यह एक दिव्य किस्म का वस्त्र था जिसका प्रयोग अधिकतर धार्मिक प्रवृत्ति के लोग तथा राजा-महाराजा ही करते थे।[3] आदिपुराण में दुष्य का उल्लेख है जिसके अनुसार दूष्यशाला[४] कपड़े की चांदनी के लिए उपयुक्त समझा जाता था। वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार स्तूपके शरीर पर जो कीमती वस्त्र चढ़ाये जाते थे वे देवदूष्य कहलाते थे।[५] भगवती सूत्र में देवदूष्य को एक प्रकार का दैवी वस्त्र बताया गया है जिसे भगवान महावीर ने धारण किया था।[६]

क्षौम वस्त्र—समराइच्च कहा में इसका उल्लेख कई जगह किया गया है।[७] वैदिक साहित्य में भी इसका उल्लेख है जिसे मोतीचन्द ने अलसी की छाल से निर्मित बताया है।[८] तैत्तिरीय संहिता में भी इसका उल्लेख आया है।[९] आश्वलायन श्रौतसूत्र में क्षौम का उल्लेख दान देने के संदर्भ में हुआ है।[१०] आदिपुराण में भी क्षौम का उल्लेख है जो अत्यधिक कीमती, मुलायम और सूक्ष्म होता था।[११] हर्षचरित से पता चलता है कि आसाम के राजा भास्करवर्मन ने हर्ष को बहुत से क्षौम के लम्बे टुकड़े भेंट स्वरूप प्रदान किये थे।[१२] वासुदेवशरण

१. राजस्थान भारती, ५—में—दशरथ शर्मा—दशवीं शताब्दी में आनन्द मुक्तादि की सामग्री।
२. सम० क० २, पृ० १००।
३. वही ४, पृ० २९१; ९, पृ० ८९८, ९११, ९५७, ९७३।
४. आदिपुराण २७।२४।
५. वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ७५।
६. भगवती सूत्र १५।१।५४१।
७. सम० क० ७, पृ० ६३४-३५, ६४७।
८. मोतीचन्द—प्राचीन भारतीय वेशभूषा, भूमिका पृ० ४।
९. तैत्तिरीय संहिता ६।१।१।३।
१०. आश्वलायन श्रौत सूत्र २।३।४।१७।
११. आदिपुराण १२।१७३।
१२. हर्षचरित ७, पृ० २१७।

अग्रवाल के अनुसार यह आसाम और बंगाल में उत्पन्न एक प्रकार की घास से निर्मित किया जाता था।[१] काशी और पुण्ड्र देश क्षौम के लिए प्रसिद्ध थे।[२] उपरोक्त उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि क्षौम एक प्रकार का महीन, कीमती एवं सुन्दर वस्त्र था जिसका प्रयोग अधिकतर धनी, सम्पन्न एवं राजघराने के लोग ही कर पाते थे।

पटवास—समराइच्च कहा में पटवास का भी उल्लेख है।[3] आदिपुराण में पटांशुक का उल्लेख है[४], जिसका अर्थ रेशमी वस्त्र से लगाया जा सकता है। पटवास और पटांशुक एक दूसरे से भिन्न थे। पटांशुक एक कीमती रेशमी वस्त्र था जिसका प्रयोग धनिक ही कर पाते थे; जबकि पटवास सूती एवं सस्ते किस्म का वस्त्र था जिसका प्रयोग साधारण लोग भी करते थे। हर्षचरित में राज्यश्री के विवाह के समय नये रंगे हुए दुकूल वस्त्रों के बने हुए पटवितान लगे हुए थे और पूरे थान में से पट्टियाँ और छोटे-छोटे पट्ट फाड़ कर अनेक प्रकार की सजावट के काम में लाये जा रहे थे। यहाँ वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार संभवतः पूरा थान था और पटी लम्बी पट्टियाँ थी जो झालर आदि के काम में लायी जा रही थी।[५] इन सब उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि पटवास संभवतः साधारण किस्म का कपड़ा रहा होगा।

वल्कल—इसका प्रयोग अधिकतर जंगल में रहने वाली जातियाँ अथवा साधु सन्यासी ही करते थे।[६] छाल के वस्त्र को वल्कल कहा जाता था जो बौद्ध भिक्षुकों को अविहित थे।[७] कालिदास ने कुमारसंभव में वल्कल वस्त्र का उल्लेख किया है।[८] बाणभट्ट ने उत्तरीय और चादर के रूप में वल्कल के प्रयोग का उल्लेख किया है।[९] हर्षचरित में उल्लिखित है कि सावित्री ने कल्पद्रुम की छाल से निर्मित वल्कल वस्त्र धारण किया था।[१०]

१. वासुदेव शरण अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ७६।
२. मोतीचन्द—प्राचीन भारतीय वेशभूषा, भूमिका, पृ० ९।
३. सम० क० ७, पृ० ६४५।
४. आदिपुराण ११।४४।
५. वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ०, ८१।
६. सम० क० ८, पृ० ७९८।
७. मोतीचन्द—प्राचीन भारतीय वेशभूषा, पृ० ३१।
८. कुमारसंभव, ६।९२।
९. हर्षचरित १, पृ० ३४; १, पृ० १४५; कादम्बरी, पृ० ३११, ३२३।
१०. हर्षचरित—१, पृ० १०।

अन्य वस्त्र

उत्तरीय—समराइच्च कहा में उत्तरीय को चादर के रूप में उल्लिखित किया गया है जो कमर से ऊपर ओढ़ने के प्रयोग में आता था।[१] इसे कन्धों पर धारण किया जाता था।[२] यशस्तिलक में लल्लिखित है कि मुनिकुमार युगल शरीर की शुभ्र प्रभा के कारण ऐसे प्रतीत होते थे जैसे उन्होंने दुकूल का उत्तरीय ओढ़ रखा हो।[३] आगे इसी ग्रन्थ में उल्लिखित है कि कुमार यशोधर के राज्याभिषेक का मुहूर्त निकालने के लिए जो ज्योतिषी इकट्ठे हुए थे वे दुकूल के उत्तरीय से अपना मुंह ढके थे।[४] अमरकोष में उत्तरीय को ओढने वाला वस्त्र बताया गया है।[५] कादम्बरी और हर्षचरित में उत्तरीय का उल्लेख है।[६] हर्षचरित में वल्कल के भी उत्तरीय का उल्लेख मिलता है।[७] इन सभी प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि उत्तरीय का प्रयोग कमर से ऊपर ओढने के लिए होता था। यह विभिन्न किस्म का होता था।

कम्बल[८]—यह भेड़-बकरों के बाल से तैयार किया जाने वाला वस्त्र था जो ओढने के लिए प्रयुक्त होता था। कम्बल का प्राचीनतम उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है।[९] आदिपुराण में भी इस वस्त्र का नाम आया है।[१०] ह्वेनसांग के अनुसार यह भेड़, बकरों के ऊनसे निर्मित किया जाता था और मुलायम तथा सुन्दर होता था।[११]

१. समम० क० ४, पृ० २५४, २६९; ५, पृ० ४२३, ४४४;५, पृ० ४९५; ९, पृ० ८६२।

२. ए० के० मजूमदार—चालुक्याज आफ गुजरात, पृ० ३५६।

३. यशस्तिलक, पृ० १५९, वपुप्रभापटल दुकूलोत्तरीयम्।

४. यशस्तिलक, पृ० ३१६ उत्तरीय दुकूलांचल विहित विम्बिना।

५. अमरकोष २।६।११८। संव्यानमुत्तरीयं च।

६. हर्षचरित १, पृ० ३४; ५, पृ० १६२; कादम्बरी पृ० ८५, ९५, १३८, १७४।

७. हर्षचरित १, पृ० ३४; ४, पृ० १४३।

८. वही ३, पृ० ६५६, ६६१।

९. अथर्ववेद १४।२।६६-६७।

१०. आदिपुराण ४७।४६।

११. वाटर्स—आन युवानच्वांग १, पृ० १४८।

चेल वस्त्र[१]—यह एक मोटा और मजबूत किस्म का कपड़ा होता था। समराइच्च कहा में चेलगृह[२] का उल्लेख है जिससे पता चलता है कि यह एक मोटा तथा मजबूत कपड़ा रहा होगा जो दरी, गलीचा, तथा तम्बू आदि बनाने के काम में आता था। भगवती सूत्र में भी चेल का उल्लेख है जिसे साधारण लोग अथवा साधु-सन्यासी धारण करते थे।[3]

स्तनाच्छादन—समराइच्च कहा में मणि रत्नों से जटिल एक प्रकार का वस्त्र बताया गया है जिसका प्रयोग राजघरानों की स्त्रियाँ करती थी।[४] यहाँ इसका व्यवहार वक्ष बन्धनी के रूप में किया गया है। वैदिक काल में आर्य स्त्रियाँ स्तनपट्ट धारण करती थी।[५] यहाँ इसका व्यवहार वक्ष बन्धनी के रूप में किया गया है। गुप्त काल में भी उस समय के सिक्कों पर स्तन पट्ट धारण की हुई स्त्रियों के चित्र अंकित हैं।[६] आदि पुराण में स्तनांशुक शब्द का उल्लेख मिलता है।[७] सम्भवतः यह एक रेशमी वस्त्र का टुकड़ा होता था जिसे स्त्रियाँ वक्ष स्थल पर सामने से लेकर पीछे पीठ की ओर बाँधती थीं। समराइच्च कहा में इसे मणि रत्नों से युक्त बताया गया है जो सौंदर्य वृद्धि के लिए जटित किये गये जान पड़ते हैं।

गण्डोपधान[८]—समराइच्च कहा में इसे रख कर आराम से बैठने के लिए प्रयुक्त समझा गया है। सम्भवतः यह गोल तकिया की तरह का होता था।

अलंगणिका[९]—यह एक प्रकार की लम्बी तकिया होती थी जिसका प्रयोग सोते समय किया जाता था।

आभूषण

हरिभद्र कालीन समाज के लोग विविध प्रकार के आभूषणों का प्रयोग करते थे। वस्त्रों के धारण करने की कला के आविष्कार के साथ-साथ आभूषणों

१. सम० क० ८, पृ० ७६६।
२. वही ७, पृ० ६५६, ६६१।
३. भगवती सूत्र ११।९।४१७, १५।१।५४१।
४. सम० क० २, पृ० ९५।
५. मोतीचन्द—प्राचीन भारतीय वेशभूषा, भूमिका पृ० ४।
६. वही पृ० २३।
७. आदिपुराण १२।१७६, ८।८।
८. सम० क० ९, पृ० ९७४।
९. वही ९, पृ० ९७४।

का भी प्रयोग भारतीय सभ्यता के विकास के साथ-साथ प्रारंभ हुआ।[1] समराइच्च कहा में निम्नलिखित आभूषणों का उल्लेख है।

कुण्डल—इसका उल्लेख समराइच्च कहा में कई स्थानों पर किया गया है।[2] यह कान में पहना जाने वाला एक अलंकार था जिसे स्त्री पुरुष दोनों धारण करते थे। कुण्डल की आकृति गोल-गोल छल्ले के समान होती थी। अमरकोष में इसे कान को लपेट कर पहना जाने वाला आभूषण बताया गया है।[3] इसमें गोल बाली तथा सोने की इकहरी लड़ी लगी होती थी; अजन्ता की चित्रकला में इस तरह के कुण्डलों को चित्रित किया गया है।[4] हम्मीर महाकाव्य में भी कुण्डल का उल्लेख है जिसका प्रयोग पुरुष किया करते थे।[5] यशस्तिलक में आया है कि सम्राट यशोधर चन्द्रकान्त के बने कुण्डल धारण किये थे।[6] इसी ग्रन्थ में आगे उल्लिखित हैं कि मुनिकुमारयुगल बिना आभूषणों के ही अपने कपोलों की कान्ति से ही ऐसे लगते थे मानो कानों में कुण्डल धारण किये हों।[7] आदिपुराण में मणि कुण्डल,[8] रत्न कुण्डल[9], कुण्डली तथा मकराकृत[10] कुण्डल आदि विभिन्न प्रकार के कुण्डलों का उल्लेख है जिससे स्पष्ट होता है कि उस समय विभिन्न प्रकार के कुण्डलों का प्रयोग किया जाता था। यहाँ कुण्डली का तात्पर्य छोटे आकृति के कुण्डल से लगाया जा सकता है।

कटक—समराइच्च कहा में कटक का उल्लेख कई बार किया गया है।[11] इसका प्रयोग स्त्री-पुरुष दोनों करते थे। यह हाथ में पहना जाने वाला

---

१. जे० सी० सिकदार—स्टडीज इन दी भगवती सूत्र, पृ० २४१।
२. सम० क०—१, पृ० ३१; २, पृ० ९६, १००, १३१; ५, पृ० ४५२; ६, पृ० ५८१, ५९५; ७, पृ० ६३९, ६९८; ९, पृ० ९११।
३. अमरकोष २।६।१३०। कुण्डलं कर्ण वेष्टनम्।
४. वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, फलक २०, चित्र ७८।
५. दशरथ शर्मा—अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० २६३ में उद्धृत।
६. यशस्तिलक—पृ० ३६७ (कुण्डलाभ्यामलंकृत श्रवण)।
७. वही पृ० १५९ (कपोलकान्ति कुण्डलित मुखमंडलम्)।
८. आदिपुराण ३३।१२४, ९।१९०, १४।११।
९. वही ४।१७७, १५।१८९।
१०. वही ३।७२।
११. वही १६।३३।
१२. सम० क० १, पृ० ३१; ७, पृ० ७१४-१५-१६, ७२४।

आभूषण था। कटक कदम्ब (पैदल सिपाही) की व्याख्या में वासुदेवशरण अग्रवाल ने बताया है कि सम्भवतः कटक (कड़ा) पहनने के कारण ही उन्हें कटक कदम्ब कहा जाता था।[१] हर्षचरित में भी कटक और केयूर दोनों का उल्लेख आया है।[२] कटक और केयूर दोनों का प्रयोग स्त्री पुरुष करते थे। आदि पुराण में एक स्थान पर दिव्य कटक[3] का उल्लेख है जिसे रत्न जटित कड़ा कहा जा सकता है।

केयूर[४]—इसका प्रयोग स्त्री-पुरुष दोनों करते थे। अमर कोष में अंगद और केयूर को पर्याय बताया गया है।[५] भर्तृहरि ने केयूर का उल्लेख पुरुषों के अलंकार के रूप में किया है।[६] किन्तु इसके विपरीत यशस्तिलक में आया है कि विरह की स्थिति में स्त्रियां बाहु का केयूर पैरों में तथा पैरों का नूपुर बाहु में पहन लेती हैं।[७]

मुद्रिका—समराइच्च कहा में इसे अंगुलियों में पहना जाने वाला अलंकार बताया गया है।[८] मुद्रिका का उल्लेख भगवती सूत्र में भी आया है।[९] यशस्तिलक में अंगूठी के लिए उर्मिका[१०] तथा अंगुलीयक[११] शब्द आये हैं। हर्षचरित में भी उर्मिला का उल्लेख है।[१२] सम्भवतः भँवर के समान चक्कर लगाकर बनायी गई अंगूठी को उर्मिका कहा गया है। त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित में भी स्त्री के आभूषण के रूप में अंगूठी का उल्लेख है।[१३] मुद्रिका का

१. वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १३१।
२. वही, पृ० १७६ में उद्धृत।
३. आदि पुराण २९।१६७।
४. सम० क० १, पृ० ३१; २ पृ० १००; ७, पृ० ६३८।
५. अमरकोष २।६।१०७ (केयूरमंगदं तुल्ये)।
६. भर्तृहरिशतक २।१९। केयूर न विभूषयन्त पुरुषं; देखिए—रघुवंश ६।६८; कुमारसम्भव ७।६९।
७. यशस्तिलक, पृ० ६१७ केयूरचरणेघृतंविरचितं हस्ते च हिंजीरिकम्।
८. सम० क० २, पृ० ९६, ९८।
९. दशरथ शर्मा—अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० २६२।
१०. यशस्तिलक, पृ० ६७ (सरलोर्मिकाभरणः)।
११. वही उत्तर, पृ० १३१ (प्रसादी करोत्यगुलीयकम्)।
१२. हर्षचरित १, पृ० १० (कम्बुनिर्मितोर्मिका)।
१३. ए० के० मजूमदार—चालुक्याज, आफ गुजरात पृ० ३५९ में उद्धृत।

प्रयोग स्त्री-पुरुष दोनों करते थे जो अपने सामर्थ्य के अनुसार सोने-चांदी आदि की बनवाई जाती थी।

कङ्कण—समराइच्च कहा में इसे कण्ठाभरण के साथ उल्लिखित किया गया है।[१] प्राचीन काल में कंकण पहनने का भी प्रचलन था। भर्तृहरि ने इसे कलाई का आभूषण कहा है।[२] यशस्तिलक में आया है कि यौधेय जनपद में कृषकों की स्त्रियाँ सोने के कंकण पहनती थी।[3] अतः स्पष्ट है कि हरिभद्र के काल में कंकण का प्रचलन स्त्री-पुरुष दोनों में था।

नूपुर—समराइच्च कहा में इसे स्त्रियों के अभूषण के रूप में उल्लिखित किया गया है।[४] यह पैर में पहना जाने वाला स्त्रियों का एक अलंकार था। हितोपदेश में नूपुर को पैर का आभूषण बताया गया है।[५] आदिपुराण में मणिनूपुर का उल्लेख है।[६] नूपुर को राजस्थान में नेवरी कहा जाता था।[७] हर्ष चरित में भी नूपुर को स्त्रियों का आभूषण बताया गया है,[८] जिसे पैर में धारण करती थीं।

रत्नावली—यह रत्नों की बनी हुई माला होती थी जिसे राजघरानों की स्त्रियाँ ही धारण करती थीं।[९] रत्नावली का उल्लेख भगवती सूत्र[१०] तथा आदि पुराण[११] में आया है। रत्नावली में नाना प्रकार के रत्न गूँथे जाते थे और मध्य में एक बड़ी मणि जटित रहती थी।

हार—समराइच्च कहा में हार का उल्लेख कई बार किया गया है।[१२] यह

---

१. सम० क० ६, पृ० ५९७ (ठवेमि एयस्स समीवे छिन्नकंकणं कण्ठाहरणं)।
२. भर्तृहरिशतक २।७१। (दानेन पाणिर्न तु कंकणेन विभाति····)।
३. यशस्तिलक पृ० १५।
४. सम० क० २, पृ० ८२, ९५; ४, पृ० २६९; ६, पृ० ४९३; ७, पृ० ६३९; ८, पृ० ७११; ९, पृ० ९४४।
५. हितोपदेश २।७१ 'नहि चूड़ामणिः पादे नूपूरं मूर्ध्निर्धार्यंते।'
६. आदिपुराण ७।२३७, १२।२२, ५।२६८, ७।१२९।
७. दशरथ शर्मा—अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ० २६२।
८. वासुदेव शरण अग्रवाल—हर्ष चरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ६१।
९. सम० क० ४, पृ० २५४, २८५।
१०. भगवती सूत्र ११।११।४३०।
११. आदि पुराण १६।५०।
१२. सम० क० २, पृ० ७६, ८५, ९१, ९६, १००; ३, पृ० २२०; ५, पृ० ३८०, ४५२; ६, पृ० ४९५; ७, पृ० ६१०-११, ६२७, ६३९, ६९८; ९. पृ० ९११।

गले में धारण किया जाने वाला आभूषण था। कालिदास ने हार का उल्लेख कई रूपों में किया है, यथा हार,[१] हारशेखर,[२] हारयष्टि,[३] तारहार[४] तथा लम्बहार[५] आदि। आदिपुराण में एक सौ आठ मुक्ता लड़ियों से युक्त हार का उल्लेख है।[६]

एकावली—समराइच्च कहा के कथा प्रसंग में इसका उल्लेख आया है।[७] मोतियों की एक लड़ी की माला को एकावली कहा गया है जो मोतियों को घने रूप में गूँथ कर बनायी जाती थी। अमर कोष में एकावली को मोतियों की इकहरी माला कहा गया है।[८] गुप्त काल में एकावली सभी आभूषणों से अधिक प्रिय थी। वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार गुप्त कालीन शिल्प की मूर्तियों और चित्रों में इन्द्रनील की मध्य गुरिया सहित मोतियों की एकावली पायी जाती है। यह घने मोतियों को गूँथ कर बनायी जाती थी।[९] यशस्तिलक में उज्ज्वल मोती को मध्य मणि के रूप में लगा कर एकावली बनाने का उल्लेख है।[१०]

मणिमेखला—समराइच्च कहा में इसका उल्लेख कई बार किया गया है।[११] यह स्त्रियों का आभूषण था जिसे मेखला अर्थात कमर में पहने जाने के कारण मेखला कहा जाता था। इसमें मणि-जटित रहते थे। हर्ष चरित में स्त्रियों द्वारा कटि भाग में धारण की हुई करधनी के रूप में इसका उल्लेख है।[१२] भगवती सूत्र,[१३] आदिपुराण[१४] तथा यशस्तिलक[१५] में भी इसका उल्लेख है।

१. ऋतुसंहार १।४, २।१८; मेघदूत—उत्तरमेघ ३०; कुमार सम्भव ५।८।
२. ऋतुसंहार १।६।
३. वही १।८।
४. रघुवंश ५।५२।
५. वही ६।६०।
६. आदिपुराण १६।५८।
७. सम० क० ९, पृ० ९११।
८. अमरकोष २।६।१०६।
९. वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्ष चरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १०२।
१०. यशस्तिलक, पृ० २८८ (तारतरलमुक्ताफलाम्); देखिए—अमरकोष २।६। १५५। (तरलाहारमध्यगा)।
११. सम० क० ५, पृ० ३८४; ६, पृ० ५९७; ७, पृ० ६४४।
१२. वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्ष चरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २४।
१३. भगवती सूत्र ९।३३।३८०।
१४. आदिपुराण १५।२३।
१५. यशस्तिलक, पृ० १०० (मुखरमणिमेखलाआलवालवालित पंचमा लिपिः)।

इन उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि मणि मेखला का प्रयोग सम्पन्न एवं राजघरानों की स्त्रियाँ किया करती थी।

कटिसूत्र—समराइच्च कहा में इसे भी आभूषणों की श्रेणी में गिनाया गया है।[1] यह मणि मेखला की तरह कमर में पहना जाने वाला अलंकार था जिसे अधिकतर राजपुरुष ही धारण करते थे। सम्भवतः यह स्वर्णसूत्र और रेशम का बना होता था। कटिसूत्र का उल्लेख आदिपुराण में भी आया है।[2]

कंठक—समराइच्च कहा में इसका उल्लेख अलंकारों की श्रेणी में हुआ है।[3] किन्तु इसकी बनावट आदि का उल्लेख नहीं है। यह कंठ में पहना जाने वाला एक अलंकार था। अदि पुराण में कंठाभरण[4] का उल्लेख मिलता है जो स्वर्ण और मणियों द्वारा तैयार किया जाता था। सम्भवतः यह स्त्री-पुरुष दोनों का आभूषण था।

मुकुट—[5] समराइच्च कहा में इसे सिर पर बाँधने वाले अलंकार के रूप में प्रमुख समझा गया है, जिसे ताज कहा जाता था। इसका प्रयोग राजा-महाराजा, राजकुमार और राजपरिवार की स्त्रियाँ ही करती थी। अजन्ता की भित्ति चित्रों पर रत्न-जटित लम्बोत्तरा मुकुट, चोटीदार मुकुट, मोती की लड़ी से अलंकृत लम्बोत्तरा मुकुट, कलंगेदार मुकुट आदि विभिन्न प्रकार के मुकुट अंकित किये गये हैं।[6] आदिपुराण में भी कई स्थानों पर मुकुट का उल्लेख है।[7] भगवतीसूत्र से पता चलता है कि ताज का प्रयोग राजा और राजकुमार ही करते थे।[8]

चूड़ामणि—समराइच्च कहा में इके मणि और रत्नों से जटिल बताया गया है।[9] हर्षचरित में मालती के शरीर पर कटि प्रदेश में करधनी, गले में मुक्ताहार, कलाई में सोने का कड़ा आदि के साथ केशों में चूड़ामणि मकरिका नामक आभूषण का उल्लेख है।[10] यह आभूषण स्त्रियाँ अपने बालों को गूँथ कर उसमें

१. सम० क० २, पृ० १००; ४, पृ० २६५; ७, पृ० ६३८, ६४४, ६५९।
२. आदि पुराण १३।६९, १६।२३५, १६।१९।
३. सम० क० ५, पृ० ३८४; ६, पृ० ५९७; ७, पृ० ६४४।
४. आदि पुराण १५।१९३।
५. सम० क० ९, पृ० ९११ (यहाँ देदीप्यमान मुकुट का उल्लेख है)।
६. मोतीचन्द—प्राचीन भारतीय वेशभूषा, भूमिका, पृ० २२।
७. आदिपुराण ९।४१, १०।१२६, १५।५, १६।२३४।
८. भगवती सूत्र ९।३३।३८५, ११।११।४२८।
९. सम० क० २, पृ० ८५, ९६; ७, पृ० ६०६।
१०. वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्ष चरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २४।

धारण करती थी। आदिपुराण में तो चूड़ामणि[1] और चूड़ारत्न[2] दोनों का उल्लेख अलग-अलग किया गया है। यद्यपि अलंकार की दृष्टि से दोनों समान समझे जाते थे; किन्तु मणि और रत्नों के जटित होने के विभेद अलग-अलग नाम गिनाए गये हैं।

अंग प्रसाधन सामग्री

हरिभद्र कालीन समाज के लोग विभिन्न प्रकार के आभूषणों के साथ-साथ अंग प्रसाधन की विभिन्न सामग्रियों का भी प्रयोग करते थे। शरीर के विभिन्न अंगों की शुद्धि तथा उसे सुन्दरतम बनाने के लिए प्रसाधन क्रिया आवश्यक समझी जाती थी। समराइच्च कहा में निम्नलिखित अंग प्रसाधन की सामग्रियों का उल्लेख है।

चंदन[3] (तिलक तथा शरीर में लेपन के लिए आवश्यक समझा जाता था), कुंकुमराग,[4] अंगराग,[5] गंधोदक,[6] हरिचंदन,[7] पद्मराग,[8] आलक्त,[9] तिलक[10]

१. आदिपुराण १४।८, ४।९४।
२. वही ११।१३, २९।१६७।
३. सम० क० २, पृ० ८५, ९४; ४, पृ० ३४५; ५, पृ० ३७५, ४८२; ६, पृ० ५३३, ५४८; ७, पृ० ६३८, ६३९, ६४७; ८, पृ० ७८२; ९, पृ० ९५७; देखिए—स्नान के बाद चंदन तिलक—पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १ पृ० ३७२; रामायण—अयोध्या काण्ड ३।१३; महाभारत सभा पर्व २१।२८; दक्ष स्मृति २।४३; भगवतीसूत्र ८।३३।३८३; आदिपुराण—१।८५, ६।८०।
४. वही २, पृ० ९३; ५, पृ० ३७९, ४७४; ७, पृ० ६३८-३९; ९, पृ० ८६१, ८८१-८२, ९००; देखिए—यशस्तिलक पृ० ६१; आदिपुराण—१२।३४, १३।१७८; वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ७६।
५. वही २, पृ० १३१; ९, पृ० ९००।
६. वही ८, पृ० ७४८; ९, ९५१।
७. वही ५, पृ० ४२४; ७, पृ० ६३८, ६९८; ८, पृ० ७९८; ९, पृ० ९००, ९११।
८. वही ७, पृ० ६३८।
९. वही ६, पृ० ५४८; ७, पृ० ६३९; देखिए—आदि पुराण ७।१३३; यशस्तिलक पृ० १२६ (यथालक्तक मण्डनं विरचितम्)।
१०. वही ५, पृ० ४८२; ७, पृ० ६४०; देखिए—मालविकाग्निमित्र ३।४, ४।९; रघुवंश—१८।४४; आदिपुराण १४।६।

(हरताल तथा केशर आदि द्रव्यों से तैयार किया जाता था), अंजन,[१] लवंग[२] (ताम्बूल में मिलाकर मुखशुद्धि के लिए प्रयोग किया जाता था), काला अगरु,[३] तुरुष्क,[४] कर्पूर,[५] सहस्रपाक तेल[६] (शरीर की स्निग्धता तथा चर्मरोगों का नाशक), अलसी का तेल,[७] हल्दी मिश्रित लेप[८] (हल्दी, तेल तथा अन्य सुगंधित पदार्थों को मिलाकर तैयार किया जाता था जिसके लेप से शरीर स्निग्ध तथा आकर्षक लगने लगता था), सिन्दूर धूल,[९] गुलाल,[१०] कस्तूरी,[११] नागवल्ली दल,[१२] कुसुम माला[१३] तथा ताम्बूल[१४] आदि।

१. सम० क० ६, पृ० ५२१; देखिए—आदिपुराण १४।९।
२. वही १, पृ० १५; ६, ५३८; ८, ७७०; देखिए—रघुवंश ६।५७।
३. वही ३, पृ० १७०, २१९; ९, पृ० ९७३; देखिए—यशस्तिलक, उत्तर खंड पृ० २८ (कालागुरुधूम धूसरित)।
४. वही ३, पृ० १७०।
५. वही २, पृ० ८४; ४, पृ० २९२; ५, पृ० ४२४; ९, पृ० ८६१, ९७४; देखिए—यशस्तिलक, उत्तर खण्ड पृ० २८ (कर्पूर दल दंतुरित); आदिपुराण—३१।६१।
६. वही ९, पृ० ९५७; देखिए—चरक संहिता भाग २ पृ० ८३४।
७. वही ९, पृ० ९६०।
८. वही ९, पृ० ८९७।
९. वही ९, पृ० ८९७; देखिए—यशस्तिलक, उत्तर खण्ड पृ० ५।
१०. वही ९, पृ० ८८१।
११. वही ९, पृ० ८८१; देखिए—वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १७३ (यहाँ कस्तूरिकाकोशक का उल्लेख है)।
१२. वही २, पृ० ९१; देखिए—आदिपुराण १२।५३ (यहाँ आया है कि स्त्रियाँ बेला, चमेली, चंपक आदि विभिन्न प्रकार के सुगन्धित पुष्पों से बालों को अलंकृत करती थी)।
१३. वही ५, पृ० ३७९; ९, पृ० ९०१; देखिए—भगवती सूत्र ११।११।४२८; आदिपुराण २०।१८, ११।१३३, १६।२३४, ३१।९४।
१४. वही २, पृ० ८०, ८४, ९०, १३१; ४, पृ० २९२; ५; पृ० ३६९, ३८१, ३८३; ७, पृ० ६४७; ८, पृ० ७६६; ९, पृ० ९०१, ९०५, ९५८; देखिए—हजारी प्रसाद द्विवेदी—प्राचीन भारत के कलात्मक मनोविनोद पृ० २३-२४ (यहाँ हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार आर्य लोग भारतवर्ष में आने के पूर्व ताम्बूल लता से परिचित न थे और न तो उसके उपयोग

अंग प्रसाधन के उपकरणों का प्रचलन अति प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। श्रीमद्भागवत पुराण में शरीर पर कुंकुम, अंगराग, चंदन आदि के लेप करने का उल्लेख है।[1] बुद्ध कालीन समाज में भी कस्तूरी, चंदन, अगरु तथा केसर का प्रयोग किया जाता था।[2] वात्स्यायन कामसूत्र में सुगन्धित तेल के साथ-साथ चंदन लेप का विशेष महत्त्व बताया गया है।[3] विकास की गति के साथ ही हरिभद्र के काल में भी सामन्तवादी सामाजिक व्यवस्था की पृष्ठभूमि में अंगप्रसाधन की सामग्रियों का अधिक उपयोग देखने को मिलता है।

मनोरंजन के साधन

जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए मनोरंजन एक आवश्यक तत्त्व है। मनोरंजन से चित्त की प्रसन्नता के साथ-साथ नवीन स्फूर्ति एवं नयी चेतना की उपलब्धि होती है। हरिभद्र के काल में लोग विविध प्रकार से अपना मनोरंजन किया करते थे। समराइच्च कहा में कलात्मक मनोविनोद, क्रीड़ा एवं अन्य खेल-कूद तथा उत्सव-महोत्सव एवं गोष्ठियों के आयोजन का उल्लेख है।

कलात्मक मनोविनोद

नाटक—समराइच्च कहा में अनेक स्थलों पर नाट्य-कला का उल्लेख है।[4] नाटक खेलने के लिए अलग से नाट्य-शालाएँ होती थी, जहाँ उसके पात्र संगीत वाद्य एवं नृत्य के साथ नाट्य-कला का प्रदर्शन करते थे। राजा, महाराजा तथा सामन्तों के अन्तःपुर में अलग से नाट्य शालायें होती थी जहाँ स्त्रियाँ अपना मनोरंजन करती थी। नाट्य कला का उल्लेख वैदिक काल से प्राप्त होता है।

को ही जानते थे। आर्यों ने ताम्बूल पत्र का प्रयोग नाग जातियों से ग्रहण किया, इसी प्रसंग के आधार पर वे नागबल्ली शब्द की उत्पत्ति मानते हैं); शिव शेखर मिश्र—मानसोल्लास एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २५१ (यहाँ शिवशेखर मिश्र के अनुसार भारत में २००० वर्ष पूर्व इस नागवल्ली का सेवन जावा, सुमात्रा, आदि दक्षिणी सामुद्रिक टापुओं से प्रारम्भ हुआ। कुछ ही समय पश्चात् धीरे-धीरे सम्पूर्ण भारत की सभी जातियों में इसका प्रचलन हो गया और इस ताम्बूल के उपयोग को सर्वश्रेष्ठ समझा जाने लगा); कामसूत्र १४।४।१६; मानसोल्लास ३।४०।९६१।

१. श्रीमद्भागवत पुराण १०।६०।२३।
२. शिवशेखर मिश्र—मानसोल्लास एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २६६।
३. वही पृ० २६६।
४. सम० क० १, पृ० १६; ४, पृ० ३०९; ९, पृ० ८६५, ९५४, ९७३।

नाट्य शास्त्र के उल्लेख से पता चलता है कि नाटक का सृजन करते समय ब्रह्मा ने यजुर्वेद से ही अभिनय को ग्रहण किया था।[१] वाजसनेयि संहिता में शैलूषा नामक अभिनेता का उल्लेख है,[२] जिससे स्पष्ट होता है कि उत्तर वैदिक काल में नाट्यकला का प्रदर्शन किया जाने लगा था। कामसूत्र में भी नाटक और उसकी कहानी का उल्लेख है जिससे स्पष्ट होता है कि उस समय के लोग नाट्यकला से परिचित थे।[3] जैन ग्रन्थ आदि पुराण में उल्लिखित है कि ऋषभदेव के मनोरंजन हेतु इन्द्र आदि देवों ने अनेक प्रकार के नाटकों का प्रर्शन किया था।[४]

छन्द[५]—संगीत वाद्य की तरह समराइच्च कहा के अनुसार छन्द रचना द्वारा भी मनोविनोद किया जाता था। कामसूत्र में नाटक, आख्यायिका आदि के साथ छन्द ज्ञान को कलाओं के अन्तर्गत गिनाया गया है।[६]

नृत्य—समराइच्च कहा में संगीत कला के अन्तर्गत नृत्य कला को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। नृत्य-गीत और वाद्य की लय, ताल तथा ध्वनि के आधार पर किया जाता था।[७]

विना गीत और वाद्य के नृत्य का अस्तित्त्व ही नहीं समझा जाता था। विवाह अथवा किसी अन्य उत्सव, महोत्सव आदि के समय वेश्यायें नृत्य कला का प्रदर्शन करती थी।[८] नृत्य-कला का प्राचीनतम उल्लेख हमें ऋग्वैदिक काल में प्राप्त होता है। उस काल में औरतें नृत्य कला का प्रदर्शन करती थी।[९] श्रीमद्भागवत पुराण में भी नृत्य कला का उल्लेख है। गोपियों के साथ भगवान् कृष्ण रास लीला के समय नृत्य करते हुए दिखाये गये हैं[१०] कामसूत्र में भी

१. नाट्यशास्त्र १।१७।
२. वाजसनेयि संहिता ३०।६।
३. एच० सी० चकलादर—सोशल लाइफ इन ऐंसियन्ट इण्डिया—स्टडीज इन कामसूत्र, पृ० १६४।
४. आदि पुराण १४।९७, ३७।५९।
५. सम० क० १, पृ० १६।
६. एच० सी० चकलादर—सोशल लाइफ इन ऐंसियन्ट इण्डिया—स्टडीज इन कामसूत्र, पृ० १६५।
७. सम० क० १, पृ० १६, २२, ७१; ४, पृ० ३०९; ६, पृ० ५७२—कहंगीय वाइयेण विणा नच्चामि। कुमारेहि भणियं। अम्हे गीय वाइयं करेमो।
८. सम० क० ६, पृ० ५४७; ७, पृ० ६३३-३४; ८, पृ० ७६६।
९. पुरुषोत्तम लाल भार्गव—इण्डिया इन दी वैदिक एज, पृ० २५०।
१०. श्रीमद्भागवत पुराण—१०।१८।१३।

विविध कलाओं के अन्तर्गत नृत्य कला का भी उल्लेख है।[1] मानसोल्लास में उत्सव, जय, हर्ष, काम, त्याग, विलास, विवाद तथा परीक्षा इन आठ अवसरों पर नृत्य कराने का उल्लेख है।[2] इसी ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि नृत्य में अपांग, अंग तथा प्रत्यंग आदि का प्रयोग होता था।[3] आदि पुराण में भी विभिन्न प्रकार के उत्सव एवं महोत्सवों पर नृत्य कला के आयोजन का उल्लेख है।[4] इन उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि पूर्व-मध्य काल में मनोरंजन के साधनों के अन्तर्गत नृत्यकला को एक आवश्यक अंग समझा जाता था।

गीत[5]—यह सर्व साधारण से लेकर धनी-सम्पन्न तथा राजपरिवार वालों के मनोविनोद का एक साधन था। जन्मोत्सव, विवाहोत्सव, वसंतोत्सव आदि के समय वाद्य गोष्ठी, नाट्य प्रदर्शन आदि के साथ संगीत का भी आयोजन किया जाता था। संगीत कला का प्राचीनतम उल्लेख हमें वैदिक काल से प्राप्त होता है। आर्य लोगों के मनोविनोद के साधनों में संगीत को अत्यधिक महत्व दिया जाता था। इसका प्रदर्शन वाद्य यन्त्रों तथा बिना वाद्य यन्त्रों के साथ भी किया जाता था।[6] कामसूत्र में भी संगीत कला का उल्लेख है।[7] आदिपुराण में तो संगीत कला को मनोविनोद का अभिन्न अंग माना गया है।[8] मानसोल्लास में स्वर, ताल एवं पदबन्ध आदि में प्रवीण गायक को अति उत्तम बताया गया है।[9] इसी ग्रन्थ में संगीत कला का विस्तृत विवरण देते हुए सोमेश्वर ने गीत विनोद के अन्तर्गत गायकों के भेद, गाने का नियम तथा अनेक प्रकार के रागों का वर्णन किया है।[10]

वाद्य कला—नृत्य और गान में वाद्य कला का महत्वपूर्ण योग रहता है।

---

१. एच० सी० चकलादर—सोशल लाइफ इन ऐंसियन्ट इंडिया—स्टडीज इन कामसूत्र, पृ० १६५।
२. शिवशेखर मिश्र—मानसोल्लास एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ४३१।
३. वही पृ० ४३३।
४. आदिपुराण १२।१८८, १४।१९२।
५. सम० क० १, पृ० २२, ७१; ४, पृ० ३०९; ५, पृ० ३७३।
६. पुरुषोत्तम लाल भार्गव—इंडिया इन दी वैदिक एज, पृ० २४९।
७. एच० सी० चकलादर—सोसल लाइफ इन ऐंसियन्ट इंडिया—स्टडीज इन कामसूत्र, पृ० १६५।
८. आदिपुराण ४५।१८३।
९. मानसोल्लास ४।१६।१७९०-९६।
१०. शिवशेखर मिश्र—मानसोल्लास एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ४१४।

समराइच्च कहा में वीणा[1], शृङ्ग[2], भेरी[3], तूर्य[4], (तुरही), शंख[5], घंटा[6], ढोल[7], मृदंग[8], झाल[9] और पटह[10] (ढोल और मृदंग की तरह का वाद्य यंत्र) आदि कई प्रकार के वाद्यों का उल्लेख है। कभी-कभी वीणा वादन का अलग से आयोजन किया जाता था।[11] ऋग्वेद में वाण नामक वाद्य का उल्लेख है।[12] तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी वीणा वादन का उल्लेख है।[13] मेघदूत में तो यक्ष की पत्नी वीणा बजा-बजा कर पति के गुणों का गान करती है।[14] कामसूत्र में भी विभिन्न कलाओं के अन्तर्गत वाद्य कला का विशिष्ट स्थान है।[15] मानसोल्लास में उल्लिखित है कि वाद्य से पूर्ण नृत्य तथा संगीत की शोभा बढ़ जाती है और इसी कारण नृत्य तथा संगीत में वाद्य की प्रधानता रहती है।[16] इस ग्रन्थ में पटह, हुटका, ढक्का तथा धडस इन चार प्रकार के वाद्यों का वर्णन है।[17] सोमेश्वर ने वादन कला में भी ताल को विशेष महत्व दिया है।[18]

१. सम० क० १, पृ० १०, ७१; २, पृ० ८२; ५, पृ० ३७५-७६, ३८२; ६, पृ० ५४९; ९, पृ० ८६५।
२. वही ७, पृ० ६५६; ९, पृ० ८९७।
३. वही ७, पृ० ६४४; ९, पृ० ८९७।
४. वही १, पृ० १०; ४, पृ० ३४०; ७, पृ० ६३३-३४, ६३६, ६४५, ६९९; ८, पृ० ६५१, ७६६, ७७१, ७८८; ९, पृ० ८९७, ९३४।
५. वही ३, पृ० २११; ७, पृ० ६३४; ९, ९३८।
६. वही ३, पृ० २३६; ६, पृ० ५३२; ७, पृ० ६४४।
७. वही १, पृ० १०।
८. वही १, पृ० १०; ४, पृ० ३०९।
९. वही १, पृ० १०।
१०. वही ६, पृ० ५३१; ७, पृ० ६९९, ७०३।
११. सम० क० १, पृ० ७२; २, पृ० ८२; देखिए आदि० १४।१९२।
१२. ऋग्वेद १।८५।१०।
१३. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।४।१४।
१४. मेघदूत—उत्तरमेघ—२६।
१५. एच० सी० चकलादर—सोसल लाइफ इन ऐंसियन्ट इंडिया—स्टडीज इन कामसूत्र, पृ० १६५।
१६. मानसोल्लास—४।१७।२४७०।
१७. वही ४।१७।२४७३-७७।
१८. वही ४।१७।२७३०-३१।

चित्रकला—समराइच्च कहा में चित्रकला का भी उल्लेख है। लोगों के हृदयगत भाव रंग एवं तूलिका के साथ चित्रपट्टिका पर चित्र के रूप में प्रस्तुत दिखाई पड़ते हैं।[1] अर्थात् चित्रकार अपनी हृदयगत भावनाओं को अपनी अनुपम चित्रकला में परिणत कर देने की क्षमता रखता था। कहीं गन्धर्वों के चित्र स्वर एवं संगीत मुद्रा में दृष्टिगत होते हैं[2], तो कहीं विद्याधरी, चक्रवाक तथा मधुकर आदि के चित्र[3] कला के अनुपम उदाहरण स्वरूप दृष्टिगत होते हैं। समराइच्च कहा में कहीं वानमंतर तथा मयूर के जीते-जागते चित्र[4] तो कहीं नारी के आकर्षक चित्र चित्रपट्ट पर अंकित मिलते हैं।[5] चित्रकला के अंकन में रंग[6], तूलिका[7] तथा चित्र पट्टिका[8] की अत्यधिक आवश्यकता समझी जाती थी। समराइच्च कहा में चित्रकला के प्रदर्शन के लिए चित्र शालाओं का भी उल्लेख है,[9] जहाँ चित्रकार अपनी कलात्मक रचना का प्रदर्शन किया करते थे। आदि पुराण में ऋषभदेव के मनोरंजनार्थ चित्रगोष्ठी के आयोजन का उल्लेख है[10], जिसमें विभिन्न प्रकार की चित्रकारिता का प्रदर्शन किया गया था।

क्रीड़ा एवं अन्य खेलकूद

कन्दुक क्रीड़ा—समराइच्च कहा मे मनोविनोद के साधनों में कंदुक क्रीड़ा का भी उल्लेख है।[11] राज परिवारों के अन्तःपुर की स्त्रियों द्वारा कंदुक क्रीड़ा करने की बात कही गई है। आदिपुराण में जयकुमार ने अपने अतिथियों के सम्मान में कन्दुक क्रीड़ा का आयोजन किया था।[12]

१. सम० क० ८, पृ० ७४९-५०; ९, पृ० ८६५।
२. वही ८, पृ० ७५७।
३. वही २, पृ० ९२।
४. वही ७, पृ० ६१०-११, ६२५।
५. वही ८, पृ ७३९-४०, ७४३।
६. वही २, पृ० ८९; ९, पृ० ८६३।
७. वही २, पृ० ८९; ९, पृ० ८६३।
८. वही ८, पृ० ७५३-५४, ७५६।
९. वही ४, पृ० ३०९; ७, पृ० ६२५।
१०. आदिपुराण १४।१९२।
११. सम० क० १, पृ० २२; २, पृ० ८२।
१२. आदिपुराण ४५।१८३ (नृत्यगीत सुखालापैर्वीणादिभिः। वनवापी सरः क्रीडाकन्दुकादिविनोदनैः)।

जलक्रीड़ा[१]—नदियों तथा घर की बावड़ियों में स्नान आदि के साथ-साथ स्त्री-पुरुष जल क्रीड़ा द्वारा अपना मनोरंजन किया करते थे। आदि पुराण में भी जल क्रीड़ा का उल्लेख है।[२] यहाँ कुमार ऋषभदेव मनोरंजन के लिए देव कुमारों के साथ जल क्रीड़ा करते हुए दिखाये गये हैं।[3] मानसोल्लास में उल्लिखित है कि ग्रीष्म ऋतु में सूर्य के अत्यन्त तीव्र होने पर प्रचण्ड धूप में राजा जल क्रीड़ा करता था।[४] राजा यह जलक्रीड़ा नदी, पुष्करिणी अथवा कण्ठतक के निर्मल जल पूर्ण सोपान युक्त जलाशय में करता था।[५] जलक्रीड़ा का स्थल प्राकार द्वारा चारों तरफ से घिरा रहता था।[६] मानसोल्लास में राजा का तरुणियों के साथ जल क्रीड़ा करने का उल्लेख है।[७] श्रीमद्भागवत पुराण में श्री कृष्ण गोपियों के साथ जल क्रीड़ा करते हुए दिखाये गये हैं।[८] कामसूत्र में जलक्रीड़ा को ग्रीष्मकाल की क्रीड़ा कहा गया है।[९] इसी प्रकार रघुवंश[10] तथा किरातार्जुनीय[११] में भी जलक्रीड़ा का उल्लेख है। मुख्यतया यह क्रीड़ा ग्रीष्म ऋतु में की जाती थी।

अन्य क्रीड़ायें—समराइच्च कहा में कन्दुक की भाँति सूत्र क्रीड़ा[१२] (दोनों हाथों में रस्सी पकड़ कर दौड़ते हुए उसे फाँदना), वर्तक्रीड़ा[१३] (घर अथवा महल के वर्तनी पर खेला जाता था), बाह्यक्रीड़ा[१४] (बाहर बागीचों एवं उद्यानों में), नलिका क्रीड़ा[१५] (जल में स्नान करते समय कमल नाल से किया गया खिलवाड़),

१. सम० क० २, पृ० ८२; ९, पृ० ८६५।
२. आदि पुराण १४।२०४, ८।२३-२५।
३. वही १४।२०४-६।
४. मानसोल्लास ५।५।२४१-४४।
५. वही ५।५।२४५।
६. वही ५।५।२४६-४९।
७. वही ५।५।२५०-५२।
८. श्रीमद्भागवत पुराण १०।६५।२० तथा १०।६९।२७।
९. शिवशेखर मिश्र--मानसोल्लास एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ४६४ में उद्धृत।
१०. रघुवंश १६।६१-६७।
११. किरातार्जुनीय ८।३०।५३।
१२. सम० क० ७, पृ० ६३४-३५।
१३. वही ७, पृ० ६३४-३५।
१४. वही ७, पृ० ६३४-३५।
१५. वही ७, पृ० ६३४-३५।

पक्षियों के साथ क्रीड़ा[१], छत पर घूमना[२], आभूषणादि पहनना[३], पत्रच्छेदन क्रीड़ा[४] (विभिन्न प्रकार के वृक्षों के सुन्दर पत्तों में छेदन) आदि क्रीड़ाओं का उल्लेख है। ये सभी मनो-विनोद राज परिवार की स्त्रियों द्वारा सम्पन्न किये जाते थे।

वाह्याली क्रीड़ा[५]—राजा-महाराजा तथा सामंत लोग घोड़े पर चढ़कर वाह्याली क्रीड़ा किया करते थे। वाह्याली राज प्रासाद से बाहर का वह मैदान होता था जहाँ राजा-महाराजा आदि बैठकर अश्व एवं गज की दौड़ देखा करते थे। आदि पुराण में भी वाह्याली क्रीड़ा का उल्लेख है।[६] मानसोल्लास से ज्ञात होता है कि वाह्याली प्रायः सौ धनुष लम्बी और साठ धनुष चौड़ी बनायी जाती थी। उसके मैदान से मिट्टी, पत्थर तथा कंकड़ आदि को हटा कर समतल बना दिया जाता था। यह पूर्व दिशा की ओर ऊँची होती थी तथा इसमें दो विशाल द्वार होते थे। इनके आगे दो विशाल तोरण पूर्व दिशा की ओर मुँह करके बनाये जाते थे। वाह्याली के दक्षिण ओर मध्य भाग में ऊँचा एवं सुन्दर आलोक मन्दिर बनाया जाता था। यह ऊँचा होता था तथा इसके चारो ओर गहरी खाई बनी होती थी। यह अनेक प्रकार के रत्नों एवं सुवर्ण आदि से जटित होती थी। परिखा पर फलक द्वारा पूर्ण मार्ग बनाया जाता था। इसी प्रकार दक्षिण भाग के समीप ही कुछ पीछे परिखा से पूर्ण ऊँचा चित्रों से युक्त भित्ति वाला, सुरम्य, विशाल, आठ स्तम्भों से पूर्ण, स्थूल, हाथियों के वक्षस्थल की ऊँचाई के बराबर पूर्व के द्वार के समीप उत्तर दिशा की ओर एक अन्य मण्डप बनाया जाता था।[७] वाह्याली में दौड़ के लिए जो अश्व उपस्थित किये जाते थे उनकी ग्रीवा में कुंकुम का लेप किया जाता था और उन्हें विभिन्न प्रकार के वस्त्राभूषणों से सज्जित किया जाता था। इस प्रकार अत्यन्त चतुर अश्वारोही दो भागों में आठ-आठ की संख्या में विभक्त हो जाते थे।[८] इन उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि वाह्याली क्रीड़ा राजपुरुषों का एक प्रमुख मनोरंजन था।

---

१. सम० क० २, पृ० ८२।
२. वही २, पृ० ८२।
३. वही २, पृ० ८१-८२।
४. वही २, पृ० ८२।
५. वही १, पृ० १६; ८, पृ० ८४५।
६. आदिपुराण ३७।४७।
७. मानसोल्लास ४।३।५४७ से ५६२।
८. वही ४।४।४९०।

आखेट—समराइच्च कहा में राजा-महराजाओं द्वारा मनोरंजन के लिए आखेट का उल्लेख किया गया है।[१] वन, पर्वत, नदियों के तट, सरोवर के तट एवं गुफा आदि स्थान आखेट के लिए प्रयुक्त होते थे। वैदिक काल में आखेट को मनोरंजन का एक प्रमुख साधन माना जाता था। लोग धनुष-बाण से शेर, कुत्ता एवं जंगली सुअर आदि का शिकार करते थे।[२] कामसूत्र में भी आखेट क्रीड़ा को मनोविनोद का एक साधन बताया गया है।[३] रघुवंश में भी राजा दशरथ द्वारा आखेट क्रिया का उल्लेख है।[४] मानसोल्लास में एकतीस प्रकार की मृगया का उल्लेख है।[५] यहाँ कहा गया है कि पर्वत, गह्वर तथा कन्दराओं से युक्त, कन्टकों से पूर्ण, अधिक पाषाणों से भरे हुए दुर्गम मार्गों से युक्त, चलने में कष्टप्रद, अन्धकारपूर्ण, व्याघ्र, गज तथा सर्प आदि से पूर्ण वन में राजा को मृगया के लिए नहीं जाना चाहिए।[६] इसके अतिरिक्त जो वन पूर्ण रूप से सुरक्षित हो, एक योजन विस्तृत हो, जन कोलाहल से शून्य हो, मृगों से पूर्ण तथा समान भूभाग वाला हो ऐसे अरण्य की रक्षा करना राजा का परम कर्त्तव्य बताया गया है।[७] राजा को चाहिए कि वह अपने नगर के समीप में स्थिति अरण्य में ही मृगया के लिए जाये।[८] इस प्रकार प्राचीन भारत में अन्य क्रीड़ाओं के साथ-साथ आखेट को भी मनोरंजन के साधन में गिना जाता था।

द्यूत-क्रीड़ा—समराइच्च कहा में अनेक स्थानों पर द्यूत क्रीड़ा का उल्लेख है[९], जो तत्कालीन लोगों के लिए मनोरंजन का एक साधन समझा जाता था। इस क्रीड़ा के अच्छे ज्ञाता को द्यूताचार्य कहा जाता था।[१०] ऋग्वेद में एक स्थान पर अक्ष अथवा पाश (द्यूत) क्रीड़ा का उल्लेख है।[११] महाभारत में इसी क्रीड़ा के

१. सम० क० ३, पृ० १७३; ४, पृ० ३२५; देखिए—आदिपुराण ५।१२८।
२. पुरुषोत्तम लाल भार्गव—इंडिया इन दी वैदिक एज, पृ० २५०।
३. एच० सी० चकलादर—सोशल लाइफ इन ऐंसियन्ट इंडिया—स्टडीज इन कामसूत्र, पृ० १७१।
४. रघुवंश ९।४९-५०।
५. मानसोल्लास ४।१५।१४४६-५०।
६. वही ४।१५।१४३३-३५।
७. वही ४।१५।१४४२-४३।
८. वही ४।१५।१४५१-५२।
९. सम० क० ४, पृ० २४३-४४, २५४, २५६।
१०. वही ३, पृ० १८३।
११. ऋग्वेद १०।३४।८।

फलस्वरूप पाण्डवों को निर्वासित जीवन व्यतीत करना पड़ा।[१] मनु ने द्यूत क्रीडा को राजा के लिए निषिद्ध कर्म कहा है।[२] याज्ञवल्क्य ने निर्जीव पासादि से खेली जाने वाली क्रीड़ा को द्यूत कहा है और उस द्यूत के द्वारा जीते हुए धन में राजा का भी भाग बताया गया है।[3] वात्स्यायन कामसूत्र में द्यूत फलक का उल्लेख है।[४] निशीथचूर्णी में द्यूत के खिलाड़ियों को द्यूतकार कहा गया है।[५] दशकुमार चरित में भी इसके उल्लेख मिलते हैं।[६] इन उल्लेखों से मनोविनोद के साधनों में द्यूत क्रीड़ा का प्रचलन स्पष्ट होता है। जनसाधारण से लेकर राजघराने तक के लोग इस क्रीड़ा द्वारा यदा कदा अपना मनोविनोद करते थे। मानसोल्लास में अक्ष अथवा पाशक क्रीड़ा के उल्लेख में बताया गया है कि इस क्रीड़ा में बीस अंगुल के विस्तार का श्रेष्ठ दारु लकड़ी का फलक बनाया जाता था[७]। इसमें चार अंगुल विस्तार के तथा नौ अंगुल दीर्घ चौबीस गृह बनाये जाते थे और दो पदकों से सुशोभित दो वृत्ताकार पंक्तियाँ बनायी जाती थीं जिसमें एक अंगुल का अन्तर रहता था।[८] मानसोल्लास में द्यूत क्रीड़ा का विस्तृत वर्णन मिलता है जिससे इस क्रीड़ा के विशेष प्रचलन का आभास होता है।

उत्सव-महोत्सव—समराइच्च कहा में विशेष पर्वों पर आयोजित विविध प्रकार के उत्सव एवं महोत्सवों का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

कातिक पूर्णिमा-महोत्सव—समराइच्च कहा में इसे स्त्रियों का उत्सव बताया गया है। इस अवसर पर पुरुषों को नगर से बाहर कर दिया जाता था। पूरी रात स्त्रियाँ आपस में संगीत, नृत्य एवं वाद्य आदि के द्वारा यह महोत्सव सम्पन्न करती थीं।[९] रामायण में भी कार्तिक पूर्णिमा एक पवित्र तिथि मानी गयी है।[१०] जगदीश चन्द्र जैन ने इसे कौमुदी महोत्सव कहा है[११], जिसमें सर्व प्रथम सूर्यास्त के

१. महाभारत-सभापर्व ।
२. मनु० ९।२२१ ।
३. याज्ञ० २।२०४ ।
४. शिवशेखर मिश्र—मानसोल्लास एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ४९७-९८ में उद्धृत ।
५. निशीथचूर्णी ३, पृ० २२७, ३८०; २, पृ० २६२ ।
६. दशकुमार चरित पृ० २०९; देखिए—कादम्बरी पृ० ८१ ।
७. मानसोल्लास ५।१३।७०१ ।
८. वही ५।१३, ७०२-३ ।
९. सम० क० ९, पृ० ९५४ ।
१०. पी० वी० काणे—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र वाल्यूम ५, पार्ट १, पृ० २८५ में उद्धृत ।
११. जगदीश चन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज पृ० ३६१।

पश्चात् स्त्री-पुरुष किसी उद्यान में जाकर अनेक प्रकार की केलि-क्रीड़ाओं द्वारा रात व्यतीत करते थे।[१] किन्तु समराइच्च कहा में इसे कौमुदी महोत्सव से भिन्न बताया गया है।

कौमुदी-महोत्सव—समराइच्च कहा में अनेक स्थानों पर कौमुदी महोत्सव का उल्लेख है। यह महोत्सव शरद् पूर्णिमा के दिन सम्पन्न किया जाता था।[२] काणे के अनुसार आश्विन मास के कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी के दिन कौमुदी महोत्सव मनाया जाता था।[3] भविष्योत्तर पुराण में कौमुदी शब्द की व्याख्या में कु (पृथ्वी) मुदी (हर्ष) बताया गया है जिसका तात्पर्य पृथ्वी पर लोगों द्वारा हर्ष अथवा आनन्द मनाये जाने से है।[४] कामसूत्र में इसे देश व्यापी महोत्सव के रूप में उल्लिखित किया गया है।[५] हर्ष की प्रियदर्शिका में भी इस महोत्सव को उल्लेख प्राप्त होता है।[६] इस अवसर पर स्त्री, पुरुष तथा बच्चे सुन्दर वस्त्र एवं आभूषण आदि धारण कर उद्यानों, कुंजों तथा लतागृहों में जाकर नृत्य, गान आदि के द्वारा आनन्द मनाते थे।

अष्टमी चन्द्रमहोत्सव[७]—यह महोत्सव चैत्र मास के शुक्लपक्ष की अष्टमी को सम्पन्न किया जाता था। उस दिन स्त्रियाँ सुन्दर वस्त्राभूषणों से युक्त होकर उद्यानों में नाच, गान तथा अन्य केलि क्रीड़ाओं द्वारा अपना मनोरंजन करती थीं। इस अवसर पर मदन लीला के साथ-साथ मदन पूजा का भी आयोजन किया जाता था। यद्यपि इस समारोह में पुरुष भी सम्मिलित होते थे; किन्तु स्त्रियों की प्रधानता रहती थी। संभवतः यह वसन्तोत्सव से सम्बन्धित कोई उत्सव था जिसमें मदन पूजा एवं मदन लीला को प्रधानता दी गयी है।

---

१. सूत्रकृताङ्ग टीका २, ७५, पृ० ४१३।

२. सम० क० १, पृ० ३३, ५३; २, पृ० ७८, ७९; ४, पृ० ३२१; ५, पृ० ३६८ ३७०, ३७३, ४१६, ४७४; ६, पृ० ४९६; ७, पृ० ६३५-३६; ८, पृ० ७४३; ९, पृ० ८८०।

३. पी० वी० काणे—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, वाल्यूम ५, भाग १, पृ० २०६।

४. भविष्योत्तरपुराण १४०।६१-६४ (कु शब्देन मही ज्ञेया मुदीहर्षे ततः परम्। धातुज्ञैर्नैगम ज्ञैश्च तेनैषा कौमुदी स्मृता। कौमोदन्ते यस्यां नानाभावैः पारस्पराः। हृष्टा तुष्टाः सुखा यस्मात्तेनैषा कौमुदी स्मृता (पी० वी० काणे—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, वाल्यूम ५, पार्ट १, पृ० २०६ में उद्धृत।

५. कामसूत्र १।४।४२।

६. प्रियदर्शिका अंक ३, पृ० ७०।

७. सम० क० ४, पृ० २३५।

मदनोत्सव[१]—यह उत्सव प्राचीनकाल में चैत्र मास के शुक्लपक्ष की त्रयोदशी को भव्य आयोजनों के साथ सम्पन्न किया जाता था। इस महोत्सव के विशेष आयोजन के लिए नगरों में राजा द्वारा घोषणा की जाती थी। नगर के सभी स्त्री और पुरुष चाहे किसी भी वर्ग, जाति के क्यों न हों वे नृत्य-गीत एवं नाटक के अभिनय का आयोजन करते थे। राज मार्गों पर सुगन्धित पुष्प तथा केशर एवं कस्तूरी युक्त जल छिड़का जाता था। लोग टोलियाँ बनाकर विभिन्न प्रकार के अलंकारों से युक्त नगर चर्चरी के साथ नाच-गान करते हुए राजमार्गों से होकर उद्यान की तरफ जाते थे।[२] नगर उद्यानों में पहुँचकर लोग विभिन्न प्रकार की क्रीड़ा करते हुए यह उत्सव सम्पन्न करते थे। राजपरिवार के लोग भवनोद्यान में झूले आदि के साथ यह महोत्सव मनाते थे।[3] ज्ञाताधर्म-कथा में मदन त्रयोदशी के दिन कामदेव की पूजा का उल्लेख है।[४] यह बहुत बड़े उत्सव के साथ सम्पन्न किया जाता था। हर्ष की रत्नावली में भी मदन-महोत्सव का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसे बसन्तोत्सव के रूप में भी जाना जाता था जिसका आयोजन चैत्र मास की पूर्णिमा को सम्पन्न किया जाता था।[५] अलबरुनी ने लिखा है कि चैत्र मास की पूर्णिमा को वसन्तोत्सव मनाया जाता था जिसका आयोजन विशेषतया स्त्रियों द्वारा किया जाता था।[६] यह महोत्सव आधुनिक होली की तरह ही था। रत्नावली के भी उल्लेख से पता चलता है कि उक्त अवसर पर स्त्री पुरुष सड़कों पर टोली बनाकर नाचते, गाते तथा रंग बिरंगी गुलाल उड़ाते थे।[७] निम्न वर्ग के लोग उस दिन मदिरा पान भी करते थे।[८] विविध प्रकार के खेल-कूद करते हुए सूर्यास्त के समय उद्यानों में आकर पुष्प आदि के साथ मदन की पूजा करते थे।[९] डा० दशरथ शर्मा के अनुसार

---

१. सम० क० १, पृ० ३३, ५३; २, पृ० ७८, ७९; ४, पृ० ३२१; ५, पृ० ३६८, ३७०, ३७३, ४१६ ४७४; ६, पृ० ४९६; ७, पृ० ६३५-३६; ८, पृ० ७४३; ९, पृ० ८८०।

२. वही ५, पृ० ३७३; ७, पृ० ६३५-३६।

३. वही ९, पृ० ८७९।

४. ज्ञाताधर्म कथा—टीका, २, पृ० ८०।

५. रत्नावली अंक १, पंक्ति १६।

६. सचाऊ २, पृ० १७९।

७. रत्नावली अंक १, पृ० १० पंक्ति ११-१२-१३।

८. वही अंक १, पृ० २२।

९. वही अंक १, पृ० १६, २६।

प्राचीन काल में मदनोत्सव तथा कौमुदी महोत्सव आदि राजस्थान के लोगों का प्रमुख महोत्सव था।[१]

गोष्ठी—विभिन्न प्रकार के मनोविनोद के साधनों में कुछ गोष्ठियों के भी उल्लेख मिलते हैं। गोष्ठियों में सम्मिलित होकर लोग नानाप्रकार के मनोविनोद का अनुभव करते थे। संगीत, नृत्य, वाद्य आदि के साथ साथ कुछ अन्य गोष्ठियों का भी आयोजन होता था।

गूढ़ चतुर्थक गोष्ठी[२]—राजपरिवार के लोग अस्थानिका मंडप में बैठकर इस गोष्ठी का आयोजन किया करते थे। यह गोष्ठी समवयस्कों द्वारा ही सम्पन्न की जाती थी। अतः लोग एक स्थान पर एकत्रित होकर तरह तरह के वाद-विवाद द्वारा गूढ़तर वातों का रहस्य भेदन किया करते थे। वाद-विवाद के साथ साथ इस गोष्ठी में तरह तरह की मनोरञ्जक चर्चायें भी चला करती थी। कामसूत्र में भी नागरिक द्वारा दोपहर के पश्चात् गोष्ठी में भाग लेने का उल्लेख है।[3] इस गोष्ठी में समान वय, चरित्र एवं गुण वाले लोग ही सम्मिलित होते थे जहाँ वे काव्य समस्या, और कला समस्या आदि का समाधान करते थे।[४]

मित्र गोष्ठी[५]—इस गोष्ठी के सदस्य मनोहर गीत गाकर, प्रहेलिका तथा समस्यापूर्ति द्वारा गाथा पढ़कर, वीणा वादन द्वारा, चित्र दर्शन द्वारा, कामशास्त्र पर विचार कर, पक्षियों के विषय में चर्चा करके, झूला झूल कर तथा पुष्प-शैया आदि सजा कर भाँति भाँति के मनोरंजन कार्यों का सम्पादन किया करते थे। मित्र गोष्ठी अपने समवयस्कों की ही होती थी। वात्स्यायन के कामसूत्र में संगीत, वाद्य, नृत्य, नाटक, दर्शन, द्वन्द ज्ञान आदि चौंसठ कलाओं के ज्ञाता को ही गोष्ठी का संचालक बताया गया है; किन्तु इन कलाओं को न जानने वाले को अधिक सम्मान नहीं दिया जाता था।[६] अधिकतर यह गोष्ठी मनोरंजनार्थ संचालित की जाती थी जिसमें स्त्रियाँ भी बराबर भाग लेती थी।

---

१. दशरथ शर्मा—अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ० २६६।
२. सम० क० ८, पृ० ७५२।
३. एच० सी० चकलादर—सोसल लाइफ इन ऐंसियन्ट इंडिया-स्टडीज इन कामसूत्र पृ० १६०।
४. वही पृ० १६४।
५. सम० क० ८, पृ० ७४४, ७५२; ९, पृ० ८६५।
६. एच० सी०—चकलादर—सोसल लाइफ इन ऐंसियन्ट इंडिया-स्टडीज इन कामसूत्र पृ० १६५।

यहाँ तक कि काम सूत्र में कुमारी लड़कियों के लिए कला और गोष्ठी का ज्ञान एक गुण माना गया है ।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि गोष्ठियों का आयोजन कलात्मक ज्ञान की वृद्धि के साथ साथ मनोविनोद के लिए भी उपयुक्त साधन समझा जाता था ।

वाहन

प्राचीन भारत में आवागमन की सुविधा के लिए सड़कों का निर्माण किया जाता था जो राजमार्ग के नाम से जाना जाता था ।[2] राजमार्गों के निर्माण एवं प्रबन्ध का सारा व्यय राजन्य लोग ही वहन करते थे । राजमार्गों पर यातायात के विविध साधनों, यथा—हाथी, घोड़े, बैलगाड़ी तथा रथ आदि का प्रयोग होता था । प्रायः हाथी, घोड़े, रथ, शिविका आदि का प्रयोग राजपरिवार, सामन्त तथा श्रेष्ठि वर्ग के लोग करते थे । जन साधारण वर्ग शकट, खच्चर एवं घोड़े आदि का प्रयोग करता था । समराइच्च कहा में निम्नलिखित वाहनों का उल्लेख आया है ।

अश्व—समराइच्च कहा में इसका उल्लेख कई स्थानों पर किया गया है ।[3] इसका प्रयोग साधारण वर्ग के लोग से लेकर राज परिवार तक के लोग करते थे । यह घुड़सवारी, रथ तथा सेना में वाहन के रूप में प्रयुक्त होता था । समराइच्च-कहा में एक स्थान पर बाह्लीक, तुरुष्क एवं वज्जरा आदि अश्वों की घुड़सवारी का उल्लेख है ।[4] स्पष्ट है कि घोड़ों का नाम उनके देश के आधार पर रखा गया है । आर्य लोग अपने आगमन के प्रारम्भिक काल से ही घोड़ों का प्रयोग करते थे ।[5] वैदिक काल में पश्चिमेशिया, यथा बाह्लीक जाति के घोड़े प्रसिद्ध थे ।[6] इसके साथ-साथ गुजरात, बलूचिस्तान, कम्बोज और पर्शिया भी घोड़ों के लिए

१. एच० सी० चकलादर—सोशल लाइफ इन ऐंसियन्ट इण्डिया—स्टडीज इन कामसूत्र पृ० १६७ ।
२. सम० क० ४, पृ० ३६८, ३९५; ७, पृ० ७००; ८, पृ० ८८३ ।
३. वही २, पृ० १०१; ५, पृ० ३६५, ३६७; ८, पृ० ७६६, ७८४, ८२१, ८२३, ८४३ ।
४. वही ८, पृ० ७५३—वहिया वहवे वल्हीय तुरुक्क वज्जराइया आसा; देखिए—आदि पुराण—३०।१०६-७ ।
५. आर० यल० मित्र—ऐंटीक्विटीज आफ उड़ीसा, पृ० २०० ।
६. वही पृ० २०१ ।

प्रसिद्ध थे, इनका उल्लेख महाभारत में भी आया है।[1] वैदिक काल में अश्वरथ[2] के साथ-साथ घुड़दौड़ का भी उल्लेख है,[3] जिससे प्रतीत होता है कि अश्व का प्रयोग वैदिक काल से ही रथों में किया जाता था। पतंजलि के काल में भी अश्व वाहन के लिए प्रयुक्त होते थे।[4] पूर्व मध्यकाल में भी अश्व और हस्ति को वाहन के रूप में प्रयुक्त समझा जाता था।[5] मानसोल्लास में भी अश्व को वाहन की श्रेणी में गिनाया गया है।[6] जैन ग्रन्थ आदि पुराण में घुड़सवारी करने वाले घोड़ों को मन्दुरा कहा गया है।[7] सवारी के घोड़ों को स्वस्थ रखने के लिए उनके शरीर में अंगराग लगाया जाता था।[8]

हस्ति—समराइच्च कहा में इसका उल्लेख राजकीय वाहन के रूप में किया गया है।[9] विवाह के समय वर यात्रा में हस्ति को अनेक अलंकारों से सजा कर बारात के आगे रखा जाता था। महाभारत में हस्ति का प्रयोग युद्ध क्षेत्र में किये जाने का उल्लेख है।[10] सिकन्दर के आक्रमण के समय अश्व और हस्ति दोनों सेना के प्रमुख अंग थे।[11] मेगस्थनीज ने भी हस्ति सेना का उल्लेख किया है।[12] मानसोल्लास में हस्ति के दो भेद बताए गये हैं, यथा—नाग और करिणी। सामने से जो विपुल स्कन्ध वाला, मृदु संचार वाला तथा चलाने पर तेज चलने वाला हो उसे नाग कहा जाता था। सुवर्ण स्तम्भ, मुक्ता की माला, और ऊर्ध्व प्रदेश में कांचन कलशों से युक्त तथा मयूर के समान पूँछ वाले तथा पुष्पों से सुशोभित करिणी को करिणी यान कहा जाता था।[13]

---

१. आर० एल० मित्र—ऐंटीक्विटीज आफ उड़ीसा, पृ० २०१।
२. ऋग्वेद १०।३३।५।
३. वही २।१३।५, ३।४।३।
४. प्रभुदयाल अग्निहोत्री—पतंजलि कालीन भारत, पृ० २९३।
५. ए० के० मजूमदार—चालुक्याज आफ गुजरात, पृ० ३५७।
६. मानसोल्लास ३।१६।१६३९-४०।
७. आदि पुराण २९।१११।
८. वही २९।११६।
९. सम० क० २, पृ० ११६; ३, पृ० २००; ७, पृ० ६४०; ८, पृ० ७६६, ७८४, ८२१, ८२३, ८३४, ८४३; देखिए—आदि पुराण ३०।४८, २९।१२२।
१०. आर० यल० मित्र—ऐंटीक्विटीज आफ उड़ीसा, पृ० २००।
११. वही पृ० २०१।
१२. वही पृ० २०५।
१३. शिवशेखर मिश्र—मानसोल्लास एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ३०३।

खच्चर[1]—समराइच्च कहा में इसका उल्लेख भार वाहक के रूप में किया गया है। यह अश्व से मिलता जुलता उससे छोटे आकार का जानवर है। इसका प्रयोग साधारण वर्ग के लोग करते थे।

शकट[2]—समराइच्च कहा में माल ढोने के लिए शकट का उल्लेख हुआ है। शकट का प्रयोग वैदिक काल से ही बोझा ढोने के लिए किया जाता था।[3] अथर्ववेद में शकट का उल्लेख है जिसे ऊष्ट्र खींचते थे।[4] आदि पुराण में बैलों द्वारा खींचे जाने वाले शकट का उल्लेख है जो बोझा ढोने के काम आते थे।[5]

शिविका—समराइच्च कहा में शिविका को दिव्य वाहन के रूप में उल्लिखित किया गया है।[6] इसे ढोने के लिए वाहकों की आवश्यकता पड़ती थी। समराइच्च कहा में कहीं-कहीं पालकी का भी उल्लेख है;[7] किन्तु इस वर्णन से शिविका और पालकी में कोई अन्तर नहीं दिखलाया गया है। आप्टे ने भी शिविका और पालकी को पर्याय माना है।[8] शिविका का उल्लेख महाभारत तथा अन्य संस्कृत ग्रन्थों में भी आया है जिसमें दो काष्ठ स्तम्भ लगे रहते थे और जो व्यक्तियों द्वारा कन्धों पर रखकर ढोई जाती थी।[9]

रथ—समराइच्च कहा में अनेक स्थानों पर रथ का उल्लेख आया है।[10] यह सम्मान की दृष्टि से एक उच्चकोटि का वाहन माना जाता था जिसका उपयोग धनी-सम्पन्न तथा राज परिवार के लोग ही करते थे। आवागमन के साथ-साथ युद्ध क्षेत्र में भी रथों का प्रयोग किया जाता था। रथों को सुन्दर तथा आकर्षक बनाने के लिए पताकाओं से सजाया जाता था, क्षुद्र घंटिकाएँ बाँधी जाती थी, रत्नों की मालाएँ, मोतियों के हार तथा चामर आदि लटकाए जाते थे, रथ के बीच में माणिक्य सिंहासन होता था जिस पर रथी बैठते थे।[11]

१. सम० क० ६, पृ० ५०६।
२. वही ४, पृ० ३५५, ३५९।
३. आर० यल० मित्र—ऐंटीक्विटीज आफ उड़ीसा, पृ० २११।
४. अथर्ववेद २०।१२७।१३२।
५. आदिपुराण—७।३३।
६. सम० क० ३, पृ० २२२; पृ० ९३६; देखिए—आदिपुराण १७।८१।
७. वही ७, पृ० ६३९, ६५५; ८; पृ० ७४३।
८. आप्टे—संस्कृत हिन्दी कोश।
९. आर० यल० मित्र—ऐंटीक्विटीज आफ उड़ीसा, पृ० २१२।
१०. सम० क० १, पृ० २९; २, पृ० ९६; ६, पृ० ४९६, ४९८, ५३८; ८, ७८८; ९, पृ० ८७९-८०-८१-८२-८३, ८८६-८७, ८९२।
११. वही ८, पृ० ८८१।

रथों का प्रयोग वैदिक काल से ही चला आ रहा है। ऋग्वेद में रथ का उल्लेख अनेक बार हुआ है।[१] प्रायः रथ में दो अश्व जोड़े जाते थे; किन्तु कहीं-कहीं तीन और चार का भी संकेत आया है। यह कहना कठिन है कि इनमें तीसरे और चौथे अश्व को आगे जोड़ा जाता था या पार्श्व में।[२] रामायण में राम के यौवराज्य पद पर अभिषेक के लिए अन्य सामग्री के साथ वैयाघ्र नामक रथ भी लाया गया था।[३] महाभारत में भी रथ का उल्लेख है।[४] कौटिल्य ने रथ पथ का उल्लेख किया है।[५] पाणिनी काल में लोगों के आवागमन के साधनों में रथ का विशेष महत्त्व था जिसे बैल खींचते थे।[६] पतंजलि के काल में भी बैलों द्वारा रथ खींचे जाते थे।[७] मानसोल्लास में दो पहियों से युक्त, सुन्दर चित्रों तथा नाना वर्ण की पताकाओं आदि से सुशोभित रथ का उल्लेख है जिसे अश्व खींचते थे।[८] यहाँ इसे राजाओं के ही योग्य बताया गया है। हमने अन्यत्र रथ के सैनिक उपयोगों का विवेचन किया है।[९]

जलयान—इसका भी प्रयोग व्यापारिक तथा आवागमन दोनों दृष्टियों से किया जाता था। हमने इसका विवरण अन्यत्र दिया है।[१०]

स्वास्थ्य—रोग और परिचर्या

समराइच्च कहा में कुछ आयुर्वेदीय सामग्री भी मिलती है। इसमें निम्नलिखित रोगों का उल्लेख है तथा उनको दूर करने के उपायों का भी उल्लेख मिलता है।

शीर्ष वेदना—समराइच्च कहा के कथा प्रसंग में इस रोग का उल्लेख कई

---

१. ऋग्वेद १।२०।३; ३।१५।५; ४।४।१० ।
२. सूर्यकान्त-वैदिक कोश, पृ० ४३६ ।
३. रामायण—अयोध्या काण्ड ६।२८ ।
४. महाभारत—सभापर्व ५१।२३, ६१।४ ।
५. अर्थशास्त्र २।४ ।
६. वासुदेवशरण अग्रवाल—पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पृ० १५०-५१ ।
७. प्रभुदयाल अग्निहोत्री—पतंजलि कालीन भारत, पृ० २९० ।
८. मानसोल्लास ३।१६।१६५६ ।
९. विशेष जानकारी के लिए देखिए—राजनीतिक दशा वाले अध्याय में सैन्यव्यवस्था के 'रथ सेना' वाले परिच्छेद में (दीक्षितार, चक्रवर्ती तथा मजूमदार के विचार) ।
१०. देखिए—आर्थिक दशा वाले अध्याय में व्यापारिक यान ।

बार आया है ।[१] सम्भवतः यह उस समय का एक सर्व साधारण रोग था । इसे दूर करने के लिए वैद्य विशारद बुलाए जाते थे[२] तथा विविध प्रकार की औषधियों तथा रत्नलेप आदि का प्रयोग किया जाता था । चरक संहिता में शिर रोग पाँच प्रकार का बताया गया है—वातजन्य (वातिक), पित्तजन्य, कफजन्य (श्लेष्मिक), सन्निपातज और क्रिमिजन्य ।[3] इसे दूर करने के लिए नत (तगर), उत्पल (नील कमल), चंदन और कड़वा कुट आदि को समान भाग में लेकर उसका चूर्ण बनाना चाहिए और उसमें घृत मिला कर लेप करना चाहिए, इससे वेदना शान्त हो जाती है ।[४]

बधिर—समराइच्च कहा में शबर वैद्य द्वारा बधिर रोग को प्राकृतिक उपचार द्वारा ठीक करने का उल्लेख है ।[५] लेकिन यहाँ दूर करने की विधि आदि का उल्लेख नहीं है । यह एक प्रकार का कर्णरोग था जिससे सुनाई नहीं पड़ता था । इसका उल्लेख निशीथ चूर्णी में भी किया गया है;[६] किन्तु इसके दूर करने का उल्लेख नहीं है । आज भी नगरों और गाँवों में कुछ आदिवासी जाति के लोग घूम-घूमकर कान के रोग का उपचार करते हैं ।

तिमिर रोग—समराइच्च कहा में शबर वैद्य द्वारा इसे अन्य रोगों की श्रेणी में गिनाया गया है ।[७] इस रोग के प्रभाव से आँखों की ज्योति समाप्त हो जाती थी ।[८] चरक संहिता में बताया गया है कि ज्वर तथा शोक आदि से संतप्त पुरुषों में तथा मद्य पीने वालों लोगों में तिमिर रोग उत्पन्न हो जाता है । ऐसी अवस्था में रुक्ष शीतांजन का प्रयोग, लेप और पुटपाक के प्रयोगों द्वारा तिमिर रोग को दूर करना चाहिए ।[९]

कास—शबर वैद्य द्वारा इसे भी अन्य प्रकार के रोगों की श्रेणी में गिनाया

---

१. सम० क० १, पृ० २१; ७, पृ० ६९१ ।
२. वहीं ६, पृ० ५८४ ।
३. चरक संहिता भाग १, पृ० ३३३ से ३३५ ।
४. वही भाग १, पृ० ६३ से ९१ ।
५. सम० क० ६, पृ० ५८४-८५ ।
६. निशीथ चूर्णी ३, पृ० २५८ ।
७. सम० क० ६, पृ० ५८४ ।
८. निशीथ चूर्णी ३, पृ० ५८; देखिए—वासुदेवशरण अग्रवाल—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० १२० ।
९. चरक संहिता भाग २, पृ० १०७५ ।

गया है,[1] किन्तु इसके उपचार का उल्लेख नहीं है। निशीथ चूर्णी में भी इसका उल्लेख है।[2]

शूल[3]— यह एक प्रकार का उदर रोग था जिसके प्रभाव से उदर में अत्यधिक वेदना उत्पन्न होती थी। निशीथ चूर्णी में इसका उल्लेख आतंक रोग के रूप में किया गया है।[4] चरक संहिता के अनुसार जौ के आंटे तथा यव छार को तक्र से पीस कर तथा उसे गरम कर पेट पर लगाने से पेट का शूल दूर हो जाता है।[5] इसी ग्रन्थ में उल्लेख है कि हृदय रोग से पीड़ित जिन रोगियों में भोजन करने के बाद हृदय में शूल अधिक उत्पन्न होता है तथा भोजन के पाचन काल में शूल अल्प मात्रा में होता है और भोजन के पूर्ण मात्रा में पच जाने के बाद जो शूल शान्त हो जाता है उसमें देवदारु, कुट, लोध, सेन्धा नमक, सोंचर नमक और अतीस इन सभी का चूर्ण गरम जल के साथ सेवन करना चाहिए।[6]

कुष्ठ रोग—समराइच्च कहा के कथा प्रसंग में कुष्ठ रोग का भी उल्लेख है,[7] जिसका कारण पूर्व कृत कर्म दोष माना गया है। चरक संहिता में विकृति को प्राप्त हुए सात द्रव्य कुष्ठ रोग के कारण बताये गए हैं, यथा—प्रकोपक कारणों से विकृत तीन दोष—वात, पित्त और कफ; दोषों के आक्रमणों से विकृत हुए दूष्य स्वरूप शरीर-धातु, त्वचा, मांस, रक्त, लसिका ये चार द्रव्य। इन सातों धातुओं का समूह सात कुष्ठों का उत्पादक बताया गया है।[8] उसी ग्रन्थ में एक जगह बताया गया है कि कुष्ठ रोग से पीड़ित व्यक्ति को घृत आदि स्नेहों और विकार न पैदा करने वाली लाभप्रद औषधियों से स्नेहन अर्थात् पिप्पली, हर्रे या त्रिफला से पकाये हुए स्नेह से स्नेहन करना चाहिए।[9]

विसूचिका[10]—यह भी तत्कालीन समाज का प्रचलित रोग था। इसकी उत्पत्ति अत्यधिक भोजन करने से बतायी गयी है।[11] चरक संहिता में बताया

१. सम० क० ६, पृ० ५८६।
२. निशीथ चूर्णी ३, पृ० २५८।
३. सम० क० ६, पृ० ५८४,७, पृ० ६९१।
४. निशीथ चूर्णी ३, पृ० ५२९।
५. चरक संहिता १, पृ० ६२।
६. वही २, पृ० ७३६।
७. सम० क० ४, पृ० ३१७, ३४८; देखिये निशीथ चूर्णी ३, पृ० २५८।
८. चरक संहिता भाग १, पृ० ६४१।
९. वही १, पृ० २७९।
१०. सम० क० ४, पृ० २९८।
११. निशीथ चूर्णी २, पृ० २६७ (अतिमुत्ते वा विसूतिया)।

गया है कि ऊपर मुख और नीचे गुदा मार्ग द्वारा प्रवृत्त आम दोष तथा बात. पित्त, कफ आदि लक्षणों से युक्त जो रोग हो उसे विसूचिका जानना चाहिए।[1] इसका तात्पर्य हैजे से लगाया गया है।[2]

मूर्च्छा[3]—यह भी समराइच्च कहा में एक रोग के रूप में उल्लिखित है। चरक संहिता में बताया गया है कि मलीनाहार करने वाले जिस मनुष्य की आत्मा रज और मोह से युक्त है उसके शरीर में जब कुपित हुए बात, पित्त और कफ अलग-अलग या समस्त दोष रक्तवाही, रसवाही, संज्ञावाही आदि श्रोतों को अवरुद्ध कर रुक जाते हैं तो मद, मूर्च्छा आदि व्याधियों को उत्पन्न करते हैं।[4] यहाँ मूर्च्छा के कई भेद बताये गये हैं—यथा वातज, पित्तज, कफज, सन्निपात (इसमें वात, पित्त, कफ आदि सभी के लक्षण होते हैं) आदि।[5] इस रोग के कारण व्यक्ति चेतनाशून्य (बेहोश) हो जाता है।

ज्वर—समराइच्च कहा में ज्वर को भी अन्य रोगों की श्रेणी में गिनाया गया[6] है; किन्तु इस रोग की उत्पत्ति तथा प्रभाव आदि का विवरण नहीं दिया गया है। इसका उल्लेख अन्य जैन ग्रन्थों में भी आया है।[7] इस रोग से शरीर का ताप बढ़ जाता है तथा शरीर में पीड़ा आदि के साथ शक्ति का ह्रास होना प्रारम्भ हो जाता है। चरक संहिता में बताया गया है कि ज्वर में पित्त की ही प्रधानता होती है; क्योंकि बिना पित्त के प्रधान हुए ताप को सम्भावना नहीं हो सकती और ज्वर में सन्ताप ही प्रधान है।[8] यहाँ ज्वर के आठ भेद गिनाये गये हैं—वात, पित्त, कफ, वात पित्त, वात कफ, पित्त कफ, वात पित्त कफ, और आगन्तु (थकावट) के कारण से उत्पन्न ज्वर।[9] अन्यत्र वात, पित्त, कफ, रज और तम ये पांच प्रकृति दोष ज्वर के कारण बताये गये हैं।[10] चरक के अनुसार ज्वर के पूर्व रूप में हल्का भोजन और उपवास करना चाहिए;

---

१. चरक संहिता १, पृ० ६८८।
२. आप्टे—संस्कृत-हिन्दी कोश।
३. सम० क० पृ० ४, पृ० २९८।
४. चरक संहिता १, पृ० ४४९।
५. वही १, पृ० ४५१-५२।
६. सम० क० ४, पृ० ३४८।
७. निशीथ चूर्णी ३, पृ० २५८; यशस्तिलक, पृ० ५०९।
८. चरक संहिता, भाग १, पृ० ६०१।
९. वही भाग १, पृ० ६१०।
१०. वही भाग २, पृ० ९५

क्योंकि ज्वर आमाशय से ही उत्पन्न होता है। इसके बाद दोषों के अनुसार कषायपान, अभ्यंगस्नेह, स्वेद, प्रदेह, परिसेक, अनुलेप, वमन, विरेचन, स्थापन-वस्ति, अनुवासनवस्ति, समन औषध, नस्य, धूप, धूम्रपान, अंजन, दुग्ध और भोजन की व्यवस्था उक्तिपूर्वक करनी चाहिए।[१] जीर्ण ज्वर की शांति के लिए घृत का प्रयोग करना चाहिए।[२] यहाँ वात, पित्त, कफ, आदि ही प्रधान रूप से ज्वर के कारण बताये गये हैं और इन तीनों में भी पित्त को प्रधान माना गया है।

जलोदर—समराइच्च कहा में इस रोग के कारण भुजाओं को सूख जाने, पैर को शून्य हो जाने, नेत्र मलीन हो जाने, निद्रा समाप्त हो जाने, जिह्वा के जड़ हो जाने तथा अत्यधिक पीड़ा का अनुभव होने का उल्लेख है।[3] निशीथ चूर्णी में भी जलोदर का उल्लेख है।[४] चरक संहिता में जलोदर के लक्षण के सम्बन्ध में बताया गया है कि इस रोग में भोजन की अनिच्छा, पिपासा की वृद्धि, गुदा से जल का श्राव, शूल, शारीरिक दुर्बलता, उदर में नाना प्रकार की रेखायें, स्पर्श करने पर जल से भरे हुए मशक के समान उदर में जल तरंग का अनुभव होता है।[५] इसी ग्रन्थ में एक अन्य स्थान पर बताया गया है कि मन्दाग्नि वाले पुरुष या दुर्बल व्यक्ति जब मात्रा से अधिक जल का सेवन करते हैं तो उनकी जठराग्नि नष्ट हो जाती है। फलस्वरूप उदर में जलीयांश की वृद्धि हो जाने के कारण जलोदर की उत्पत्ति होती।[६]

महोदर सन्निपात[७]—यह उदर में अत्यधिक दर्द पैदा करने वाला रोग था। चरक संहिता में सन्निपातोदर नामक रोग का उल्लेख है जो वात, पित्त, कफ अन्य उदर रोग के अन्तर्गत बताया गया है। उदर के ऊपरी भाग में जब नाना वर्ण की रेखायें और शिरायें व्याप्त हुई दिखाई दें तो इसे सन्निपातोदर जानना चाहिए।[८] उदर में सन्निपात की स्थिति आ जाने पर ही सन्निपातोदर नामक रोग जाना जाता है। निशीथ चूर्णी में भी सन्निपात रोग का उल्लेख है जो वात, कफ

---

१. चरक संहिता १, पृ० ६१७।
२. वही १, पृ० ६१७।
३. सम० क० ६, पृ० ५८४।
४. निशीथ चूर्णी ३, पृ० २५८।
५. चरक संहिता २, पृ० ३९०।
६. वही २, पृ० ३८६।
७. सम० क० ६, पृ० ५८५।
८. चरक संहिता, भाग २, पृ० २८६।

और पित्त के असन्तुलन से पैदा होता था।[1] चरक संहिता में भी एक स्थान पर आया है कि सन्निपात में प्रायः एक ही स्थान में रहने वाले शरीर के दोष (वात, पित्त, कफ) तुल्य गुण होने के कारण उनका सन्निपात या संसर्ग होता है।[2] इन तीनों दोषों (वात, पित्त, कफ) के एक साथ बिगड़ने पर विषम ज्वर अथवा भीषण ज्वर उत्पन्न हो जाता है जिसे सन्निपात कहा जाता है।[3]

●

१. नीशीथ चूर्णी ४, पृ० ३४० ।
२. चरक संहिता भाग १, पृ० ७१८ ।
३. आप्टे—संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० १०७० ।

अष्टम-अध्याय

धार्मिक-दशा

देवी-देवता

सरस्वती

समराइच्च कहा में यद्यपि सरस्वती के स्वरूप और उनकी पूजा विधि आदि का उल्लेख नहीं है फिर भी कथा प्रसंग में उन्हें कहीं विद्यादेवी[1] और कहीं शारदा[2] के नाम से सम्बोधित कर उनकी महत्ता दर्शायी गयी है। समराइच्च कहा में उल्लिखित सरस्वती का प्राचीनतम उल्लेख हमें वैदिक काल से प्राप्त होता है। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर सरस्वती को नदी के रूप में उल्लिखित किया गया है।[3] एक स्थान पर तो इनकी महिमा के सन्दर्भ में सरस्वती को समस्त ज्ञान उत्पन्न करने वाली कहा गया है।[4] ऋग्वेद में उल्लिखित इसी सरस्वती नदी के तट पर उच्चकोटि की वैदिक संस्कृति का विकास हुआ था। इसी नदी के तट पर बैठकर वैदिक कालीन ऋषि-मुनियों ने वेदों की रचना की। कालान्तर में इसे देवी का रूप मिला और पुनः यह वाणी और ज्ञान की देवी के रूप में मानी जाने लगी।[5] सुशीला खरे ने प्राचीन साक्ष्यों के आधार पर सरस्वती की उत्पत्ति ब्रह्माण्ड के सरोवर से बतायी है।[6]

वैदिक काल में तो सरस्वती को नदी के रूप में स्वीकृत किया गया है; किन्तु उत्तर वैदिक काल में इन्हें उत्तरोत्तर वाणी की देवी के रूप में स्वीकृत किया जाने लगा। शतपथ ब्राह्मण[7] तथा ऐतरेय ब्राह्मण[8] में स्पष्ट रूप से सरस्वती को वाक् की अधिष्ठातृ देवी बताया गया है। सम्भवतः उत्तर वैदिक काल में क्रमशः सरस्वती का, जिन्हें ज्ञान की अधिष्ठातृ माना जाने लगा था,

---

१. सम०क० ७, पृ० ६८१।

२. वही ८, पृ० ७८६।

३. ऋग्वेद १।३।१०; ४।९५।१; ६।६१।२, ६।६१।८-१०; १०।६४।८-९; १०।७५।५।

४. वही १।३।१२।

५. सुशीला खरे—प्राचीन भारतीय संस्कृति में सरस्वती, पृ० ७।

६. वही पृ० ८।

७. शतपथ ब्राह्मण ३।९।१।७।

८. ऐतरेय ब्राह्मण ३।९।१०।

'वाक्' से समीकरण किया जाने लगा। इस प्रकार धीरे-धीरे इन्हें वाग्देवी और ज्ञानदेवी कहा जाने लगा।[1]

रामायण में वाग्देवी के रूप में सरस्वती को जिह्वा पर वास करने वाली और कण्ठ में निवास करने वाली कहा गया है।[2] महाभारत में सरस्वती को वाग्देवी के साथ-साथ विद्यादेवी के रूप में भी उल्लिखित किया गया है।[3] एक अन्य स्थान पर सरस्वती को दण्डनीति की रचना करने वाली बताया गया है।[4] पुराणों में तो सरस्वती को ब्रह्मा, विष्णु और शिव द्वारा पूज्य कह कर उच्चकोटि का स्थान प्रदान किया गया है तथा उन्हें सर्वव्यापी एवं दिव्य रूपों में स्वीकृत किया गया है।[5] वायुपुराण में दी गयी देवियों की सूची में प्रज्ञा (सरस्वती) तथा श्री (लक्ष्मी) को महादेवी बताया गया है तथा इन्हीं दोनों रूपों से सहस्रों देवियों की उत्पत्ति बतायी गयी है।[6]

सरस्वती के स्वरूप का चित्रांकन खजुराहो की दीवालों पर देखने को मिलता है; वहाँ वह अपने वाहन हंस पर आसीन, हाथ में वीणा लिये हुए हैं।[7] एक अन्य स्थान पर अपने दो हाथों से वीणा बजाती हुई तथा एक हाथ में पुस्तक और दूसरे हाथ में पुष्प लिये हुए सरस्वती का चित्र चतुर्भुज रूप में देखने को मिलता है।[8] श्वेतवर्ण के रूप में सरस्वती को उन सभी वस्तुओं का प्रतीक माना गया है जो जीवन में शुद्ध और स्वच्छ हैं।[9] चटर्जी के अनुसार देवी सरस्वती न केवल बुद्धि और विद्या की ही अधिष्ठातृ थीं वरन् वह औषधि, कला और समृद्धि की भी अधिष्ठातृ देवी के रूप में मानी जाती थी।[10]

---

१. सुशीला खरे—प्राचीन भारतीय संस्कृति में सरस्वती, पृ० १७।
२. रामायण—६।१२०।२४, ७।१०।४०–४३, ७।५।२८।
३. महाभारत—वनपर्व ३।१८६।
४. वही शान्ति पर्व १२।१२२ 'तस्माच्च धर्मचरणन्नीतिर्देवी सरस्वती।
ससृजेदण्डनीति सा त्रिषु लोकेषु विश्रुताम् ॥'
५. देखिए—सरस्वती स्तोत्र-मार्कण्डेय पुराण अध्याय २३; वामन पुराण अध्याय ३२।
६. वायुपुराण ९।५८।९८।
७. विद्या-प्रकाश—खजुराहो, पृ० १४१।
८. आइक्नोग्राफी इन ढाका म्युजियम, प्लेट ६३।
९. ए०के० चटर्जी—सम ऐस्पेक्ट्स आफ सरस्वती, पृ० १५२–'पेपरस्-सेमिनार आन लक्ष्मी एण्ड सरस्वती'—एडिटेड बाई डी०सी० सरकार।
१०. वही, पृ० १५२।

समराइच्च कहा में उल्लिखित विद्या और शारदा सरस्वती के ही पर्याय हैं। उपरोक्त साक्ष्यों के अनुसार इन्हें विद्या, सरस्वती, शारदा तथा प्रज्ञा आदि विभिन्न नामों से जाना जाता था। समराइच्च कहा में उल्लिखित सरस्वती की महत्ता का संकेत जैन धर्म पर ब्राह्मण धर्म के प्रभाव की पुष्टि करता है। जैनधर्म में इन्हें (सरस्वती को) विद्या की देवी के रूप में उतना ही महत्व प्रदान किया गया है जितना ब्राह्मण धर्म में ब्रह्मा की पत्नी सरस्वती का। उनके चिह्न (वीणा, पुस्तक) आदि भी लगभग एक से ही हैं।[1]

लक्ष्मी

प्राचीन भारतीय देवी-देवताओं की मान्यता के आधार पर चण्डिका, सरस्वती आदि के साथ ही लक्ष्मी की भी अलौकिक शक्ति में विश्वास किया जाता था। समराइच्च कहा में लक्ष्मी[2] का उल्लेख तो हुआ है किन्तु उनके स्वरूप आदि पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता है। श्री तथा लक्ष्मी का उल्लेख ऋग्वेद[3] में भी हुआ है किन्तु वहाँ भी उनके स्वरूप के बारे में कुछ भी विवरण नहीं है। ऋग्वेद में एक स्थान पर माता अदिति[4] का उल्लेख है। यजुर्वेद में वैदिक देवी अदिति को विष्णु की पत्नी के रूप में दिखाया गया है।[5] ऋग्वेद में उन्हें जगन्माता, सर्वप्रदाता तथा प्रकृति की अधिष्ठात्री देवी कहा गया है।[6] इन उल्लेखों के आधार पर लक्ष्मी को माता अदिति से भी जोड़ा जा सकता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में लक्ष्मी को वस्त्र, भोजन, पेय, धन आदि की प्रदात्री के रूप में बताया गया है।[7] ऐतरेय ब्राह्मण में 'श्री' की कामना करने के लिये विल्व के पेड़ का यूप शाखा सहित बनाने का आदेश मिलता है।[8] विल्व को श्रीफल भी कहा गया है।[9] रामायण में श्री कुबेर के साथ सम्बन्धित बतायी

---

१. सुशीला खरे—भारतीय संस्कृति में सरस्वती, पृ० ५७।
२. सम०क० ८, पृ० ७३१, ७४१; ९, पृ० ९६०।
३. ऋग्वेद—'श्री' १, १६८, १०; १, १७९, १; १, १८८, ६; २, १, १२; ४, १०, ५; ४, २३, ६; ५, ४४, २; लक्ष्मी—१०, ७१, २।
४. वही १, ८९, १०।
५. तैत्तिरीय संहिता—७, ५, ४।
६. ऋग्वेद १, ८९, १०।
७. तैत्तिरीय उपनिषद् १।४।
८. ऐतरेय ब्राह्मण २, १, ६।
९. मनु० ५।१२०।

गयी हैं, जो सांसारिक सुख एवं धन के देवता हैं।[१] रामायण में एक अन्य स्थान पर लक्ष्मी को पुष्पक प्रासाद पर कर में कमल लिये हुए दिखाया गया है।[२] महाभारत में लक्ष्मी की उत्पत्ति समुद्रमन्थन से बतायी गयी है जिनका मांगलिक चिह्न मकर माना गया है[3] जिसे ग्रीक देवता अफ्रोडाइट से जोड़ा जा सकता है।

बौद्धग्रन्थ दीघ निकाय के ब्रह्मजाल सूत्र में लक्ष्मी की उपासना वर्णित है।[४] धम्मपद अट्ठकथा[५] में लक्ष्मी को 'रज्जसिरी दायक' अर्थात् राजा को राज्य दिलाने वाली देवी कहा गया है। जैन ग्रन्थ अंगविज्जा में लक्ष्मी को 'श्री' के रूप में उल्लिखित किया गया है।[६]

कालिदास ने रघुवंश में लक्ष्मी को राज्य लक्ष्मी के रूप में उल्लिखित किया है।[७] मालविकाग्नि मित्र में कवि ने नायिका की उपमा लक्ष्मी से की है।[८] विष्णु पुराण में श्री की उत्पत्ति समुद्र मंथन से कह कर उन्हें विष्णु की पत्नी बताया गया है।[९] एक अन्य स्थान पर इन्हें कमलालया कहा गया है।[१०]

भरहुत के कटघरों के खम्बों पर हमें लक्ष्मी के विकसित दो स्वरूप प्राप्त होते हैं। एक बैठा हुआ[११] तथा दूसरा खड़ा[१२] हुआ। बैठी हुई मूर्ति योगासन की मुद्रा में दोनों हाथ जोड़े हुए कमल के फूल पर स्थित हैं। खड़ी हुई मूर्ति के एक हाथ में कमल का फूल तथा दूसरा हाथ वरद मुद्रा में नीचे की ओर लटका हुआ है। इन दोनों प्रकार के फलकों में गज उन्हें स्नान करा रहे हैं। इसके साथ साथ लक्ष्मी का स्वरूप प्राचीन भारतीय मुद्राओं, मुहरों तथा अभि-

१. रामायण ७, ७६, ३१।
२. वही ५, ७, १४।
३. महाभारत १३, ११, ३।
४. दीघ निकाय १, ११।
५. धम्मपद अट्ठकथा ११, १७।
६. अंगविज्जा—'देवता विजय' अध्याय ५१, पृ० २०४।
७. रघुवंश ४।५।
८. मालविकाग्नि मित्र ५।३०।
९. विष्णु महापुराण १, ८, १५; १६, १४, १५।
१०. वही १, ८, २३।
११. कलकत्ता इण्डियन म्यूजियम—भरहुत खम्बा ११० के पास।
१२. वही भरहुत खम्बा २१० तथा १७७ के पास।

लेखों में भी चित्रित किया गया है।[1] प्राचीन भारतीय मूर्तिकला तथा मुद्रा निर्माण कला में लक्ष्मी का चित्रांकन दूसरी शताब्दी ई० पू० से प्रारम्भ होकर बारहवी ई० तक चलता रहा।[2]

राय गोविन्द चन्द के मत में लक्ष्मी पहले अनार्यों की देवी थी जो कालान्तर में हमारे धर्म में आ गयी और आर्यों को इन्हें अनार्यों से अपनाना पड़ा। कभी इन्हें वरुण की स्त्री के रूप में माना गया है, कभी इन्द्र की, कभी कुबेर की और अंत में विष्णु की पत्नी के रूप में स्वीकार किया गया जो आज भी जन-प्रचलित है।[3]

उपरोक्त सभी विवरण से स्पष्ट होता है कि समराइच्च कहा में उल्लिखित लक्ष्मी को आज भी धन-वैभव की अधिष्ठात्री देवी के रूप में स्वीकृत किया जाता है। यह विश्वास जन साधारण में आज भी प्रचलित है कि दीपावली के के दिन लक्ष्मी प्रत्येक गृह में पधारती हैं। अतः उनके आगमन की प्रतीक्षा में लोग अपने घरों को स्वच्छ करते हैं, दीपक जलाते हैं, जागरण करते हैं तथा द्यूत रचाते हैं।[4] माघ मास के शुक्ल पक्ष में पंचमी को बंगाल के निवासी बड़ी धूमधाम से लक्ष्मी की मूर्ति बनाकर उसका पूजन करते हैं।[5]

चण्डिका

समराइच्च कहा में देवताओं के साथ-साथ देवी पूजन का भी उल्लेख प्राप्त होता है। तत्कालीन भारतीय समाज में चण्डिका देवी[6] की अपूर्व शक्ति में विश्वास किया जाता था मन्दिरों में उनकी मूर्ति स्थापित कर समुचित पूजा की जाती थी।[7] अपने मनोवांछित फल की सिद्धि के लिए जंगली जातियों द्वारा पशुबलि के साथ-साथ नरबलि का भी संकेत प्राप्त होता है।[8] वी० पी० सिन्हा के अनुसार प्राचीन काल में मुख्य रूप से सीरिया, एशिया-माइनर, पैलेस्तीन,

१. देखिए—रायगोविन्दचन्द–प्राचीन भारत में लक्ष्मी प्रतिमा, अध्याय–७, ८ तथा ९।
२. लक्ष्मीकांत त्रिपाठी–'लक्ष्मी एण्ड सरस्वती'—पृ० १६०–पेपर—'सेमिनार-आन लक्ष्मी एण्ड सरस्वती' -एडी०–डी० सी० सरकार।
३. रायगोविन्द चन्द—प्राचीन भारत में लक्ष्मी प्रतिमा, पृ० १२।
४. वही पृ० ३।
५. जे० यन० बनर्जी—डेवेलपमेण्ट आफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, पृ० ३७०।
६. सम० क० ४, पृ० ३५५, ३५७-५८, ३६१; ६, पृ० ५२९।
७. वही ४, पृ० ३५५, ३६०-६१।
८. सम० क० ६, पृ० ५२९।

साइप्रस, क्रीत और इजिप्ट आदि स्थान मातृ पूजा के स्थल रहे हैं। उन्हीं के अनुसार यह कहना कठिन है कि शक्ति के रूप में मातृ देवी की उपासना कहाँ से विकसित हुई; किन्तु मार्शल के विचार में सिन्धु और नील के बीच के लोग मातृपूजा से प्रभावित थे।[1] अतः स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में शक्ति पूजा का प्रारम्भ सिन्धु घाटी के लोगों से हुआ।[2] बी० पी० सिन्हा के समर्थन में डी० सी० सरकार ने भी कहा है कि पश्चिमी भारत में लोग उस समय शक्ति पूजा से पूर्णतया परिचित थे।[3]

महाभारत[4] में उल्लिखित है कि अर्जुन ने युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए श्रीकृष्ण की सलाह पर दुर्गा देवी की आराधना की थी। पिण्डनिर्युक्ति के टीकाकार ने भी महाभारत में प्राप्त साक्ष्य के समर्थन में इस बात का उल्लेख किया है। युद्ध में जाते समय लोग चामुण्डा को प्रणाम करते थे।[5] यहाँ चामुण्डा का सम्बोधन चण्डी अथवा चण्डिका से ध्वनित होता है। धर्म शास्त्रों में दुर्गा को विभिन्न नामों से सम्बोधित किया गया है, यथा—उमा, पार्वती, देवी, अम्बिका, गौरी, चण्डी (चण्डिका), काली, कुमारी, ललिता आदि।[6]

मार्कण्डेय पुराण में 'देवी माहात्म्य' खंड मिलता है।[7] वायु पुराण में भी चण्डिका का उल्लेख प्राप्त होता है।[8] चण्डेश्वर ने देवी पुराण का उद्धरण देते हुए व्यक्त किया है कि महीने में शुक्ल पक्ष की अष्टमी (विशेषतः आश्विन मास की) देवी के लिए पवित्र है और उस दिन बकरे या भैंसे की बलि होनी चाहिए।[9] आचारांग चूर्णी में चण्डिका को बकरे भैंसे तथा पुरुष आदि की बलि देकर उसे प्रसन्न करने का उल्लेख प्राप्त होता है।[10] निशीथ चूर्णी में उल्लिखित

१. बी० पी० सिन्हा—इवोल्यूशन आफ शक्ति वर्सिप इन इण्डिया, पृ० ४६ सेमिनार—'आन दी कल्ट आफ शक्ति एण्ड तारा'—एडीटेड—बाई—डी० सी० सरकार।
२. वही पृ० ५४।
३. डी० सी० सरकार—शक्ति कल्ट इन वेस्टर्न इण्डिया, पृ० ८७।
४. महाभारत, भीष्म पर्व, अध्याय २३।
५. पिण्ड निर्युक्ति-टीका ४४१।
६. पी० वी० काणे—धर्म शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ४०२।
७. मार्कण्डेय पुराण अध्याय—८१—९३।
८. वायु पुराण अध्याय ९।
९. कृत्य रत्नाकर, पृ० ३५१।
१०. आचारांग चूर्णी, पृ० ६१।

है कि अपने जमाई की तीर्थ यात्रा कुशलतापूर्वक सम्पन्न होने पर स्त्रियाँ कोट्टार्या को बकरे की बलि चढ़ाती थीं।[1] आर्या और कोट्टकिरिया (कोट्टार्या) दोनों ही दुर्गा के रूप हैं।[2] अलबरुनी ने भी लिखा है कि चामुण्डा (चण्डिका) के पुजारी देवी को खुश करने के लिए बकरा, भैंसा तथा बैल आदि की बलि चढ़ाते थे।[3]

चण्डी को महिषासुर (भैंसे के आकार वाला राक्षस) मर्दिनी कहा गया है जो मदिरा, मांस और जानवर का भक्षण करती थी, वह यशोदा के यहाँ पैदा हुई थी और पत्थर पर पटकते समय वहाँ से उछलकर स्वर्ग को चली गयी। वह वासुदेव की प्रिय बहन थी जिनका स्थायी निवास स्थान विन्ध्य-पर्वत बताया जाता है।[4] भण्डारकर के अनुसार अप्पा (दुर्गा) शबर, पुलिंद, बर्बर तथा अन्य जंगली जातियों की आराध्या देवी मानी जाती थी, जिनका आहार मदिरा और मांस था।[5]

समराइच्च कहा तथा अन्य साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में देवी पूजन का प्रचलन अवश्य था किन्तु अधिकतर जंगली जातियाँ यथा—शबर, पुलिंद आदि पशु बलि तथा नर बलि के द्वारा देवी पूजन किया करते थे। संभवतः देवी को भैंसे, बकरे आदि की बलि देकर प्रसन्न करने का प्रचलन-चण्डिका द्वारा महिषासुर (भैंसे के आकार वाला राक्षस) का वध करने के बाद से प्रारम्भ हुआ। लगता है कि लोगों में यह भावना पैदा हो गयी कि पशु बलि देकर ही देवी को खुश किया जा सकता है। राजस्थान में आज भी चण्डिका की पूजा के समय बृहद् समारोह में भैंसे की बलि दी जाती है।

नगर देवी

हरिभद्रकालीन भारतीय समाज में अन्य देवी-देवता के साथ-साथ नगर देवी[6] के अस्तित्व में भी विश्वास किया जाता था। वह नगर की रक्षिका के रूप में मानी जाती थी। उत्सव-महोत्सव के समय नगर देवी की पूजा का प्रचलन

१. निशीथ चूर्णी १३–४४००।
२. हापकिंस—इपिक माइथालोजी, पृ० २२४।
३. सचाऊ, वाल्यूम I, पृ० १२०।
४. सर आर० जी० भण्डारकर—वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलिजस सिस्टम, पृ० १४३।
५. वही, पृ० १४३।
६. सम० क० १, पृ० ११६; ४, पृ० ३५४-३५५; ५, पृ० ४५७।

था।[1] प्राकृत ग्रंथ अंगविज्जा में नगर देवता[2] का उल्लेख आया है। इससे स्पष्ट होता है कि नगरों के संरक्षक देवी-देवताओं में लोगों का विश्वास था।

कुछ विद्वानों के अनुसार यूनानी भी अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए ननाइया (Nanaia) नामक नगर देवी की पूजा करते थे। यूनानियों के प्रभाव के कारण ही इनके अधिकार में स्थित नगरों में भी उस नगर की अपनी नगर देवी की परम्परा की सम्भावना विद्वानों ने स्वीकार की है।[3]

ब्रह्मा

भारतीय धार्मिक परम्परा में ब्रह्मा को सृष्टि का रचयिता स्वीकार किया गया है। समराइच्च कहा में एक स्थान पर इन्हें विधि[4] (विधाता अर्थात् बनाने वाला) बताया गया है। एक अन्य स्थान पर इन्हें प्रजापति (ब्रह्मा का दूसरा नाम) कहकर मनोनुकूल फल की सिद्धि के लिए पूजा का विधान बताया गया है।[5] प्रजापति को ही कला का अधिष्ठाता देव समझ कर सुन्दर संसार का रचयिता बताया गया है।[6] समराइच्च कहा के ये उल्लेख ब्राह्मण धर्म का जैन ग्रन्थों पर प्रभाव दिखलाते हैं।

ब्रह्मा का प्राचीनतम इतिहास वैदिक काल के पूर्व का माना जा सकता है। प्रो० तारापद भट्टाचार्य के अनुसार वैदिक संस्कृति ब्रह्मा की अलौकिक शक्ति का ही विकसित रूप है।[7] उन्हीं के अनुसार ब्रह्मा ही संसार, मानव, देव, राक्षस वेदों एवं सभी धर्मों के जन्मदाता कहे जाते हैं।[8] यद्यपि ऋग्वेद में 'प्रजापति सूक्त' का वर्णन मिलता है जिसे कुछ विद्वानों ने सृष्टि का रचयिता देव माना है। लेकिन प्रजापति को कहीं सवित्र और सोम के विशेषण के रूप में[9] तो कहीं 'हिरण्य गर्भ' के रूप[10] में उल्लिखित किया गया है जिससे प्रजापति की

---

१. सम० क० ४, पृ० ३५५।
२. अंगविज्जा-देवता विजय अध्याय ५१, पृ० २०४-६।
३. डब्ल्यू० डब्ल्यू टार्न—ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया, पृ० ६९।
४. सम० क० ९, पृ० ८५८।
५ वही ८, पृ० ७३१, ७४२, ७६५।
६ वही ८, पृ० ७३१, ७४२—'अइसय निउणत्तं पुण एत्थं सुणभयवओ पया-वइणो। जेण जयसुंदर मिणं लडहं रुवं विणिम्मवियं'।
७. तारापद भट्टाचार्य—दी कल्ट आफ ब्रह्मा, पृ० २४५।
८. वही, पृ० १०२।
९. ऋग्वेद ४।५३।२।
१०. वही, १०।२१।१।

सार्वभौमिक शक्ति में संदेह प्रतीत होता है। प्रो० भट्टाचार्य के अनुसार वैदिक काल में ब्रह्मा का नाम अज्ञात नहीं था। ऋग्वेद में ब्रह्मणस्पति[1] को ब्रह्मा के रूप में प्रयोग किया गया है यह ब्रह्मणस्पति पूर्व वैदिक कालीन ब्रह्मा का समानार्थी है।[2]

ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रजापति को श्रेष्ठ देवता बताया गया है किन्तु अन्य स्थानों पर उन्हीं ग्रंथों में वैदिक देवताओं की स्तुति और आहुति का भी उल्लेख है जिसमें प्रजापति को अन्य देवताओं की तुलना में कम महत्व दिया गया है। प्रो० भट्टाचार्य ने अपने तर्क में यह बात सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लिखित प्रजापति (ब्राह्मण ग्रन्थों के सर्व शक्तिमान देव) का तात्पर्य प्राचीन ब्रह्मा से है जिसके माहात्म्य, शक्ति आदि को वैदिक धर्म में दबा दिया गया था।[3] यहाँ भट्टाचार्य की बात सही भी जान पड़ती है; क्योंकि समराइच्च कहा में भी ब्रह्मा को विधि अर्थात् विधाता कह कर सम्पूर्ण कलाओं का अधिष्ठाता देव माना गया है। जिससे स्पष्ट होता है कि ब्रह्मा का स्वरूप और उनकी शक्ति आदि वैदिक काल के पूर्व भी अज्ञात नहीं थी। प्रो० भट्टाचार्य ने वैदिक काल के पूर्व ब्रह्मा का सम्बन्ध 'रात्र' से जोड़ा है जिसके अंतर्गत पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि शक्तियों में विश्वास किया जाता था। धीरे-धीरे ये सभी शक्तियाँ अलग-अलग देवताओं के रूप में परिणत हो गयीं और बाद में सभी देवताओं को एकमात्र देव 'ब्रह्मा' के रूप में जाना जाने लगा।[4] तभी से इन्हें ब्राह्मण, उपनिषद् तथा बाद के अन्य ग्रंथों में कहीं ब्रह्मा, कहीं 'प्रजापति' और कहीं विधाता के रूप में स्वीकार किया जाने लगा।

काणे के अनुसार इन्द्र, यम, वरुण आदि की भाँति ब्रह्मा को भी पूजा में बलि (पक्वान का अंश) दी जाती थी।[5]

ब्रह्मा के स्वरूप और उनके वाहन का चित्रांकन अजन्ता की चित्रकला में देखने को मिलता है। वहाँ ब्रह्मा के तीन मुख दिखाए गये हैं तथा उनके वाहन हंस का भी चित्रांकन है।[6] यहाँ ब्रह्मा, विष्णु और शिव को साथ-साथ दिखाया गया है जिससे पता चलता है कि धार्मिक परम्परागत आधुनिक विचार

---

१. ऋग्वेद २।१।३।
२. तारापद भट्टाचार्य—दी कल्ट आफ ब्रह्मा, पृ० १०८।
३. वही पृ० २४६।
४. वही पृ० २४३।
५. पी० वी० काणे—धर्म शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ४०६।
६. जे० एन० बनर्जी—डेवेलपमेण्ट आफ हिन्दू इक्नोग्राफी, पृ० ५५१।

धारा (यथा—सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा, पालनकर्त्ता विष्णु तथा संहारकर्त्ता शिव) प्राचीन विचार धारा का ही प्रतिफल है ।

विष्णु

समराइच्च कहा में विष्णु की पूजा, प्रशस्ति तथा उनके स्वरूप आदि का तो उल्लेख नहीं है फिर भी कहीं परमेश्वर[1] और कहीं नारायण[2] कह कर उनकी महत्ता दर्शायी गयी है । हिन्दू धार्मिक परम्परा के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु और महेश (शिव), ये तीनों देवता सभी देवों में श्रेष्ठ माने जाते हैं और इन तीनों में भी विष्णु का स्थान श्रेष्ठतम है ।

ऋग्वेद में विष्णु की महिमा, पराक्रम एवं पूजा आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है ।[3] एक स्थान पर विष्णु को बृहत् शरीर एवं युवा रूप में युद्ध में जाते हुए उल्लिखित किया गया है ।[4] विष्णु के प्रसिद्ध दस अवतार माने गये हैं, यथा—मत्स्य, कूर्म, वाराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध, एवं कल्कि ।[5] महाभारत के शांतिपर्व में विष्णु के दश अवतारों का उल्लेख है ।[6] परन्तु वहाँ 'बुद्ध' की 'हंस' तथा कृष्ण की जगह 'सात्वत' नाम आया है ।

विष्णुधर्मोत्तर में 'विष्णुरोच' कह कर विष्णु की पूजा किये जाने का संकेत प्राप्त होता है ।[7] इन्हें चतुर्भुज देवता के रूप में पूजे जाने का उल्लेख है । उनके एक हाथ में शंख, दूसरे में चक्र, तीसरे हाथ में गदा तथा चौथे हाथ में पद्म लिए हुए दिखाया गया है ।[8]

वासुदेव, जो कि वैदिक देवता विष्णु के अवतार माने जाते थे तथा दूसरे जिन्हें नारायण के रूप में भी जाना जाने लगा, की पूजा का प्रचलन पाणिनि के समय से ही प्रारम्भ हो गयी थी ।[9] तैत्तिरीय आरण्यक में भी नारायण, वासुदेव और

१. सम० क० ७, पृ० ६५७ ।
२. वही ८, पृ० ७५७ ।
३. ऋग्वेद—विष्णु सूक्त ।
४. वही १।१५५।६ ।
५. पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ३९४ ।
६. महाभारत—शांति पर्व ३३९।१०३-४ ।
७. वासुदेव शरण अग्रवाल—प्राचीन भारतीय लोक धर्म, पृ० ८-९ ।
८. ईस्टर्न इण्डियन स्कूल आफ मेडिवल स्कल्पचर, प्लेट XLIII, XLIV
९. दी कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया, ४, पृ० ४२ ।

विष्णु को एक ही देवता के रूप में स्वीकार किया गया है।[१] नारायण को हरि तथा अनन्त एवं सर्वशक्तिशाली देवता के रूप में स्वीकार किया गया है।[२]

नर अथवा नरों के समूह का विश्राम स्थल (अन्तिम लक्ष्य) ही नारायण है।[३] महाभारत में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि मैं ही अनन्त नरों का विश्राम स्थल हूँ।[४] भण्डारकर के अनुसार 'नृ' अथवा 'नर' का प्रयोग वेदों में नर रूपी देवता (नारायण) को इंगित करता है ताकि वह (नारायण) अन्य देवताओं का अंतिम लक्ष्य (अंतिम विश्राम स्थल) बन सके।[५] नौवीं शताब्दी में भी विष्णु की एक पत्थर की मूर्ति पर भगवान नारायण का अंकन प्राप्त होता है।[६] अतः स्पष्ट है कि समराइच्च कहा में उल्लिखित नारायण तथा परमेश्वर शब्द विष्णु के पर्याय हैं। यह देवों में भी श्रेष्ठ अर्थात् परमेश्वर के रूप में आज भी मान्य हैं तथा जो समय-समय पर इस पृथ्वी पर अवतरित होकर अधर्म का नाश करके धर्म की स्थापना करते हैं।

सूर्य

हरिभद्र के काल में अन्य देवी-देवताओं की तरह सूर्य देव की सत्ता में भी विश्वास किया जाता था। समराइच्च कहा में इन्हें दिनकर कह कर ऋषिगण, किन्नर तथा लक्ष्मी आदि से वन्दनीय बताया गया है।[७] सूर्य देव को तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाला देवता समझकर उनकी पूजा की जाती थी। वह अपनी तेजस्विता के कारण ही तीनों लोकों में वन्दनीय समझे जाते थे।[८]

विश्व की प्रत्येक प्राचीन सभ्यता यथा—मिस्र, मेसोपोटामिया, ग्रीक, रोम, ईरान और भारत में सूर्य की उपासना का उल्लेख पाया गया है।[९] कुछ विद्वा-

१. तैत्तिरीय आरण्यक १०।१।६ नारायणया विद्महे वासुदेवायधिमाहि, ताव नो विष्णु प्रचोदयात।
२. दी कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया, ४, पृ० ११९।
३. मेधातिथि—आन मनु० १।१०।
४. महाभारत—शांति पर्व १२।३४१।
५. सर आर० जी० भण्डारकर—वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टम्स, पृ० ३०।
६. इपि० इंडि० १८, पृ० ३३०—'भगवतो नारायणस्य शैली प्रतिमा भक्तानाम्।'
७. सम० क० ९, पृ० ८५९-६०, ९६०।
८. वही ९, पृ० ८५९-६०।
९. लालता प्रसाद—सन वर्शिप इन ऐंसियन्ट इंडिया, इन्ट्रोडक्शन, पृ० XXIX।

रकों के अनुसार सूर्य की उपासना उत्तर पाषाण काल से ही प्रारम्भ हुई और सिन्धु घाटी की सभ्यता तथा उसके बाद तक चलती रही।[1]

वैदिक काल में सूर्य की उपासना विभिन्न रूपों में की जाती थी। सूर्य के रूप में वह प्रकाश और गर्मी प्रदान करने वाले, सवित के रूप में वह सभी लोगों को यहां तक कि मानव मस्तिष्क के विचारों को भी प्रेरणा तथा उत्साह प्रदान करने वाले विष्णु के रूप में वह सम्पूर्ण जीवों को पैदा करने वाले, पालन करने वाले तथा सम्पन्नता प्रदान करने वाले, पूषन के रूप में वह पशुओं, फसलों, भोजन तथा वनस्पतियों के संरक्षक देव के रूप में पूजनीय थे।[2]

मौर्य काल के अंतिम समय में ही सूर्य देव का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है और तभी से सूर्य-देव की मूर्ति-पूजा का प्रारम्भ होता है।[3] इण्डोग्रीक, शक और कुषाण के आगमन पर सूर्य की उपासना का प्रचार और बढ़ गया क्योंकि वे लोग (विदेशी) अपने देश में सूर्य पूजा से पूर्व परिचित थे।[4]

गुप्तकाल में सूर्य देव के बहुत से मन्दिर निर्मित किये गये। कुमार गुप्त के शासनकाल में सूर्य के सम्मान में मन्दसौर (मालवा) में तथा स्कन्द गुप्त के समय में मध्यदेश में सूर्य देव का मंदिर बनवाया गया जिसमें उन्हें भास्कर कह कर उनकी प्रार्थना की गई है।[5] गुप्त प्रशासन के पतन के पश्चात् बहुत से राजवंशों ने, यथा—मौखरी, थानेश्वर और कन्नौज के वर्धन वंशीय शासक, काश्मीर के कार्कोटक और सेन तथा बंगाल के पालवंशीय शासक सूर्य के उपासक बने रहे।[6] थानेश्वर के राजा राज्यवर्धन प्रथम, आदित्यवर्धन तथा महाराज प्रभाकरवर्धन सूर्य देव के उपासक थे।[7] अलबरुनी ने थानेश्वर नामक नगर में सूर्य देव की एक विशाल मूर्ति देखी थी।[8] प्रतिहार नरेश महेन्द्र पाल द्वितीय के उज्जैन भूमिदान पत्र में सूर्य की उपासना का उल्लेख है।[9]

सूर्य देव की मूर्ति को चतुर्भुज मंदिर की दीवालों पर चित्रित किया गया

---

१. लालता प्रसाद—सन वर्शिप इन ऐंसियन्ट इंडिया, पृ० १८९।
२. वही, पृ० १८९।
३. वही, पृ० १८८।
४. वही पृ०, १८८।
५. इन्सक्रिप्सनम इंडिकैरम, ३, पृ० ८९।
६. लालता प्रसाद—सन वर्शिप इन ऐंसियन्ट इंडिया, पृ० १८९।
७. हर्षवर्धन का मधुवन ताम्रपत्र—इपि० इण्डि० १, पृ० ७२।
८. सचाऊ १, पृ० ११७।
९. इपि० इण्डि० १४, पृ० १७८।

है। वह सात घोड़ों से खींचे जाने वाले रथ में बैठे हुए चित्रित किये गये हैं।[१] खजुराहों के संग्रहालयों में भी सूर्य की मूर्ति देखने को मिलती है। पूर्व मध्य-कालीन भारत में भी वैदिक काल की भाँति भिन्न-भिन्न नामों से सम्बोधित कर उनकी उपासना की जाती थी—यथा—सूर्य[२], इन्द्रादित्य[३], भास्कर[४], आदित्य[५] और मार्तण्ड[६] आदि। उन्हें समस्त रोगों का हर्ता तथा विश्व प्रकाशक बताया गया है।[७]

अतः स्पष्ट होता है कि सूर्य को विभिन्न नामों से सम्बोधित कर वैदिक काल से लेकर पूर्व मध्यकाल तथा उसके पश्चात भी उनकी पूजा का प्रचलन था। उन्हें विश्व को प्रकाशित करने वाला, दिन और रात को बनाने वाला तथा जीवन और शक्ति प्रदान करने वाला देव स्वीकार किया गया है।

चन्द्रमा

हरिभद्र कालीन भारतीय समाज में चन्द्रमा को भी देवता के रूप में जाना जाता था।[८] हवन और यज्ञ आदि कार्यों में अन्य देवताओं की तरह चन्द्रमा की भी अलौकिक शक्ति में विश्वास कर उनकी पूजा का विधान था। वह सकल जन मन आनन्दकारी मृगलक्षणयुक्त चन्द्रदेव के रूप में पूजनीय थे।[९] अर्थवेद में भी चन्द्रमा को देवताओं की सूची में उल्लिखित किया गया है।[१०] विष्णुधर्मोत्तर में रोच देवता का उल्लेख आया है। रोच शब्द का अर्थ रुचि (इच्छा) से लगाया जाता है अर्थात् जो जिसको रुचता था वही उसका देवता बन जाता था, वहाँ चन्द्ररोच का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[११]

---

१. विद्या प्रकाश—खजुराहो, पृ० १४०।
२. इपि० इण्डि० ११, पृ० ५५; ९, पृ० १–५ तथा ६३।
३. वही १९, पृ० १७८।
४. वही १६, पृ० १३।
५. सचाऊ १, पृ० ११०।
६. राजतरंगिणी ३, ४६७; ४, १९०।
७. जर्नल आफ दी एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल (न्यू सेरीज), २६, पृ० १४७ प्लेट २ (सूर्यः समस्त रोगानां हर्ताविश्व प्रकाशकः)।
८. सम० क० ८, पृ० ७५८।
९. वही ५, पृ० ३६४-६५।
१०. अथर्ववेद ११।६।१–२३ (पाप मोचन सूक्त); देखिए—अंगविज्जा-देवता विजय अध्याय ५१ पृ० २०४–६।
११. वासुदेवशरण अग्रवाल—प्राचीन भारतीय लोकधर्म, पृ० ८–२।

याज्ञवल्क्य स्मृति में चन्द्रमा को नौ ग्रहों में से एक माना गया है और इन नौ ग्रहों (सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु) की पूजा के लिए उनकी मूर्तियाँ क्रम से ताम्र, स्फटिक, लाल चन्दन, सोना (बुध एवं बृहस्पति के लिए), रजत, लोहा, सीसा एवं काँसे की बनी होनी चाहिए।[1] गीता में सूर्य, चन्द्र, इन्द्र अग्नि आदि देवताओं को विष्णु का नाना रूप बताया गया है।[2] इस प्रकार यह बात स्पष्ट होती है कि वैदिक काल से ही चन्द्रमा को सूर्य, इन्द्र, अग्नि आदि की श्रेणी में रखा जाने लगा और स्मृति काल तक आते-आते इन्हें (चन्द्रमा को) नौ ग्रहों में से एक मानकर पूजा जाने लगा। यहाँ चन्द्रमा के स्वरूप का उल्लेख तो नहीं प्राप्त होता है, किन्तु कुछ विद्वानों की राय में तो अग्नि, वायु, आदित्य, पृथ्वी और चन्द्रमा आदि प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले देवताओं को मनुष्य के रूप में नहीं आँका जा सकता।[3] समराइच्च कहा में इन्हें मृगलक्षणयुक्त बताया गया है जो आज भी हमें दृष्टिगोचर होता है। संभवतः इन्हें प्राकृतिक देव के रूप में स्वीकृत किया गया है।

प्राचीन जैन और बौद्ध ग्रंथ सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, अग्नि, यम, कुबेर आदि देवताओं के स्वरूप, गुण-अवगुण, मान्यता तथा पूजा आदि के सम्बन्ध में एक दूसरे का समर्थन नहीं करते; लेकिन महाकाव्यों में उल्लिखित इन आठ देवताओं को बाद के ग्रन्थों में दिक्पाल के रूप में चार मुख्य और चार गौड़ दिशाओं का अधिपति देव माना जाने लगा।[4] समराइच्च कहा में भी दिक्पाल का उल्लेख आया है; किन्तु यहाँ दिक्पाल देवों के नाम नहीं आये हैं।

देवराज इन्द्र

समराइच्च कहा में अन्य देवताओं के साथ-साथ देवराज इन्द्र[5] की अलौकिक शक्ति में भी विश्वास का उल्लेख है। एक स्थान पर इन्हें पुरंदर[6] कहा गया है।

१. याज्ञवल्क्य स्मृति १।२९६-९८।
२. भगवद्गीता—अध्याय १०, श्लोक—२१।
३. जे० एन० बनर्जी—डेवलपमेंट आफ हिंदू आइक्नोग्राफी, पृ० ४९।
४. वही पृ० ४९।
५. सम० क० ७, पृ० ६३८; ८, पृ० ७५७; ९, पृ० ९६२।
६. वही ८, पृ० ७५७; देखिए—आप्टे—संस्कृत-हिन्दी कोश—पुरं दारयति इति पुरंदर (दृ + णिच् + खच् + मुम = पुरंदर); रघुवंश २।८; मैक्डोनेल—वैदिक माइथालोजी, पृ० ११३ (यहाँ दैत्यों के पुर या गढ़ को तोड़ने के कारण ही इन्द्र को पुरंदर कहा गया है)।

वैदिक काल से ही इन्द्र की प्रतिमा एवं स्वरूप का पता चलता है। ऋग्वेद में इन्द्र को सुशिप्रीव (शक्तिशाली या मोटी गर्दन वाला), वयोदर (बड़े उदर वाला) एवं सुबाहु बताया गया है।[१] आगे उनके अंगों एवं पार्श्वों का वर्णन करते हुए जिह्वा से मधु पीने को कहा गया है।[२] ऋग्वेद में ही एक अन्य स्थान पर इन्द्र को रंगीन बालों एवं दाढ़ी वाला[३] एवं हरे रंग की ठुड्डी वाला[४] कहा गया है। कभी-कभी उन्हें स्वर्ण के रंग वाला बताया गया है।[५]

ऋग्वेद में इन्द्र का हथियार वज्र बताया गया है।[६] कभी-कभी उन्हें धनुष-बाण लिए हुए दिखाया गया है।[७] वे अंकुश भी लिए रहते थे।[८] शत्रुओं को फँसाने के लिए वह एक जाल भी लिए रहते थे।[९] इन्द्र को जन्म से ही बहादुर एवं पराक्रमी बताया गया है।[१०] ऋग्वेद में उल्लिखित है कि इन्द्र के जन्म के समय उनके भय से पर्वत, आकाश और पृथ्वी हिल उठे।[११]

इन्द्र को वैदिक कालीन भारतीयों का राष्ट्रीय देवता बताया गया है। मैक्डोनल के अनुसार इन्द्र की महत्ता का पता इससे चलता है कि लगभग दो सौ पचास स्तुति मंत्र तथा उनकी प्रशंसा एवं अन्य देवों के साथ प्रशस्ति में उल्लिखित मंत्रों की संख्या तीन सौ के करीब पहुँच जाती है।[१२] सर्वप्रथम उन्हें वर्षा का देवता (पानी बर्षाने वाला देव) और दूसरे स्थान पर युद्ध का देवता कहा जाता है जिन्होंने युद्ध में आर्यों की सहायता की थी।[१३]

हरिवंश पुराण में इन्द्रमह के उत्सव के रूप में इन्द्रध्वज के पूजन का उल्लेख

१. ऋग्वेद ८।१७।३।
२. वही ८।१७।५।
३. वही १०।९७।८।
४. वही १०।१०५।७।
५. वही १।७।२; ८।५५।३।
६. मैक्डोनल—वैदिक माइथालोजी, पृ० ५५।
७. ऋग्वेद ८।४५।४; १०।१०३।२-३।
८. वही ८।१७।१०; अथर्व० ६।८२।३।
९. अथर्वेद ८।८५।८।
१०. ऋग्वेद ३।५१।८; ५।३०।५; ८।४५।४।
११. वही १।६१।१४।
१२. मैक्डोनल—वैदिक माइथालोजी, पृ० ५४।
१३. वही पृ० ५४।

है ।[१] बृहत् संहिता में किंकिणी जाल, माला, छत्र, घंटियों और पिटकों से इन्द्र ध्वज को सजाने का उल्लेख है ।[२] कालिदास ने भी रघुवंश में इन्द्र ध्वज को सजाने का उल्लेख किया है ।[3] राजतरंगिणी में इन्द्र के उत्सव का वर्णन आता है ।[४] गुप्तकालीन मंदसौर शिलालेख में इन्द्रोत्सव को शक्र का मख कहा गया है; वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार मख, मघ और मह तीनों शब्द परस्पर सम्बन्धित हैं ।[५] अग्रवाल जी के ही शब्दों में प्राचीन भारतीयों के जीवन में इन्द्र महोत्सव हरियाली से भरी हुई शस्य श्यामला धरित्री के दर्शन से माननीय उल्लास को व्यक्त करने का उत्सव था । इसके द्वारा विश्वव्यापी प्रजनन और पृथ्वी से पनपने वाले वनस्पति जीवन को देखकर मानव के स्वाभाविक हर्ष की अभिव्यक्ति की जाती थी ।[६]

रामायण में भी आश्विन की पूर्णिमा को इन्द्र ध्वजोत्सव मनाए जाने का उल्लेख है ।[७] जैन ग्रन्थों में भी इन्द्रोत्सव का उल्लेख मिलता है । निशीथ सूत्र में इन्द्र, स्कन्द, यक्ष और भूत नामक महामहों का उल्लेख है जो क्रमशः आषाढ़ असोज, कार्तिक और चैत्र की पूर्णिमाओं के दिन मनाया जाता था । उस समय लोग खूब खाते-पीते और नाचते गाते थे ।[८] उत्तराध्ययन टीका में इन्द्रकेतु की पूजा का उल्लेख है जो बड़ी ही धूमधाम एवं वाद्य, नृत्य-गान आदि के साथ किया जाता था ।[९] बृहत्कल्प भाष्य से ~~पता चलता~~ है कि हेमपुर में भी इन्द्रमह मनाया जाता था । यहाँ इन्द्र स्थान के चारों ओर नगर की पाँच सौ कुल बालिकाएँ एकत्रित हो अपने सौभाग्य के लिए बलि, पुष्प और धूप आदि से इन्द्र की पूजा करती थीं ।[१०] इन्द्र महोत्सव के समय आमोद-प्रमोद में उन्मत्त रहने के कारण जिन सगे-सम्बन्धियों को आमंत्रित नहीं किया जा सकता था

१. हरिवंश पुराण २।१५।४ ।
२. बृहत् संहिता ४३।७ ।
३. रघुवंश ४।३—"पुरुहूते ध्वजस्येवतस्योन्नयन पंक्तयः । नवाभ्युत्थान दर्शिन्या ननन्दः सप्रजाः प्रजाः ॥"
४. राजतरंगिणी ८।१७० ।
५. वासुदेवशरण अग्रवाल—प्राचीन भारतीय लोक धर्म, पृ० ३४ ।
६. वही, पृ० ३४ ।
७. रामायण--किष्किन्धा काण्ड १६।३७ ।
८. निशीथ सूत्र १९।११-१२ ।
९. उत्तराध्ययन टीका ८, पृ० १३६ ।
१०. बृहत्कल्प भाष्य ४।५१५३ ।

उन्हें भी प्रतिपदा के दिन बुलाया जाता था।[1]

जैन ग्रंथ बृहत्कल्पभाष्य में इन्द्र को पर-स्त्रीगामी बताया गया है।[2] कल्प सूत्र के अनुसार इन्द्र अपनी आठ-पटरानियों, तीन परिषदों, सात सैन्यों, सात सेनापतियों[3] और आत्मरक्षकों से परिवृत्त होकर स्वर्गिक सुख का उपभोग करते हैं।[4]

समराइच्च कहा में उल्लिखित इन्द्र देव की महत्ता एवं पराक्रम की प्रशस्ति वेदों, पुराणों एवं अन्य जैन ग्रंथों में भी देखने को मिलती है। हिन्दू धर्म ग्रंथों के अतिरिक्त जैन ग्रंथों में इन्द्र को कहीं-कहीं पर-स्त्रीगामी बता कर इनकी महिमा को घटाया गया है। अन्य उल्लेखों से पता चलता है कि प्राचीन काल में इन्द्र महोत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता था जिसमें इन्द्र की पूजा-अर्चा की जाती थी।

यम

प्राचीन भारतीय देवताओं में यम देव की भी महत्ता पायी जाती है। यम को मृत्यु का देवता माना गया है। कठोपनिषद् में यमदेव का विशद प्रभाव देखने को मिलता है। महाभारत में भी यमदेव के प्रभावशाली अस्तित्व का पता चलता है। महाभारत, उपनिषद् तथा अन्य ब्राह्मण ग्रंथों के आधार पर यम को मृत्यु का देवता स्वीकार किया जाता है तथा उनका वाहन भैंसा माना गया है। समराइच्च कहा में यम को भगवान कृतान्त[5] के नाम से सम्बोधित किया गया है।

अथर्व-वेद के पाप मोचन सूक्त में भी यम देव का उल्लेख प्राप्त होता है।[6] विष्णुधर्मोत्तर में भी 'यम रोच' का उल्लेख प्राप्त होता है जिससे विदित होता है कि यम की भी पूजा-अर्चा लोग अपनी रुचि से करते थे (यहाँ रेच का अर्थ रुचि अर्थात् इच्छा से लगाया जाता है)।[7] रामायण में यम को चारों लोकपाल देवों (इन्द्र, यम, वरुण, और कुबेर) के अंतर्गत रखा गया है जिन्हें

---

१. निशीथ चूर्णी १९।६०६८।

२. बृहत्कल्प भाष्य १।१८५६–५९।

३. कल्पसूत्र २।२६।

४. वही १।१३।

५. सम० क० ६, पृ० ५२१।

६. अथर्ववेद ११।६।१-२३ (पाप मोचन सूक्त); देखिए—अंगविज्जा-देवता विजय अध्याय ५१, पृ० २०४–६।

७. वासुदेवशरण अग्रवाल—प्राचीन भारतीय लोकधर्म, पृ० ८-९।

क्रमशः पूरब, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर का अधिपति देव बताया गया है।[1] महाभारत में भी अन्य देवताओं की भाँति यम को दक्षिण दिशा का दिक्पाल बताया गया है।[2] प्राचीन भारत में इन्द्र, ब्रह्मा, वरुण आदि देवों के साथ यमदेव की भी पूजा का विधान था।[3] भगवद्गीता में इन्द्र, यम, सूर्य, अग्नि आदि देवताओं को विष्णु का ही रूप माना गया है।[4] इस प्रकार प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों में यम को मृत्यु का देव तथा कहीं दिक्पाल (दिशा का संरक्षक देव) बताया गया है।

समराइच्च कहा में यद्यपि यमदेव के स्वरूप आदि का उल्लेख नहीं है, फिर भी अजन्ता में यम देव को अन्य दिक्पालों के साथ भैंसे पर सवार हुआ चित्रित किया गया है।[5]

दिक्पाल

हरिभद्र कालीन समाज में दिक्पाल[6] के अस्तित्व में भी विश्वास किया जाता था। इन्हें दिशाओं का पालक अर्थात् दिशाओं की रक्षा करने वाला देव समझा जाता था। यज्ञ आदि सत्कर्मों में दिक्पाल की पूजा का विधान था।[7] इन्हें मंदिरों के अगले भाग में चारों कोनों पर स्थापित किया जाता था। उनके स्थान इस प्रकार थे—दक्षिण-पूर्व में इन्द्र और अग्नि, दक्षिण-पश्चिम में यम और निरीत, उत्तर-पश्चिम में वरुण और वायु और उत्तर-पूर्व में कुबेर और ईशान देव, मुख्यतया इनके चार भुजाएँ थीं लेकिन कभी-कभी दो भुजाएँ ही दिखलाई गयी हैं।[8] चारों दिशाओं के संरक्षक देव के रूप में इनको मान्यता प्राप्त थी।

पौराणिक आख्यानों से भी पता चलता है कि इन दिक्पालों में इन्द्र पूर्व के, यम दक्षिण के, वरुण पश्चिम के और कुबेर उत्तर के अधिपति देव माने जाते थे। इसी प्रकार अग्नि, निरीत, वायु और ईशान क्रमशः दक्षिण-पूर्व, दक्षिण-पश्चिम, उत्तर-पश्चिम और उत्तर-पूर्व के संरक्षक देव माने जाते थे।[9]

---

१. जे० यन० बनर्जी—डेवेलपमेंट आफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, पृ० ५२०।
२. महाभारत ८, ४५, ३१।
३. पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास भाग १, पृ० ४०६।
४. भगवद्गीता, अध्याय १०, श्लोक २१।
५. जे० यन० बनर्जी—डेवेलपमेंट आफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, पृ० ४८५।
६. सम० क० ६, पृ० ६०१।
७. जे० यन० बनर्जी—डेवेलपमेंट आफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, पृ० २०७-८।
८. विद्या प्रकाश—खजुराहो, पृ० १४१।
९. जे० यन० बनर्जी—डेवेलपमेंट आफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, पृ० ५१९-२०।

रामायण में चार ही लोकपालों (दिक्पाल) के नाम आये हैं—इन्द्र, यम, वरुण और कुबेर जो क्रमशः पूरब, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा के अधीक्षक देव माने जाते थे।[१] किन्तु महाभारत में अग्नि को पूर्व का, यम को दक्षिण का, वरुण को पश्चिम और भागवत सोम को उत्तर का अधीक्षक देव बताया गया है।[२]

अजन्ता के चित्रों में ब्रह्मा, विष्णु और शिव के साथ ऊपर की तरफ दिक्पालों को अपने-अपने वाहनों के साथ दिखाया गया है, यथा—वरुण मकर के ऊपर, इन्द्र हाथी पर, अग्नि दुम्बा (एक प्रकार की मछली) पर, यम भैंसे पर, वायु बारहसिंगा (एक प्रकार का हिरन) के ऊपर[3]। समराइच्च कहा में यद्यपि दिक्पालों के नाम और उनसे संबन्धित दिशाओं का उल्लेख नहीं है फिर भी अन्य प्रमाणों से ज्ञात होता है कि उन्हें अपनी-अपनी दिशाओं का संरक्षक देव समझा जाता था।

किन्नर

समराइच्च कहा में किन्नरों का उल्लेख कई बार किया गया है।[४] इनके क्रियाकलाप सर्व-साधारण लोगों से कुछ भिन्न होते थे। गन्धर्वों की भाँति ये भी संगीत के प्रेमी होते थे।[५] प्राकृत ग्रंथ अंगविज्जा में भी किन्नर-किन्नरी को देवताओं की श्रेणी में गिनाया गया है।[६] प्राचीन भारतीय लोक धर्म के अन्तर्गत किन्नरों के अस्तित्व में विश्वास किया जाता था।[७]

किन्नर का अर्थ बुरा या विकृत पुरुष कहा गया है। पुराणों में इसका सिर घोड़े का और शेष शरीर मनुष्य का बताया गया है।[८] मानसार में भी किन्नरी को अश्व मुखवाली यक्षिणी के समान वर्णित किया गया है।[९] इससे स्पष्ट होता है कि किन्नर का स्वरूप मनुष्यों से भिन्न कुछ विकृत ढंग का होता

१. जे० यन० बनर्जी—डेवेलपमेन्ट आफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, पृ० ५२०।
२. महाभारत ८, ४५, ३१।
३. जे० यन० बनर्जी—डेवेलपमेन्ट आफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, पृ० ४८५।
४. सम० क० ६, पृ० ५४७; ७, पृ० ६८५; ९, पृ० ८८२, ९६०, ९६२।
५. वही ५, पृ० ४५१।
६. अंगविज्जा-देवता विजय अध्याय ५१, पृ० २०४–६।
७. वासुदेवशरण अग्रवाल—प्राचीन भारतीय लोकधर्म, पृ० ११९।
८. देखिए—वामन शिवराम आप्टे—संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० २७५।
९. मानसार अध्याय ७।

था जिसके कारण इन्हें विकृत पुरुष गया है।[1] कालिदास ने भी किन्नरों का उल्लेख अपने ग्रंथों मे किया है।[2] बाणभट्ट ने कादम्बरी में किन्नर मिथुन का उल्लेख किया है।[3] किन्नरों का स्वरूप हमें देवगढ़ (मध्य भारत में स्थित झाँसी जिले के ललितपुर तहसील में) से प्राप्त मूर्ति में देखने को मिलता है। किन्नर मिथुन एक लम्बे पेड़ के नीचे खण्ड के अन्दर बने सुन्दर वृत्त में एक दूसरों के आमने-सामने खड़े दिखाई देते हैं, उनके ऊपर का भाग मनुष्य का है जो पंख से जुड़ा है, घुटने के नीचे वाला भाग भी मनुष्य जैसा है, किन्तु पाँव पक्षी का है तथा गरुड़ की भाँति आश्चर्यजनक आँखें हैं।[4]

मानसार अध्याय ५८ में गन्धर्व और किन्नर को एक साथ समान रूप से वर्णित किया गया है[5] उसी ग्रंथ के अध्याय आठ में किन्नरी की समरूपता अश्वमुखी यक्षिणी से की गयी है। अतः स्पष्ट होता है कि गन्धर्व, किन्नर और यक्ष के स्वरूप में कुछ समरूपता थी। ये देवता विकृत स्वरूप के होते थे और कहीं गरुड़मुखी (किन्नर और गन्धर्व) तो कहीं अश्वमुखी (किन्नरी तथा यक्षिणी) चित्रित किये गये हैं।

किन्नर रूप से तो विकृत होते ही थे, स्वभाव से भी बुरे होते थे। बौद्ध ग्रन्थों में आया है कि किन्नर अपनी दैवी शक्ति के द्वारा पंगु और विरक्त बनकर मनुष्य की आकृति धारण कर राजमहलों के पास रहा करते थे और महल की सुन्दर रानियों के साथ बुरा व्यवहार करते थे।[6]

सम्भवतः समय के परिवर्तन के साथ किन्नर जो कि आज कल अपने को गर्व से किन्नौर कहते हैं, आर्यों के आक्रमण के परिणाम स्वरूप पहाड़ियों पर ऊँचाई की तरफ बढ़ने के लिए मजबूर हुए होंगे और धीरे-धीरे आधुनिक किन्नौर वाले क्षेत्र में अपना अधिकार जमा लिए होंगे। आज भी वहाँ नब्बे प्रतिशत हिन्दू रहते हैं जो अधिकतर देव नागरी लिपि तथा विभिन्न रूपों में किन्नौरी भाषा का प्रयोग करते हैं।

१. आप्टे—संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० २७५ 'किम् (कु + डिमु बा०) बुराई; ह्रास, दोष, कलंक और निंदा के भाव को प्रकट करने के लिए यह शब्द के आदि में 'कु' के स्थान पर प्रयुक्त होता है, यथा—किसखा, किन्नरः—बुरा या विकृत पुरुष आदि।'
२. रघु० ४।७८; कुमारसंभव १।१४।
३. कादम्बरी—अनुच्छेद १२४।
४. जे० यन० बनर्जी—डेवेलपमेन्ट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० ३५३।
५. मानसार अध्याय ५८, देखिए—गन्धर्व सूची।
६. आर० यन० मेहता—प्री बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० ११९।

यक्ष

समराइच्च कहा में अन्य देवताओं की भाँति यक्ष देव को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।[1] समराइच्च कहा में संतान प्राप्ति की कामना से यक्ष-देव की पूजा का उल्लेख है।[2] यक्ष-देव का इतिहास अति प्राचीन जान पड़ता है। मोतीचन्द के अनुसार कुछ विद्वानों के विचार में यह कल्पना की जाती है कि यक्ष और नाग उत्तर भारत में आर्यों के आगमन के पूर्व दस्युओं द्वारा उर्वरता और वर्षा के देव के रूप में पूजे जाते थे।[3] कुमार स्वामी ने अपना मत प्रतिपादित करते हुए बताया है कि यक्ष अपने संरक्षक देव की महत्ता को खोकर राक्षसी प्रवृत्ति के देवों में गिने जाने लगे जो कि धार्मिक ग्रन्थों की ईर्ष्या से प्रभावित जान पड़ते हैं।[4]

कुमार स्वामी ने वेदों और उपनिषद् ग्रन्थों का उद्धरण देते हुए यक्षों के विषय में दो विचार धाराएँ प्रतिपादित की हैं—प्रथम भय और अविश्वास जो कि प्राकृतिक था, क्योंकि आर्य लोग अनार्यों के देवताओं में विश्वास नहीं करते थे। दूसरा विचार यक्षों के विषय में उनके प्रति उच्च सम्मान था जिसका उल्लेख अथर्ववेद और उपनिषद् में पाया जाता है। उन्हीं के अनुसार वनस्पति और जल को वैदिक काल में जीवन का प्रतीक माना गया है जिसका सम्बन्ध यक्ष देव से रहा; क्योंकि यक्ष सर्वप्रथम वनस्पतियों के देव समझे जाते थे जो जीवन, रस और जल का प्रतीक है।[5]

यक्ष का उल्लेख वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर किया गया है। अथर्ववेद में वरुण अथवा प्रजापति को पानी पर विश्राम करते हुए यक्ष के रूप में चित्रित किया गया है।[6] इसी ग्रन्थ में एक अन्य स्थान पर एक ब्रह्म नामक यक्ष को शरीर में प्रवेश करने वाला बताया गया है।[7] इस

---

१. सम० क० ३, पृ० १७४; ५, पृ० ४०२; ६, पृ० ५१९, ५४७।
२. वही ४, पृ० २८८, २३५–'अन्नयावच्चचिन्ता समुप्पज्जई। तओ तन्नय-रसन्निहियस्स धणदेवाभिहाण जक्खस्स महापूयं काऊण कयं उवाइयमणेहिं।'
३. मोतीचन्द—'सम ऐस्पेक्ट्स आफ यक्ष कल्ट इन ऐंसियन्ट इण्डिया', पृ० २४५–फ्राम–पूर्ये फेलिसिटेशन वाल्यूम।
४ कुमार स्वामी—यक्षाज, १, पृ० ४।
५. देखिए—मोतीचन्द—'सम ऐस्पेक्ट्स आफ यक्ष कल्ट इन ऐंसियन्ट इण्डिया-फ्राम–'पूर्ये फेलिसिटेशन वाल्यूम'।
६. अथर्ववेद १०।७।३८।
७. वही १०।२।२८–३३।

बात का समर्थन हमें महाभारत से भी प्राप्त होता है।[1] वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार वीर ब्रह्म के रूप में यक्ष की पूजा आधुनिक काल में भी बंगाल से गुजरात तक और हिमालय से कन्या कुमारी तक प्रचलित है।[2]

आर० यन० मेहता ने जातक कथाओं के आधार पर यह विचार प्रतिपादित किया है कि इन कथाओं में यक्षों की दयालुता का भाव समाप्त सा दिखाई देने लगा और वे भयानक रूप में चित्रित किये गये। वे मनुष्य एवं जानवरों की मांस पर तथा प्रेत की तरह रेगिस्तान, जंगल, वृक्ष एवं जलों में रहते हुए दिखाए गये हैं।[3] एक जैन ग्रंथ आवश्यक चूर्णी में उल्लिखित है कि आडम्बर नामक एक यक्ष का आयतन हाल में भरे हुए हड्डियों के आयतन पर बनाया जाता था।[4] निशीथ चूर्णी के उल्लेख से पता चलता है कि यक्ष प्रसन्न होने पर लाभ तथा अप्रसन्न होने पर हानि भी पहुँचाते थे।[5] जैन सूत्रों में इन्द्रग्रह, धनुर्ग्रह, स्कन्दग्रह और भूतग्रह के साथ-साथ यक्षग्रह का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[6]

मोतीचन्द के अनुसार बौद्ध, जैन और ब्राह्मण साहित्य में यक्ष को प्रथम तो दयालु (सच्चरित्र) और दुष्ट दोनों रूपों में चित्रित किया गया है। दूसरे उनको पूजे जाने का निश्चित स्थान भी बताया गया है जहाँ पूजा द्वारा लोग उन्हें प्रसन्न किया करते थे। तीसरे वे लोगों पर छा जाते थे और उनके प्रश्नों का उत्तर देते थे।[7] समराइच्च कहा में धन-देव यक्ष का नाम आया है जिसका एक आयतन था जहाँ लोग सन्तान, धन-वैभव आदि प्राप्त करने के लिए पूजा करते थे। इसी ग्रंथ के चतुर्थ भव में धन और धनश्री की कथा कही गयी है। धन का जन्म धनदेव यक्ष की मनौती पर ही हुआ था जिसके कारण उसके माता-पिता ने अपने पुत्र का धन (धनदेव यक्ष के नाम पर) ही रखा था। मोतीचन्द ने भी विस्तृत विवरण के साथ समराइच्च कहा के समर्थन में बताया है कि यक्ष भविष्य द्रष्टा के रूप में माने जाते थे तथा अपने भक्तों को सन्तान,

१. महाभारत—शांति पर्व १७१।५२।
२. वासुदेवशरण अग्रवाल—प्राचीन भारतीय लोक धर्म, पृ० ११८।
३. आर० यन० मेहता—प्री बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० ३२४।
४. आवश्यक चूर्णी २, पृ० २२७।
५. निशीथ चूर्णी २, पृ० ३०८; ३, पृ० ४१६।
६. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र २४, पृ० १२०।
७. मोतीचन्द—'सम ऐस्पेक्ट्स आफ यक्ष कल्ट इन ऐंसियन्ट इंडिया', पृ० २४९ फ्राम 'धूर्ये फेलिसिटेशन वालूम।

धन-वैभव एवं यश प्रदान करते थे। वे उन लोगों को हानि पहुँचाते थे जो उनके वृक्ष को नुकसान पहुँचाते थे जिसमें उनका वास होता किन्तु वे पुष्प, मालाओं तथा बलि द्वारा पूजे जाने पर प्रसन्न भी होते थे।[1]

विद्याधर

समराइच्च कहा में विद्याधरों का उल्लेख कई बार किया गया है[2]। तत्कालीन समाज में विद्याधर लोग श्रमणत्व की सिद्धि[3] के साथ-साथ यज्ञ-हवन आदि के द्वारा मंत्र-सिद्धि किया करते थे। सिद्धि से प्राप्त अलौकिक शक्ति के द्वारा वे सर्वसाधारण को प्रभावित किया करते थे[4]। इन्हीं सिद्धियों के कारण इन्हें देवताओं की श्रेणी में गिना जाता था। किसी महत्त्वपूर्ण कार्य के अवसर पर ये मुक्तहस्त से पुष्प-वर्षा भी करते थे[5]। समराइच्च कहा में विद्याधरों के अपने नगर का उल्लेख है। उनके स्वामी को विद्याधरों का राजा कहा गया है[6]। एक अन्य जैन ग्रन्थ अंगविज्जा में भी विद्याधर को देवताओं की श्रेणी में गिनाया गया है[7]। रघुवंश में राजा दिलीप के त्याग और भक्ति के ऊपर प्रसन्न होकर विद्याधरों द्वारा उनके ऊपर पुष्प-वृष्टि किये जाने का उल्लेख है।[8]

कथासरित्सागर में विद्याधरों का उल्लेख कई बार किया गया है। समराइच्च कहा की ही भाँति इस ग्रन्थ में भी विद्याधरों के राजा[9] तथा उनकी सैन्य-शक्ति[10] का उल्लेख है जिसके बल पर वे नगर में शासन करते थे। कथा-

---

१. मोतीचन्द—सम ऐस्पेक्ट आफ यक्ष इन ऐंसियन्ट इंडिया, पृ० २४७—'घूर्ये फेलिसिटेशन' वालूम से।

२. सम० क० १, पृ० ५६; २, पृ० १०७, १०९; ४, पृ० ३६७, ४१२, ४१९, ४३८, ४३९, ४४१, ४२–४३, ४४८, ४५३–५४–५५–५६–४६३; ६, पृ० ५००, ५०४, ५४५, ५५८, ५६३; ७, पृ० ६११, ६४८, ६६६, ६८१, ६८२; ८, पृ० ७३६–३७–७४९, ७८०; ९, पृ० ९३९।

३. वही १, पृ० ५६।

४. वही ५, पृ० ४६८–६९; ८, पृ० ७७५।

५. वही ७, पृ० ६०७।

६. वही ५, पृ० ३६७, ४५६; ६, पृ० ५५८; ७, पृ० ६४८।

७. अंगविज्जा-देवता विजय—अध्याय ५१, पृ० २०४–६; तथा देखिए—अध्याय ५८।

८. रघुवंश २।६०—'तस्मिन्क्षणे पालयितुः प्रजानामुत्पश्यतः सिंहनिपातमुग्रम्।
अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात विद्याधर हस्तमुक्ता ॥'

९. यन० यम० पिंजर—नोट्स आन टानीज ओसन आफ स्टोरी, ५, पृ० १।

१०. वही ४, पृ० १०।

सरित्सागर की व्याख्या करते हुए पिंजर का विचार है कि प्राचीन भारत में कुछ लोग जादुई शक्ति प्राप्त करने के लिए संन्यस्त जीवन बिताते थे; जिस शक्ति को प्राप्त कर लेने पर उसका प्रयोग अच्छे अथवा बुरे उद्देश्यों के लिए करते थे।[1] उन्हीं के विचारों में ऐसी शक्ति अथवा विद्या (जिसे विज्ञान अथवा कला भी कहा जा सकता है) को प्राप्त कर लेनेवाले लोग विद्याधर कहे जाने लगे।[2] इस बात का समर्थन हमें समराइच्च कहा से भी होता है जहाँ हम यह पाते हैं कि विद्या की सिद्धि (हवन, पूजन आदि के द्वारा) प्राप्त कर लेने पर साधारण मानव भी सम्पूर्ण कलाओं को जीत लेता था। विद्याधर का साधारण अर्थ भी विद्या को धारण करने वाला है। अतः स्पष्ट होता है कि ये लोग पहले मानव थे, किन्तु हवन, तंत्र-मंत्र आदि के सहारे विशिष्ट विद्या (कला अथवा विज्ञान) को प्राप्त कर लेने पर विद्याधर कहलाये जाने लगे।

गन्धर्व

विद्याधरों की भाँति गन्धर्व भी प्राचीन भारतीय देवताओं की श्रेणी में गिने जाते थे। समराइच्च कहा में गन्धर्वों को सामान्य लोगों से कुछ भिन्न बताया गया है।[3] ये लोग भी तंत्र-मन्त्र की सिद्धि करते तथा संगीत एवं वाद्य में रुचि लेते थे। गन्धर्व सुन्दरियों द्वारा मधुर संगीत के आयोजन का उल्लेख है।[4] सम्भवतः ये गान्धार देश के निवासी[5] थे, जो प्रारम्भ में मानव थे; किन्तु कालान्तर में अर्ध-दैविक लोगों के रूप में कल्पित किये जाने लगे। अंगविज्जा नामक जैन ग्रन्थ में भी देवताओं की सूची में गन्धर्व का उल्लेख है।[6]

अथर्व-वेद के पाप मोचन सूक्त में भी गन्धर्व को देवताओं की श्रेणी में गिनाया गया है।[7] वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार भूत, पिशाच, किन्नर, राक्षस, गन्धर्व यातुधान, किम्पुरुष, नाग, यक्ष, दानव आदि प्राचीन लौकिक देवता की श्रेणी में गिने जाते थे।[8] भगवद्गीता में विष्णु, रवि, मरीचि, चन्द्र,

---

१. नोट्स आन टानीज ओसन आफ स्टोरी ४, पृ० ४६।
२. वही ४, पृ० ४६।
३. सम० क० ४, पृ० २४८, ३३६; ६, पृ० ५४५, ५४८।
४. वही ६, पृ० ५४५।
५. वही ५, पृ० ४५८-५९।
६. अंगविज्जा—देवता विजय अध्याय ५१, पृ० २०४-६।
७. अथर्व-वेद—पापमोचन सूक्त ११।६।१-२३।
८. वासुदेवशरण अग्रवाल—प्राचीन भारतीय लोकधर्म, पृ० ११९।

इन्द्र, रुद्र, अग्नि आदि के साथ-साथ गन्धर्व को देवता की श्रेणी में गिनाया गया है तथा इन सब को भगवान् की विभूति या नाना रूप कहा गया है।[१]

महाभारत में एक स्थान पर गन्धर्व द्वारा उत्सव में सम्मिलित होने का उल्लेख है।[२] रामायण और महाभारत में चित्ररथ को गन्धर्वों का राजा बताया गया है।[3] याज्ञवल्क्य स्मृति में गन्धर्व के सुन्दर स्वर का उल्लेख है।[४] कुछ विद्वानों के अनुसार गन्धर्व और किन्नर अर्ध दैविक चरित्र वाले काल्पनिक देव थे जिनका प्राचीन भारतीय धार्मिक साहित्य और कला में कम महत्व है।[५]

यद्यपि समराइच्च कहा में गन्धर्वों के स्वरूप का उल्लेख नहीं है फिर भी अन्य स्थान पर इनके स्वरूप का पता चलता है। मानसार में उल्लिखित है कि गन्धर्व और किन्नर दोनों के पैर जानवर जैसे थे, ऊपर का भाग मानव जैसा किन्तु मुख गरुड़ जैसा था। उनकी भुजाएँ पंख से जुड़ी हुई थी, वे कमल का ताज धारण किये थे और मधुर संगीत तथा वाद्यों से संयुक्त होते थे।[६]

गन्धर्व स्वरूप से सुन्दर थे वे ताज धारण करते, कानों में आभूषण पहनते, समारोह में भाग लेते और वीणा बजाते थे।[७] मध्य भारत (भरहुत, साँची) के प्राचीन बौद्ध स्मारकों में गन्धर्व का नीचे का भाग चिड़ियों जैसा दिखाया गया है। उनके हाथ पंख से लगे हुए हैं किन्तु सिर तथा धड़ मानव जैसा है। वे सिर पर ताज तथा कानों में कुण्डल धारण किये हुए दिखाए गये हैं।[८] अजन्ता के चित्रों में गन्धर्वों के जोड़े का समानरूप में; किन्तु हाथों में वीणा बजाते हुए चित्रित किया गया है।[९]

समराइच्च कहा तथा अन्य साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि गन्धर्व अर्ध-लौकिक देवता थे जो संगीत, वाद्य, नृत्य के शौकीन होते थे। वे लोग महत्वपूर्ण समारोहों में भाग लेते और अपने मधुर संगीत से लोगों को प्रभावित करते रहते थे।

१. भगवद्गीता—अध्याय १०, श्लोक २६।
२. महाभारत—आदि पर्व २१२, पृ० ६-७।
३. जे० यन० बनर्जी—डेवेलपमेंट आफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, पृ० ३५१; देखिए- विष्णु-धर्मोत्तर सूत्र ३, २२१, ७।
४. याज्ञ० १।७१—"सोमं शौचं ददावासां गन्धर्वश्च शुभां गिरम्।"
५. जे० यन० बनर्जी—डेवेलपमेन्ट आफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, पृ० ३५१।
६. मानसार अध्याय ५८, पृ० ५७०।
७. हेमाद्रिव्रत खण्ड, पृ० १३९।
८. जे० यन० बनर्जी—डेवेलपमेंट आफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, पृ० ३५२।
९. वही पृ० ३५२।

वानमन्तर

हरिभद्र ने समराइच्च कहा में इस प्रत्यक्ष देव को कभी वानमन्तर[1] और कभी व्यन्तर सुर[2] कह कर सम्बोधित किया है। सम्भवतः ये दोनों नाम एक ही देवता को सम्बोधित करते हैं। तंत्र-मंत्र की सिद्धि द्वारा इन्हें भी कुछ अलौकिक शक्ति प्राप्त थी जिसका वे कभी-कभी दुरुपयोग भी करते थे।[3] भगवान् जिनके सत्कार में इन देवताओं को विशिष्टता प्राप्त थी।[4] निशीथ चूर्णी में भी वानमन्तर देव[5] का उल्लेख किया गया है जिन्हें यक्ष, गुह्यक आदि की श्रेणी में गिना जाता था। अनेक अवसरों पर वानमन्तर देव को प्रसन्न करनेके लिए सुबह, दोपहर और संध्या के समय पटह बजाया जाता था।[6] बृहत्कल्प भाष्य में वानमन्तर देव की पूजा का उल्लेख किया गया है।[7]

नया मकान बनकर तैयार होने पर वानमंतरी की पूजा की जाती थी।[8] वानमंतरियों में सालेज्जा भगवान् महावीर की भक्त थी।[9]

समराइच्च कहा तथा अन्य ग्रन्थों में वानमंतर देव के स्वरूप का पता नहीं चलता है; किन्तु स्वभावतः ये लोग कुछ दुष्ट प्रकृति के होते थे। कभी-कभी अपनी अलौकिक शक्ति का दुरुपयोग भी करते थे जिसके कारण लोग इनकी पूजा किया करते थे।

क्षेत्र देवता

समराइच्च कहा में इन्हें स्थान विशेष का प्रभावशाली देव बताया गया है; जो अपने क्षेत्र के अन्तर्गत किसी अनैतिक कार्य को नहीं होने देते थे।[10] उत्तराध्ययन सूत्र और अभिधान चिन्तामणि आदि में चार देवताओं (ज्योतिष, विमानवासी, भवनपति और व्यंतर देव) के साथ जिन देवताओं का उल्लेख

१. सम० क० ६, पृ० ५९२; ८, पृ० ७३७।
२. वही १, पृ० १०, ५६; ३, पृ० १७२; ८, पृ० ७८७।
३. वही ८, पृ० ७३७।
४. वही ८, पृ० ७८७।
५. निशीथ चूर्णी १, पृ० ८-९; ४० पृ० १३।
६. दशवैकालिक चूर्णी, पृ० ४८।
७. बृहत्कल्पभाष्य ४।४९६३।
८. वही ३।४७६९।
९. आवश्यक चूर्णी, पृ० २९४।
१० सम० क० ७, पृ० ६२१, ६८८, ७२८; ८, पृ० ७३७।

बताया है—उनमें विद्यादेवी (सरस्वती), श्री (लक्ष्मी), गणेश तथा क्षेत्रपाल देव का भी उल्लेख किया गया है।[1]

क्षेत्रदेव की मान्यता एवं प्रभाव अपने क्षेत्र (कुछ सीमा के अन्दर) के अन्तर्गत ही था। सम्भवतः ये स्थानीय देव के रूप में जाने जाते थे जिनकी तुलना क्षेत्र-पाल (क्षेत्र की रक्षा करने वाला देव)[2] से की जा सकती है।

भवनवासी देव

हरिभद्र के काल में भवनवासी[3] देव के अस्तित्व में विश्वास किया जाता था। सम्भवतः यह गृह देव के रूप में जाने जाते थे तथा गृह की सुख-सम्मृद्धि के लिए इन्हें पूजा जाता था। भगवान् जिन के स्वागत समारोह में भी अन्य देवताओं के साथ-साथ भवनवासी देव की भूमिका थी।[4] उत्तराध्ययन सूत्र तथा अभियान चिन्तामणि आदि ग्रन्थों में भवनवासी देव को भवनपति बताया गया है।[5]

ज्योतिष्क देव

भवनवासी देव की भाँति ज्योतिष्क[6] देव की भी अधिमान्यता थी। भगवान् जिन के स्वागत समारोह में अन्य देवताओं के साथ ज्योतिष्क देव का भी स्थान महत्वपूर्ण समझा जाता था। अन्य जैन ग्रन्थों में इन्हें ज्योतिषि देव कहा गया[7] है, किन्तु उनके स्वरूप का पता नहीं चलता है।

वन-देवता

हरिभद्र ने अन्य देवी-देवताओं के साथ वन-देवता[8] की लौकिक शक्ति की तरफ संकेत किया है। जंगल के अधिपति देव को वन-देवता के रूप में स्वीकार किया जाता था। वन-देवता को जंगल में रहने वाले जीव-जन्तुओं का कल्याण-कारी समझ कर उनकी वन्दना किये जाने का उल्लेख है।[9] बृहत्कल्प-भाष्य

---

१. जे० यन० बनर्जी—डेवेलपमेंट आफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, पृ० ५६१।
२. देखिए—आप्टे—संस्कृत हिन्दी कोश।
३. सम० क० ८, पृ० ७८७।
४. वही ८, पृ० ७८७।
५. जे० यन० बनर्जी—डेवेलपमेंट आफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, पृ० ५६१।
६. सम० क० ८, पृ० ७८७।
७. जे० यन० बनर्जी—डेवेलपमेंट आफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, पृ० ५६१।
८. सम० क० ५, पृ० ४२०; ७, पृ० ६६२–६६३।
९. वही ७, पृ० ६६२।

में भी वन-देवता का उल्लेख प्राप्त होता है।[१] रामायण के उल्लेख से भी पता चलता है कि जब हनुमान जी सीता की खोज में लंका पहुँचे तो सीता को देखकर पहले यह समझे कि यह नंदन वन की देवता हैं।[२] डा० मेहता ने जातक कथाओं के आधार पर यहाँ तक सिद्ध किया है कि प्राचीन काल के लोगों में यह भावना प्रचलित थी वृक्षों में भी दैवी-आत्मा का वास होता है। परिणामतः सन्तान, धन-वैभव एवं सम्पन्नता के लिए वृक्षों को देवता की भाँति पूजा जाने लगा।[3] उनकी पूजा के लिए लोग पुष्प, मालाएँ और यहाँ तक कि जीव-बलि भी देते थे।[४] काणे ने भी धर्मशास्त्रों के आधार पर वृक्ष का दैवी माहात्म्य बताते हुए वृक्षारोपण को पवित्र कृत्य बताया है।[५] वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'वृक्ष मह' के सन्दर्भ में बताया है कि प्राचीन काल में वृक्ष-पूजा के पीछे आदिम मानव के मन की सहज प्रवृत्ति रही होगी जिसके कारण उसका वृक्षों की तरफ खिचाव हुआ और उसने उन्हें देव-भाव से पूज्य माना[६]। इस प्रकार वृक्ष-पूजा की मान्यता से यह स्पष्ट हो जाती है कि प्राचीन काल के लोग वृक्षों के समूह उद्यान एवं वन में भी दैवी-शक्ति मानने लगे। परिणामतः वन-देवता की भी अधिमान्यता प्रारम्भ हुई। अतः गृह-देवता, कुल-देवता, नगर-देवता और क्षेत्र-देवता की भाँति वन-देवता को भी अपने क्षेत्र के अन्तर्गत स्थित देव माना जाने लगा तथा उसकी शक्ति में विश्वास कर अरण्यों में आपत्ति के समय सुरक्षा के लिए उनका आह्वान किया जाने लगा।

कुल-देवता

समराइच्च कहा में कुल देवता का भी उल्लेख कई स्थानों पर किया गया है।[७] हर परिवार के लोग अपने तथा परिवार के कल्याण के लिए कुल क्रमागत-देव का हवन-पूजन करते थे। पूजा के साथ-साथ अपने मनोनुकूल कार्यों की सिद्धि के लिए उन्हें जीव बलि भी दी जाती थी।[८] किन्तु बृहत्कल्पभाष्य में आया है जब कभी गलगंट अथवा महामारी से लोग मरने लगते, शत्रु के सैनिक

१. बृहत् कल्पभाष्य १।३१८।
२. रामायण—सुन्दरकाण्ड ३०।२—'अवेक्षमाणस्तां देवीं देवतामिव नंदने।'
३. आर० यन० मेहता—प्री बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० ३२६।
४. वही पृ० ३२६।
५. पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ४७३–७५।
६. वासुदेवशरण अग्रवाल—प्राचीन भारतीय लोकधर्म, पृ० ७६।
७. सम० क० ४, पृ० २९८, ३०३; ६, पृ० ५१५।
८. वही ६, पृ० ५१५।

नगर के चारों तरफ घेरा डाल देते, भुखमरी फैल जाती तो पुरवासी आचार्य (पूजा-पाठ करने वाले) के पास जाते और रक्षा के लिए प्रार्थना करते थे। आचार्य अशिव आदि की शांति के लिए एक पुतला बनाते तत्पश्चात मंत्र-पाठ द्वारा उसका छेदन कर कुल देव को प्रसन्न करते थे। इस प्रकार कुल देवता की शांति पर उपद्रव भी शांत हो जाता था।[1] किन्तु यहाँ के कुल देव को समराइच्च कहा में उल्लिखित कुल देवता से भिन्न बताया गया है। अंगविज्जा में भी देवताओं की सूची में कुल देवता का उल्लेख है;[2] किन्तु उनके स्वरूप आदि पर प्रकाश नहीं डाला गया है।

काणे के अनुसार प्राचीन काल में इन्द्र, यम, वरुण, ब्रह्मा आदि के साथ घरेलू देवता (कुल देवता) को प्रसन्न रखने के लिए बलि (पक्वान्न का अंश आदि) दी जाती थी।[3] कुमार सम्भव में भी कुल देवता का उल्लेख है, यहाँ पार्वती जी द्वारा उन्हें प्रणाम किये जाने की बात कही गयी है।[4]

साधु-संन्यासी (श्रमण-धर्म)

भारतीय समाज के रंग मंच पर विभिन्न धर्मावलंबियों द्वारा जन मानस में अपने-अपने धर्म के प्रचार, प्रसार एवं प्रभाव को स्थायित्व प्रदान करने का प्रयास किया गया। परिणामतः भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति भी उनसे प्रभावित हुए बिना न रही। कहीं वैदिक धर्म का तो कहीं जैन और बौद्ध धर्म का और कहीं मुसलमान धर्म का तो कहीं ईसाई धर्म का प्रभाव दृष्टिगोचर होता रहा है। ऐतिहासिक परिवर्तनों के साथ ही समय-समय पर धार्मिक परिवर्तन का रूप यत्र-तत्र परिलक्षित होता रहा है।

धार्मिक परिवर्तन एवं परिवर्धन के परिवेश में हरिभद्र कालीन समाज में हम मुख्यतया वैदिक धर्म, बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म का स्पष्ट चित्रावलोकन करते हैं। तत्कालीन समाज के विभिन्न धार्मिक धाराओं के बीच भारतीय संस्कृति मुख्यतया जैन, बौद्ध एवं वैदिक धर्म से प्रभावित थी, जिनके क्रिया कलाप समराइच्च कहा में स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं।

प्राचीन काल से ही जैन धर्म के प्रवर्तकों तथा तीर्थंकरों द्वारा समाज में अपने धर्म के प्रचार-प्रसार एवं परिवर्धन का प्रयास किया जाता रहा है। समय-

---

१. बृहत्कल्पभाष्य ४,५११२-१३ तथा ५११६।

२. अंगविज्जा, अध्याय ५८।

३. पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १ पृ० ४०६।

४. कुमारसम्भव ७।२७—'तामर्चिताभ्यः कुलदेवताभ्यः कुलप्रतिष्ठां प्रणमय्य माता:।'

समय पर इस धर्म में कुछ सुधार भी किये गये तथा जन समूह के कल्याणार्थ नियम, संयम तथा व्रत आदि के विधानों का प्रतिपादन कर इस धर्म का प्रचार किया गया। परिणामतः भारतीय संस्कृति के परिवर्तन में इस धर्म का योगदान आज भी परिलक्षित होता है। इस धर्म का मुख्य लक्ष्य शुभ आचरण परिणाम से सम्पूर्ण कर्ममल से मुक्ति पाना और तत्पश्चात केवल ज्ञान के प्रभाव से सिद्धि सुख अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति करना बताया गया है।[1] जिस सिद्धि अथवा परम-पद को प्राप्त होकर जीव को इस संसार में जन्म, जरा मरण आदि दुखों से मुक्ति मिल जाती है।[2] जैन धर्म के अनुसार सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, और सम्यक् चरित्र ये तीनों मिल कर उस मोक्ष मार्ग का निर्माण करते हैं,[3] जिस पर चलने से जीव और पुद्गल अंततोगत्वा अलग-अलग हो जाते हैं। पुद्गल से सर्वथा मुक्त जीव ही शुद्ध आत्मा है, सिद्ध है एवं परमात्मा है।[4] अतः हरिभद्र काल में भी श्रमणत्व का पालन परम-पद का साधक तथा सुख का सार माना जाता था।[5]

श्रमणत्व-कारण

समराइच्च कहा में जैन परंपरा के अनुसार सांसारिक क्लेश (जन्म-जरा-मरण-रोग-शोक-संयोग और वियोग) के कारण ही सम्पूर्ण दुखों के मोचक श्रमणत्व को ग्रहण करने का उल्लेख है।[6] अर्थात् सांसारिक दुखों से छुटकारा पाकर परम पद (मोक्ष) की प्राप्ति का मुख्य साधन श्रमणाचरण ही माना जाता था। नारक, तिर्यक, मनुष्य और देवादि के द्वारा कुछ न कुछ पाप होता है और पाप से ही सभी दुख गृहीत होते हैं तथा जब व्यक्ति यह सोचता है कि किन कारणों से मेरी उत्पत्ति हुई है और मुझे कहाँ जाना है तो वही विचार (तर्क-वितर्क) श्रमणत्व का कारण बन जाता है।[7] अतः दुखों का कारण और

---

१. सम० क० ४, पृ० ३३४; ६, पृ० ४९८; ७, पृ० ७२०, ७२३; ८, पृ० ८३१; ९, पृ० ९५३।
२. सम० क० ४, पृ० ३२८, ३४९; ७, पृ० ६२७; ८, पृ० ७८०; ९, ८७१, पृ० ९१७।
३. तत्त्वार्थ सूत्र १।१ (सम्यक्दर्शन ज्ञान चरित्राणि मोक्ष मार्गः)।
४. मोहनलाल मेहता—'जैन दर्शन', पृ० ३१।
५. सम० क० ५, पृ० ४७९; ९, पृ० ९१७, ९४८।
६. वही ४, पृ० ३३७; ७, पृ० ७१०; ९, पृ० ९२६।
७. वही १, पृ० ४७; २, पृ० १०२।

दुख से छुटकारा पाने का उपाय ही श्रमणत्व आचरण का कारण बताया गया है।

प्रव्रज्या

समराइच्चकहा में जैन सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार कर्मतरु को काट कर सभी प्रकार के बन्धनों से छुटकारा पाने के लिए प्रव्रज्यारूपी महाकुठार परलोक में सहायक बताया गया है।[1] शुभ परिणाम योग से प्रव्रज्या ग्रहण करना तथा चरित्र पालन करते हुए आगम-विधि से देह-त्याग कर सुरलोक की प्राप्ति में विश्वास किया जाता था।[2] सर्वसाधारण से लेकर मध्यम श्रेणी के लोग तिथिकरण मुहूर्त एवं शुभ शकुन की बेला में प्रवचन के बाद पत्नी आदि के सहित प्रव्रज्या ग्रहण करते थे।[3] किन्तु राजा-महाराजा एवं धनी-सम्पन्न घरानों के लोग प्रव्रज्या ग्रहण करते समय प्रशस्त तिथि-करण मुहूर्त में पूजा, महादान, अष्टाहिका महिमा आदि के द्वारा माता-पिता, भाई, पत्नी तथा परिजनों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण करते थे।[4] दीक्षा के पूर्व भगवान् महावीर के शरीर पर चन्दन आदि का विलेपन किया गया था जिससे उनपर चार माह से भी अधिक समय तक स्थान-स्थान पर नाना प्रकार के जीव-जन्तुओं का आक्रमण होता रहा।[5] प्रव्रज्या ग्रहण करने के पूर्व लोग माता-पिता अथवा परिवार के अन्य लोगों की राय ले लिया करते थे।[6] उत्तम जाति तथा गुण वाले व्यक्तियों के लिए महा-प्रव्रज्या भी ग्रहण करने का विधान था।[7]

समराइच्च कहा की ही भाँति उत्तराध्ययन में प्रव्रज्या ग्रहण करने का कारण जीवन की क्षणभंगुरता तथा दुख बताया गया है।[8] कर्मफल सभी को

---

१. सम० क० १, पृ० ५६; २, पृ० १२७; ४, पृ० २४६, ३४३, ३५०; ६, पृ० ५७४, ५९०, ५९३; ७, पृ० ६२३, ७२४–२५; ८, पृ० ८११–१२।
२. वही ३, पृ० २८१; ७, पृ० ७१२–१३।
३. वही ३, पृ० २२२; ५, ४८७; ६, पृ० ५७५, ७२६; ८, पृ० ८४५।
४. वही १, पृ० ६८–६९; ४, पृ० २९८, ३५३; ५, पृ० ४७५, ४८७–८८, ६, पृ० ५९३; ७, पृ० ६१८, ६२९, ६९४–९५; ८, पृ० ८३७; ९, पृ० ९३६–३७।
५. मोहनलाल मेहता—'जैनाचार', पृ० १५३।
६. सम० क० ५, पृ० ४८५।
७ वही ६, पृ० ५८८।
८. उत्तराध्ययन १४।७।

भोगना पड़ता है; इसमें बन्धु-बांधव तथा सगे सम्बन्धी आदि कोई भी योग नहीं दे सकता।[१] अतः मनुष्य को सांसारिक सुखों का त्याग कर ज्ञानार्जन करना चाहिए और संयतचित्त होकर तप करना चाहिए।[२] नायाधम्म कहा में संसार त्याग के दिन मनुष्य का निष्क्रमण संस्कार मनाये जाने का उल्लेख है। यहाँ राजा मेघकुमार के निष्क्रमण संस्कार के वर्णन में बताया गया है कि सर्व प्रथम राजा के लिए बाजार से रयोहरण और पडिग्गह (भिक्षा पात्र) खरीदे गये जो भिक्षु के लिए आवश्यक थे। तत्पश्चात् नापित आता है जो राजा के बाल काटता है। बाल काटने के बाद स्नान करके गोसीस एवं वस्त्राभरणों से अलंकृत किया गया और फिर अपनी दोनों माताओं के साथ पालकी में बैठ कर तथा अपने हाथों में रयोहरण और पडिग्गह ग्रहण कर वह गुणसिलय उपासनालय में जाता है जहाँ महावीर स्वामी उसे अपने अनुयायी के रूप में दीक्षित किये और धर्म के विधि निषेधों की शिक्षा दिये।[३] समराइच्च कहा में उल्लिखित प्रव्रज्या को ही यहाँ निष्क्रमण नाम दिया गया है।

प्रव्रज्या-विधि

समराइच्च कहा के तृतीय भव में प्रव्रज्या ग्रहण करने के विधानों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। गुरु (आचार्य) द्वारा सर्व प्रथम साधु का चिह्न रजोहरण दिया जाता था। पुनः मुण्डित कर कायोत्सर्ग को नमस्कार मंत्र द्वारा पूर्ण किया जाता था। तत्पश्चात् गुरु द्वारा दिया गया सामयिक मंत्र भक्ति के साथ ग्रहण किया जाता था। फिर गुरु द्वारा शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा प्राप्त कर लोग आचार्य तथा अन्य साधुओं की वन्दना करते थे। पुनः वे आचार्य "**मोक्ष प्रकपण करनेवाले आगमों का परिगामी बनो**" ऐसा कहकर शिष्य के मगल की कामना करते थे। इतना करने के पश्चात् गुरुजनों की वन्दना और तत्पश्चात् आचार्यके चरणों की वन्दना करने का विधान था।[४] इन उपरोक्त विधि-विधान के साथ-साथ कुछ आगमार्थ और आवश्यक सूत्र पढ़ाकर कुछ दिन बीत जानेपर दीक्षा दी जाती थी।[५] प्रव्रज्या ग्रहण करने के पूर्व बाल का मुडन एवं रजोहरण तथा पडिग्गह (भिक्षा-पात्र) ग्रहण करने की बात नायाधम्म कहा में भी कही गयी है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है।

---

१. उत्तराध्ययन १३।२१।

२. वही १४।२८।

३. नायाधम्म कहा १।२४।३४।

४. सम० क० ३, पृ० २२२–२३–२४।

५. वही ३, पृ० २००।

भगवती सूत्र में भी राजकुमार जमाली द्वारा संसार त्याग की इच्छा पर उनके माता-पिता की अनुमति से बालमुण्डित किया गया, स्नानादि कराया गया तथा शुभ सूचक वस्त्रों एवं विभिन्न अलंकरणों से उसे अलंकृत किया गया।[१] तत्पश्चात् अपने महल अर्थात् क्षत्रिय कुण्डग्राम से लेकर चैत्य तक शुभ बेला में बहुत बड़े जुलूस के साथ वह भगवान् महावीर के पास गया और वहाँ उसने अपने सभी आभरण तथा अलंकार आदि उतार दिये। अपने माता-पिता को विदा करने के पश्चात् राजकुमार जमाली पाँच मुट्ठीभर अपने बालों में गुच्छे को लेकर महावीर के पास गये और अपने पाँच सौ अनुयायियों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण किये।[2] इसी प्रकार सिन्धु सौवीर के राजा[3] तथा अन्य गृहस्थ लोग यथा—ऋषभदत्त[४] तथा सुदर्शन[५] आदि के भी प्रव्रज्या ग्रहण करने का उल्लेख है।

श्रावक-श्रावकाचार

जैन परम्परा में व्रतधारी ग्रहस्थ को श्रावक, उपासक अथवा अणुव्रती कहा जाता था। वे श्रद्धा एवं भक्ति के साथ अपने श्रमण गुरुजनों से निर्ग्रन्थ प्रवचन का श्रवण करते थे।[६] अतः उन्हें श्राद्ध या श्रावक कहा जाता था। अर्थात् श्रद्धापूर्वक अपने गुरुजनों अथवा श्रमणों से निर्ग्रन्थ प्रवचन का श्रवण करने के कारण व्रतधारी जैन गृहस्थ को श्राद्ध अथवा श्रावक कहते थे। उन्हें श्रमणोपासक भी कहा गया है, क्योंकि वे श्रमणों की उपासना करते थे। उन्हें अणुव्रती, देश विरत, देश-संयमी, देश-संयति की भी संज्ञा दी गयी है। घर-गृहस्थी का त्याग न कर घर पर ही रहने के कारण उन्हें सागार-आगारी गृहस्थ तथा गृही आदि नामों से भी जाना जाता है। श्रमण-श्रमणी के आचार-अनुष्ठान की ही भाँति श्रावक-श्राविका के आचार अनुष्ठान की भी अनिवार्य अपेक्षा होती है। श्रावक धर्म की भित्ति जितनी सदाचार पर प्रतिष्ठित होती है श्रमण धर्म की नींव उतनी ही अधिक दृढ़ होती है।[७]

श्रावक कुल में उत्पन्न होने से जिनधर्म प्राप्ति में विश्वास किया जाता

१. भगवती सूत्र ९।३३।३८५।
२. वही सूत्र ९।३३।३८५।
३. वही १३।६।४९१।
४. वही ९।१३।३८२।
५. वही ११।११।४३२।
६. सम० क० ३, पृ० २२८; ५, पृ० ४७३।
७. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १, पृ० २३०।

था ।[1] गृहस्थाश्रम में रहते हुए श्रावक के लिए अणु (छोटे) व्रतों के पालन का विधान था ।[2] जैन परम्परा के अनुसार ये अणुव्रत पाँच प्रकार के माने गये हैं, यथा—स्थूल प्राणातिपात विरमण, स्थूल मृषावाद विरमण, स्थूल अदत्ता दान विरमण, स्वदार संतोष तथा इच्छा परिमाण ।[3] श्रावकों के आचार का प्रतिपादन सूत्रकृतांग[4], उपासक दशांग[5] आदि आगम ग्रन्थों में बारह व्रतों के आधार पर किया गया है । इन बारह व्रतों में क्रमशः पाँच अणुव्रत और शेष सात शिक्षा व्रत हैं । तीन गुण व्रतों और चार शिक्षाव्रतों का ही सामूहिक नाम शिक्षा व्रत है ।

उत्तर गुणव्रत

समराइच्च कहा में उल्लिखित है कि श्रावक अतिचारों से दूर रहता हुआ निम्नलिखित उत्तर गुणों को स्वीकार करता है । उर्ध्वादिग्गुणव्रत, अधोदिग्गुण-व्रत, तिर्यक् आदि गुणव्रत, भोगोपभोग परिणाम लक्षण गुणव्रत, उपभोग और परिभोग का कारण स्वर और कर्म का त्याग, बुरे ध्यान से आचरित विरति गुणव्रत, प्रमाद से आचरित विरति गुणव्रत, पापकर्मोपदेश लक्षण विरतिगुणव्रत, अनर्थ दण्ड विरति गुणव्रत, सावद्ययोग का परिवर्जन और निवद्ययोग का प्रति-सेवन रूप सामयिक शिक्षाव्रत और दिक्व्रत से ग्रहण किया हुआ दिशा के परि-णाम का प्रति-दिन प्रमाण करण, देशावकाशिक शिक्षाव्रत, आहार और शरीर के सत्कार से रहित ब्रह्मचर्यव्रत का सेवन, व्यापार रहित पौषध शिक्षाव्रत का सेवन तथा न्यायपूर्वक अर्जित एवं कल्पनीय अन्न-पान आदि द्रव्यों का देश-काल-श्रद्धा-सत्कार से युक्त तथा परमभक्ति से आत्म शुद्धि के लिए साधुओं को दान और अतिथि विभाग शिक्षाव्रत आदि सभी उत्तर गुण के रूप में स्वीकार किये गये हैं ।[6]

---

१. सम० क० ७, १० ६१८ ।

२. वही ३, पृ० २२८; ५, पृ० ४७३, ४८०; ८, पृ० ८१२-१३; ९, पृ० ९५३ ।

३. कैलाशचन्द्र शास्त्री—जैन धर्म, पृ० १८४—१९५; हीरालाल जैन—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० २५५ से २६०; मोहनलाल मेहता—जैनाचार, पृ० ८९—१०४ ।

४. सूत्रकृतांग, श्रुत २, अ० २३, सूक्त ३ (—सीलव्वय गुणविरमण पच्च-क्खाणपोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणो एव चरण विहरइ) ।

५. उपासक दशांग, अध्याय १, सूक्त १२, सूक्त ५८ (—पंचाणुव्वतियं सत्तसिक्खावईयं दुवालसविहं गिहिधम्मं····) ।

६. सम० क० १, पृ० ६२ ।

उपासक दशांग में श्रावकों को पांच अणुव्रत और सात शिक्षा व्रतों का नाम गिनाया गया है।[1] यहाँ तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों को ही सामूहिक रूप से शिक्षाव्रत कहा गया है।

समराइच्च कहा में श्रावकाचार के अन्तर्गत पांच अणुव्रतों के साथ-साथ तीन गुण व्रतों का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[2] इन्हें गुणव्रत इसलिए कहा गया है कि इनसे अणुव्रत रूप मूल गुणों की रक्षा तथा विकास होता है। धार्मिक क्रियाओं में ही दिन व्यतीत करना पोषधोपवास व्रत कहलाता है। इसे गृहस्थ को यथाशक्ति प्रत्येक पक्ष की अष्टमी चतुर्दशी को करना चाहिए जिससे उसे भूख-प्यास आदि पर विजय प्राप्त हो। चौथे अपने गृह पर आये हुए मुनि आदि को दान देना आतिथि संविभाग व्रत है।

श्रावक-अतिचार

समराच्च कहा में गृहस्थ श्रावकों के लिए कुछ अतिचारों को गिनाया गया है जिनका पालन करना उनके लिए आवश्यक माना जाता था। सांसारिक भ्रमण अथवा सांसारिक दुखों के कारणभूत अतिचार इस प्रकार हैं—बन्ध, वध, किसी अंग का काटना, जानवरों पर अधिक बोझ लादना, किसी को भोजन-पानी में बाधा डालना, सभा में किसी की निन्दा करना या किसी की गुप्त बात को प्रकट करना, अपनी पत्नी की बात दूसरों मे कहना, अथवा किसी को झूठा उपदेश देना, जाली लेख लिखना अथवा चोरी से लायी हुई वस्तु खरीदना या चोरों से किसी का धन चुरवा लेना, राज्य के कानूनों को भंग करना, नकली तराजू-बाट रखना, न्यूनाधिक तोलना या इस प्रकार के अन्य व्यवहार, व्यभिचारिणी स्त्री से सम्पर्क स्थापित करना या अविवाहिता स्त्री से संसर्ग करना, काम क्रीड़ा, दूसरे का विवाह करना, काम की तीव्र अभिलाषा, क्षेत्र और वस्तु की सीमा का उल्लंघन, द्विपद या चतुष्पद के प्रमाण का उल्लंघन, मणि आदि के प्रमाणों का उल्लंघन या इस प्रकार के अन्य कार्य एवं पदार्थ जो संसार में भ्रमण के निमित्त हैं।[3]

श्रावक के पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत इन सभी के के पांच-पांच अतिचार हैं।[4]

१. उपासक दशांग अध्याय १, सूक्त १२; सूक्त ५८ (—पंचाणुव्वतियं सत्त-सिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं—)।
२. सम० क० १, पृ० ५७; देखिए—हीरालाल जैन—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० २६१-६२, मोहनलाल मेहता—जैनाचार, पृ० १०४-५।
३. सम० क० १, पृ० ६१-६२।
४. मोहनलाल मेहता—जैन आचार, पृ० ८९ से १२४।

स्थूल अहिंसा अथवा स्थूल प्राणातिपात-विरमण के पाँच मुख्य अतिचार हैं—बंध, वध छविच्छेद (किसी भी प्राणी को अंगोपांग काटना), अतिभार तथा अन्न पान निरोध, स्थूल मृषावाद विरमण के अन्तर्गत—सहसा अभ्याख्यान, रहस्य-अभ्याख्यान, स्वदार अथवा स्वपति-मंत्रभेद; मृषा उपदेश तथा कूट लेख-करण (झूठा लेख तथा लेखा-जोखा लिखना लिखवाना); स्थूल अदत्तादान विरमण के अन्तर्गत स्तेनाहृत (चोरी का माल लेना), तस्कर प्रयोग, राज्यादि विरुद्ध कर्म, कूट तौल-कूट माप तथा तत्प्रतिरूपक व्यवहार (वस्तुओं में मिलावट करना); स्वदार संतोष के अन्तर्गत-इत्वरिक-परिगृहीता-गमन (इत्वर का अर्थ अल्पकाल से लगाया गया है अर्थात् अल्पकाल के लिए स्वीकार की हुई स्त्री के साथ काम भोग का सेवन करना), अपरिगृहीता गमन (अपने लिए अस्वीकृत स्त्री के साथ काम भोग का सेवन), अनंग क्रीड़ा, पर विवाहकरण तथा काम भोग की तीव्राभिलाषा, इच्छा परिमाण के अन्तर्गत—क्षेत्र वस्तु परिमाण अतिक्रमण, हिरण्य-सुवर्ण परिमाण अतिक्रमण, धन-धान्य परिमाण अतिक्रमण, द्विपद-चतुष्पद परिमाण अतिक्रमण तथा कुप्य परिमाण अतिक्रमण आदि अतिचार गिनाए गये हैं। इसी प्रकार गुण व्रतों में दिशा परिमाण के अतिचार—ऊर्ध्व दिशा परिमाण अतिक्रमण, अधोदिशा परिमाण अतिक्रमण, तिर्यग्दिशा परिमाण अतिक्रमण, क्षेत्रवृद्धि, स्मृत्यन्तर्धा (विस्मृति के कारण छूट गया हो अथवा कोई वस्तु प्राप्त हुई हो तो उसका भी परित्याग करना); उपभोग परिभोग परिमाण के अन्तर्गत—सचित्ताहार, सचित्त-प्रतिबद्धाहार, अपक्वाहार, दुष्पक्वाहार तथा तुच्छौषधि भक्षण; अनर्थदण्ड विरमण के अन्तर्गत कन्दर्प (विकार वर्धक वचन बोलना या सुनना), कौत्कुच्य (विकार वर्धक चेष्टा करना या देखना), मौखर्य (असम्बद्ध एवं अनावश्यक वचन बोलना), संयुक्ताधिकरण (जिन उपकरणों के संयोग से हिंसा की संभावना बढ़ जाती है) और उपभोग-परिभोगातिरिक्त (आवश्यकता से अधिक उपभोग एवं परिभोग की सामग्री का संग्रह) आदि अतिचार गिनाये गये हैं। शिक्षाव्रत के अन्तर्गत गिनाये गये अतिचारों में सामयिक शिक्षाव्रत के मनोदुष्प्रणिधान, वाग्दुष्प्रणिधान, कायदुष्प्रणिधान, स्मृत्यकरण, अनवस्थितकरण (समय पूरा हुए बिना ही सामायिक पूरी कर लेना); देशावकाशिक के अन्तर्गत आनयन प्रयोग (मर्यादित क्षेत्र के बाहर की वस्तु लाना या मँगवाना), प्रेषण प्रयोग (मर्यादित क्षेत्र से बाहर वस्तु भेजना तथा ले जाना आदि), शब्दानुपात (किसी को निर्धारित क्षेत्र से बाहर खड़ा देख कर शब्द संकेतों से बुलाने की चेष्टा करना), रूपानुपात (सीमित क्षेत्र के बाहर के लोगों का हाथ, मुँह, सिर आदि का संकेत देकर बुलाना) और पुद्गल प्रक्षेप (मर्यादित क्षेत्र से बाहर के व्यक्ति को अपना अभिप्राय बताने के

लिए कागज, कंकण आदि फेंक कर जताना); पौषधोपवास के अन्तर्गत अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित शय्यासंस्तारक (मकान और बिछौना का निरीक्षण ठीक ढंग से न करना), अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्यासंस्तारक (बिना झाड़े-पोंछे बिस्तर आदि काम में लाना), अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित उच्चारप्रस्रवण भूमि (मल-मूत्र की भूमि का बिना देखे उपयोग करना) और पौषधोपवास-सम्यगनुपालनता (आत्मपोषक तत्त्वों का भलीभाँति सेवन न करना); अतिथिसंविभाग के अन्तर्गत सचित्तनिक्षेप (कपटपूर्वक साधु को देने योग्य आहार आदि को सचेतन वनस्पति आदि पर रखना), सचित्तपिधान (आहार आदि को सचित्त वस्तु से ढँकना), कालातिक्रम, परव्यपदेश (न देने की भावना से अपनी वस्तु को पराई कहना अथवा पराई वस्तु देकर अपनी बचा लेना आदि) और मात्सर्य (श्रद्धापूर्वक दान न देते हुए दूसरे के दान गुण की ईर्ष्या से दान देना) आदि अतिचार गिनाये गये हैं जिसका पालन करना श्रावकों के लिए अति आवश्यक बताया गया है।

ऊपर समराइच्च कहा में उल्लिखित अतिचारों को जैनाचार के अनुसार पाँचों अणुव्रतों के अन्तर्गत ही रखा जा सकता है। बन्ध, वध, किसी अंग का काटना, जानवरों पर अधिक बोझ लादना तथा किसी को भोजन पानी में बाधा पहुँचाना आदि अतिचार स्थूल अहिंसा अथवा स्थूल प्राणातिपात विरमण के अन्तर्गत गिनाए गए हैं। इसी प्रकार सभा में किसी की निन्दा करना, किसी की गुप्त बात को प्रकट करना, अपनी पत्नी की बात दूसरों से कहना, किसी को झूठा उपदेश देना तथा जाली लेख लिखना आदि स्थूलमृषावाद के अन्तर्गत चोरी से लाई हुई वस्तु को खरीदना, चोरों से किसी का धन चुरवा लेना, राज्य के कानून को भंग करना, नकली तराजू-बाट रखना, न्यूनाधिक तौलना या इस प्रकार के अन्य व्यवहार को स्थूल अदत्तादान विरमण के अन्तर्गत, व्यभिचारिणी स्त्री के साथ सम्पर्क स्थापित करना, अविवाहिता स्त्री से संसर्ग करना, काम क्रीडा, दूसरे का विवाह करना तथा काम की तीव्र अभिलाषा आदि स्वदार संतोष के अन्तर्गत, क्षेत्र और वस्तु की सीमा का उल्लंघन, द्विपद या चतुष्पद के प्रमाण का उल्लंघन और मणि आदि के प्रमाणों का उल्लंघन आदि अतिचार इच्छा परिमाणव्रत के अन्तर्गत गिनाए गये हैं। यहाँ समराइच्च कहा में केवल पाँचों अणुव्रतों के ही अतिचारों को गिनाया गया है जब कि जैनाचार में पाँचों अणुव्रतों के साथ-साथ तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत के भी पाँच-पाँच अतिचारों की व्याख्या दी गयी है।

श्रमणत्व-आचरण

प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् श्रमणचर्या के लिए कुछ नियम-संयम तथा

व्रत आदि आचरणों का पालन करना पड़ता था। समराइच्च कहा में श्रमणों के आचरण सम्बन्धी कुछ नियमों का उल्लेख है। ये आचरित नियम हैं—शत्रु-मित्र को समानभाव से देखना, प्रमाद से झूठा भाषण न देना, अदत्त वर्जना, मन-वचन और शरीर से ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना, वस्त्र-पात्र आदि से प्रेम न रखना, रात्रि में भोजन न करना, विशुद्ध पिण्ड ग्रहण, संयोजन आदि पंच दोष रहित मित काल भोजन ग्रहण, पंच समित्व, त्रिगुप्तता, ईर्ष्या समित्यादि भावना, अनशन, प्रायश्चित, विनय आदि से बाह्य तथा आभ्यंतर तपविधान, मासादिक अनेक प्रतिमा, विचित्र द्रव्य आदि का ग्रहण, स्नान न करना, भूमि शयन, केश लोंच, निष्प्रति-कर्म शरीरता, सर्वदागुरु निर्देश पालन, भूख-प्यास आदि की सहनशक्ति, दिव्यादि उत्सर्ग विजय, लब्ध-अलब्ध वृत्तिता आदि।[1] अतः मन, वचन और शरीर से अहिंसा तथा मन-वचन और शरीर से ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए ध्यान एवं अध्ययन में रत रहने का विधान था।[2]

श्रमणों के योग्य व्रतों की साधना कर्मों के क्षय रूप निर्जरा कराने वाली है। तप साधना ही निर्जरा के लिए विशेषरूप से उपयोगी मानी गयी है, जिनके मुख्यतया दो भेद माने गये हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। अनशन, अव-मौदर्य, वृत्ति परिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शय्यासन एवं कायक्लेश ये छः प्रकार के बाह्य तप हैं। आभ्यंतर तप भी छः प्रकार के बताये गये हैं—प्राय-श्चित, विनय, वैयावृत्त, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान।[3]

समराइच्च कहा की भाँति भगवती सूत्र में भी श्रमणों के लिए दो प्रकार के तप-बाह्य और आभ्यन्तर गिनाये गये हैं।[4] बाह्य तप के अन्तर्गत अनसन, अधमोदरिका (अवमोदर्य), भिक्षाचर्या, रसत्याग (दूध, घी आदि का त्याग) कायक्लेश, प्रतिसंलीनता ये छः प्रकार के तप गिनाये गये हैं तथा आभ्यन्तर तप के अन्तर्गत प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्त, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग आदि नाम गिनाये गये हैं।

अतः स्पष्ट होता है कि श्रावकों के आचरण से भिन्न श्रमणों के लिए विहित तपश्चर्या के अन्तर्गत बाह्य और आभ्यन्तर ये दो प्रकार के तप माने गये हैं जिनके भेद-प्रभेदों से बारह प्रकार के तप कहे गये हैं। इन दो प्रकार के तपों के अलावा दशवैकालिक सूत्र में श्रमणों के लिए हिंसा, असत्य भाषण, चोर-

१. सम० क० १, पृ० ६६-६७; ३, पृ० १९७-९८; ६, पृ० ५८५-८६।
२. सम० क० २, पृ० १४०-४१; ४, पृ० २८८; ८, पृ० ७८०-७९०।
३. हीरालाल जैन—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० २७१
४. भगवती सूत्र २५।७।८०२ ;

कर्म, संयोग, सम्पत्ति, रात्रिभोजन; क्षितिशरीरी-जीवोत्पीडन, वानस्पतिक जीवो-त्पीडन, जंगमजीवोत्पीडन, वर्जितवस्तु, गृहस्थ के पात्रों में भक्षण, पर्यंक प्रयोग, स्नान और अलंकार आदि वर्जित बताये गये हैं।[१] इसी प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र में भी उल्लास निषेध, संयम, परनिन्दा निषेध, अनुशासन शीलता, लोभ निषेध तथा सत्यभाषण आदि नियमों का उल्लेख है।[२] ये सभी आचरण सम्बन्धी नियम शुद्ध ज्ञान तथा मोक्ष प्राप्ति में सहायक माने जाते थे जो साधारण व्यक्तियों के अभ्यास से परे की बात समझी जाती थी।

श्रमणत्व-आचरण प्रभाव

समराइच्च कहा के अनुसार विभक्त ज्ञान युक्त श्रमण मणि-मुक्ता-कंचन आदि को तृण के समान मानते थे।[3] धर्माचरण का पालन करते हुए श्रमणत्व से ही अजरता और अमरता की प्राप्ति में विश्वास किया जाता था।[४] तप-संयम[५] आदि का पालन करते हुए ममता आदि दुख मूल का नाश, सभी जीवों में मैत्री भाव, पूर्व-दुष्कृत के प्रति शुद्ध भाव से जुगुप्सा, ज्ञान, दर्शन चरित्र आदि का पालन तथा प्रमाद-वर्जना का आचरण करते हुए ही परमपद (मोक्ष सुख) की प्राप्ति संभव मानी जाती थी।[६] एकान्त स्थान में स्वाध्याय, योग, तप, संयम आदि के द्वारा सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति ही श्रमणत्व का सार माना जाता था।[७] चित्त की एकाग्रता तथा योग और संयम में कायोत्सर्ग भी कर डालते थे।[८] अतः कभी-कभी ध्यान योग के समय ईर्ष्यालु अथवा दुष्टों द्वारा श्रमणों को जिंदा जला कर मार डालने का भी संकेत मिलता है किन्तु मर कर भी वे अपना ध्यान नहीं तोड़ते थे।[९] इस प्रकार स्वाध्याय ध्यान, योग में रत श्रमण क्षमा शील भी होते थे।[10] अतः शुद्धाचरण के परिणाम स्वरूप ही नागरिकों द्वारा

१. दशवैकालिक सूत्र ६।८।
२. उत्तराध्ययन सूत्र ११।५।
३. सम० क० ५, पृ० ४११; ७, पृ० ६२६।
४. वही ७, पृ० ६७५।
५. वही ६, पृ० ५७०; ९, पृ० ९३७।
६. वही ५, पृ० ४९७; ६, पृ० ५९८; ७, पृ० ७२१।
७. वही ६, पृ० ५७२, ५७७, ५७९।
८. वही ४, पृ० ३५५-५६।
९. सम० क० ४, पृ० ३५४-५५-५६।
१०. वही ४, पृ० ३३०-३१।

श्रमणों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था।[1] उन्हें कष्ट पहुँचाने वालों को समाज में घृणा की दृष्टि से देखा जाता था तथा उन्हें अपने दुष्कृत्यों के लिए श्रमणों से क्षमा याचना करनी पड़ती थी।[2]

नायाधम्म कहा में श्रमणों का जीवन तलवार की धार के समान कठिन बताया गया है।[3] बृहत्कल्पभाष्य से पता चलता है कि श्रमण व्रत भंग करने की अपेक्षा अग्नि में प्रवेश करना अधिक उपयुक्त समझते थे।[4] अतः स्पष्ट होता है कि हरिभद्र के काल में भी सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र का पालन करते हुए श्रमण लोग समाज के शुभचिन्तक समझे जाते थे तथा वे समाज के अन्य लोगों को उपदेश, प्रवचन, प्रव्रज्या आदि के द्वारा शुभ कर्म में लगाने का प्रयास करते थे। इन्हीं सात्विक कारणों से उन्हें समाज में आदर की दृष्टि से देखा जाता था।

श्रमण-विहार

समराइच्च कहा के अनुसार सकल जनोपकारी श्रमण, विकार रहित, सकल संगत्यागी, ध्यान-योग तथा तप में लीन तथा नियम एवं संयम से विहार भी करते थे।[5] श्रमणाचार के अन्तर्गत विहार का अत्यधिक महत्त्व समझा जाता था। विहार शब्द का तात्पर्य विहरन अर्थात् भ्रमण से लगाया जाता था। अतः श्रमण तथा श्रमणाचार्य सभी को धर्म प्रचार कर लोगों के दुख को दूर करने वाले जैनाचार से अवगत कराना था। श्रमणचार के अन्तर्गत ग्राम में एक रात्रि और नगर में पाँच रात्रि अकेले ही विहार करने का विधान था।[6] इस प्रकार की विधि से शिक्षा-दीक्षा द्वारा विहार करते हुए वर्षावास एक ही स्थान पर करते थे।[7] वर्षा ऋतु आ जाने पर अनेक जीव जन्तुओं की उत्पत्ति होती है। अतः उस समय विहार करने से अनेक हिंसादि दोषों का भागी बनना पड़ता था जिसके कारण एक ही स्थान पर वर्षावास का विधान था। उपधान श्रुत में बताया गया है कि महावीर प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् विहार (पदयात्रा)

---

१. सम० क० ३, पृ० २२७।
२. वही ६, पृ० ५७०-७१-७२।
३. नायाधम्म कहा—१।२८।
४. बृहत्कल्पभाष्य—५।४९४९।
५. सम० क० १, पृ० ४३; ६, पृ० ५७०; ७, पृ० ६२३; ८, पृ० ८४६, ८४८, ८५०, ८५७; ९, पृ० ९५९।
६. वही ४, पृ० ३५३; ७, पृ० ७२७।
७. वही १, पृ० ४८-४९।

के लिए तुरंत चल पड़े।[1] निर्ग्रंथ श्रमण वर्षा ऋतु में एक स्थान पर रहते थे तथा शेष ऋतुओं में पदयात्रा करते हुए स्थान-स्थान पर घूमते रहते थे।[2]

दश प्रकार की शुद्धियों से युक्त मुनि को मोक्षानुगामी बताया गया है; उन दस प्रकार की शुद्धियों में विहारशुद्धि भी एक है।[3] आचारांगसूत्र में विहार करने के संदर्भ में बताया गया है कि भिक्षु या भिक्षुणी को जब मालूम हो जाय कि वर्षा ऋतु का आगमन हो गया है एवं वर्षा के कारण विविध प्रकार के जीवों की सृष्टि हो चुकी है तथा मार्गों में अंकुर आदि के कारण गमनागमन दुष्कर हो गया है, तब वह किसी निर्दोष स्थान पर वर्षावास अर्थात् चातुर्मास करके रुक जाय लेकिन जहाँ स्वाध्याय आदि की अनुकूलता न हो वहाँ न रहे।[4] समराइच्च कहा के उल्लेख से पता चलता है कि भिक्षा आदि के लिए गुरु की आज्ञा लेनी पड़ती थी।[5] श्रमणाचार्य भी शिष्यों के साथ मासकल्प विहार करते तथा चैत्यों में विश्राम करते थे।[6] मासकल्प विहार के पश्चात् वे अन्यत्र प्रस्थान करते थे।[7]

श्रमण-भोजन-वस्त्र

श्रमणाचार के अन्तर्गत भिक्षा वृत्ति से दिन में एक बार ही भोजन करने का विधान था।[8] गोचरी के लिए प्रस्थान करने के पूर्व श्रमणों को आचार्य की आज्ञा लेनी पड़ती थी।[9] कभी-कभी तो उन्हें बिना भिक्षा प्राप्त किये ही वापस लौट आना पड़ता था।[10] अधिकतर लोग श्रद्धा और भक्ति से श्रमणों को भिक्षा प्रदान करते थे।[11] अतः भिक्षा मांग कर वे (श्रमण) यथा विधि नियमित एवं संयमित भोजन करते थे।

---

१. उपधान श्रुत, १, १।
२. मोहनलाल मेहता—जैनाचार, पृ० १७६।
३. वही, पृ० ७२।
४. आचारांग सूत्र २, १, ३।
५. सम० क० ६, पृ० ५७१।
६. वही २, पृ० १२०; ३, पृ० १८१; ५, पृ० ४८८, ९, पृ० ९३८।
७. वही ३, पृ० २२४।
८. वही ३, पृ० २२८; ७, पृ० ६७५।
९. वही ४, पृ० ३४०, ३५३; ७, पृ० ६२४।
१०. वही ४, पृ० ३५९।
११. वही ८. पृ० ८०७।

श्रमणों को सांसारिक वस्तुओं के प्रति मोह से वर्जित किया गया था। कहीं कहीं रत्न रूपी गुणों से युक्त श्वेत वस्त्रधारी श्रमणों का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[1] आचारांग में बताया गया है कि निर्ग्रंथ निर्ग्रंथियों को अलाबु, काष्ठ व मिट्टी के पात्र रखना अकल्प्य है; उन्हें बहुमूल्य वस्त्र की तरह बहुमूल्य पात्र भी न रखने का विधान था।[2] आवश्यक सूत्र में मुनि के ग्रहण करने योग्य चौदह प्रकार के पदार्थों का उल्लेख है, यथा—(१) अशन, (२) पान, (३) खादिम (४) स्वादिम (५) वस्त्र (६) पात्र (७) कम्बल (८) पाद-पोंछन (९) पीठ (१०) फलक (११) शय्या, (१२) संस्तारक (१३) औषधि और (१४) भोजन।[3] यहाँ समराइच्च कहा में श्वेताम्बर श्रमण सम्प्रदाय का स्पष्ट वर्णन मिलता है, जिनको श्वेत वस्त्रधारी बताया गया है। साथ-साथ आचारांग तथा आवश्यक सूत्र के उल्लेखों से भी स्पष्ट होता है कि श्रमण अपने पास वस्त्र, भिक्षापात्र, कम्बल, पाद पोंछन आदि लिए रहते थे तथा गोचरी (भिक्षा मांग कर) द्वारा अपनी जीविका चलाते थे।

श्रमणाचार्य

जैन श्रमणों के गुरु व आचार्य को श्रमणाचार्य कहा जाता था। गुरुत्व अर्थात् श्रेष्ठ ज्ञान युक्त श्रमण को आचार्य के योग्य समझा जाता था। वे तप, ज्ञान, योग, संयम से युक्त भूत, भविष्य, वर्तमान के अवधि ज्ञाता होते थे तथा शिष्यों से घिरे रहते थे।[4] वे परलोक ज्ञान से युक्त[5] तथा अनेक ज्ञान पिपासु श्रमणों से घिरे हुए क्षमा-मार्दव-आर्जव मुक्ति-तप-संयम, सत्य, शौच तथा ब्रह्मचर्यादि[6] गुणों के अनुगामी होते थे।

समराइच्च कहा में श्रमणाचार्य के लिए एक प्रकार के संयम में रत, दो प्रकार के असत् ध्यान से रहित, त्रिदण्डरहित, क्रोध-मान-माया और लोभ का मर्दन, पंचेन्द्रियों का निग्रह, छः जीव निकायों पर दया करना, सात प्रकार के भय से मुक्त, आठ प्रकार के मद स्थान से रहित, नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य से गुप्त, दस प्रकार के धर्मों में स्थिर चित्त, एक दशांग का ज्ञान तथा बारह प्रकार के

१. सम० क० ३, पृ० १७०; ७, पृ० ६०९।
२. आचारांग २, १६।
३. मोहनलाल मेहता—जैनाचार, पृ० १६५ में उद्धृत।
४. सम० क० १, पृ० १०३; ५, पृ० ३६-६६५; ६, पृ० ५६६; ८, पृ० ७७८।
५. वही १, पृ० ५०-५१।
६. वही २, पृ० १०१; ७, पृ० ७०९-१०।

तपाचरणों का पालन करना आवश्यक बताया गया है।[1] व्यवहार सूत्र में बताया गया है कि जो कम से कम पाँच वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला है, श्रमणाचार में कुशल है, प्रवचन में प्रवीण है, यावत दशाश्रुत स्कन्ध, कल्प अर्थात् बृहत्कल्प एवं व्यवहार सूत्रों का ज्ञाता है, उसे आचार्य अथवा उपाध्याय के पद पर प्रतिष्ठित करना कल्प्य है।[2] आठ वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला श्रमण यदि आचार कुशल, प्रवचन प्रवीण एवं असंक्लिष्टमना है तथा कम से कम स्थानांग व समवायांग सूत्रों का ज्ञाता है उसे आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, गणी, गणावच्छेदक आदि की पद्वी प्रदान की जा सकती है।[3] अतः स्पष्ट होता है कि समराइच्च कहा में उल्लिखित आचार्य श्रमण संघ में अपने आचरण प्रभाव के कारण सबसे श्रेष्ठ समझे जाते थे। उन्हें उपाध्याय, स्थविर, गणी, गणावच्छेदक आदि पद्वियों से सम्बोधित किया जाता था। ये अन्य श्रमणों के गुरु होते थे और इनकी आज्ञा का पालना करना आवश्यक समझा जाता था।

आचार्य लोग मानवकल्याण के लिए अपने धर्म की शिक्षा-दीक्षा देते हुए शिष्य मंडली के साथ मास कल्प विहार[4] करते तथा चैत्यों में आराम करते थे। सर्वसाधारण से लेकर राजा-महाराजाओं तक के लोग उनका भव्य स्वागत करते थे।[5]

गणधर

श्रमण परम्परा में अनेक गच्छों के समूह को, कुल, अनेक कुलों के समूह को गण तथा अनेक गणों के समुदाय को संघ कहा गया है।[6] गच्छ के विभिन्न वर्गों के साधु-साध्वियों को गच्छाचार्य, कुल के नायक को कुलाचार्य तथा गणों के नायक को गणाचार्य अथवा गणधर कहा जाता था। इसी प्रकार अनेक गणों के समुदाय को संघ कहा जाता था जिसका अध्यक्ष संघनायक, संघाचार्य अथवा प्रधानाचार्य कहा जाता था। गणधर का मुख्य कार्य अपने गण को सूत्रार्थ देना अर्थात् शास्त्र पढ़ाना तथा भ्रमण करते हुए चातुर्मास युक्त साधुओं के साथ धर्मोपदेश देना था।[7]

---

१. सम० क० ३, पृ० १६६-६७।
२. वही, पृ० २०१ में उद्धृत।
३. मोहनलाल मेहता—जैनाचार पृ० २०१।
४. सम० क० २, पृ० १२०; ३, पृ० १८१; ५, पृ० ४८१, ४८८।
५. वही, ३, पृ० १६६-६७; ८, पृ० ७८८-८९; ९, पृ० ९३८।
६. मोहनलाल मेहता—जैनाचार, पृ० २०१।
७. सम० क० २, पृ० ११८; ७, पृ० ७१९-२०, ७२६।

गण में सम्मिलित होने के लिए साधु की अटूट-श्रद्धा, विश्वास, मेधा, नम्रता, अपरिग्रह एवं बहुश्रुत होना आवश्यक था।[१] पुनः कोई साधु छः मास के भीतर अपने गण को बदल भी नहीं सकता।[२] अगर कोई गण छोड़ना भी चाहता था तो उसे आचार्य से आज्ञा लेनी पड़ती थी और गण त्याग की आज्ञा तभी मिल सकती थी जबकि वह साधु उच्चतर ज्ञान, एक विहार प्रतिमा आदि के लिए प्रत्याशी हो।[३] यह गण संघ के प्रति उत्तरदायी था और सम्पूर्ण संघ अर्थात् निर्ग्रंथ निर्ग्रंथी आदि का उत्तरदायित्व संघाचार्य के ऊपर निर्भर रहता था।

श्राविका

समराइच्च कहा के विवरणों से पता चलता है कि हरिभद्र के काल में जैन धर्मावलम्बियों में पुरुषों की भाँति स्त्रियों की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी। श्रावकों की भाँति स्त्रियों में भी श्राविका या श्रमणोपासिका (साध्वी), अणुव्रताचरण का पालन करती हुई श्रमणियों की उपासना व वन्दना करती थी।[४] ये श्राविकायें गृहस्थाश्रम में रह कर श्रावकों का सा आचरण करती थीं।[५]

श्रमणी

जैन परंपरा में जहाँ श्राविकाएँ श्रावकों का सा आचरण करती थीं, वहीं श्रमणी भी श्रमणों का सा आचरण करती थी। समराइच्च कहा से पता चलता है कि नारी वर्ग भी माता-पिता अथवा पति की आज्ञा लेकर जैन धर्माचरण के लिए प्रव्रज्या ग्रहण करती थी।[६] एक विद्याधर श्रमणी ने अनेक साध्वी स्त्रियों तथा पुरुषों को दीक्षित किया था।[७] गणिनी द्वारा भी धर्म कथा का श्रवण कर नारी वर्ग श्रमणाचार का पालन करने के लिए प्रव्रजित होता था।[८] श्रमणियों के लिए भी वही तप-संयम-व्रत आदि आचार बताए गये हैं जो श्रमणों के लिए थे। श्रमणों की भाँति श्रमणियाँ भी विहार तथा गोचरी करती थीं।[९]

---

१. स्थानांग पृ० ३५२।
२. समवायांग पृ० ३९-४०।
३. स्थानांग टीका—पृ० ३८१।
४. सम० क० ७, पृ० ६०९।
५. मोहनलाल मेहता—जैनाचार, श्रावकाचार में श्राविका।
६. सम० क० ४, पृ० ३४६-४७।
७. वही २, पृ० १५५-५६।
८ वही ८, पृ० ८३७-३८-३९।
९. वही ८, पृ० ८०९।

गणिनी

श्रेष्ठ श्रमणियों को गणिनी कहा जाता था तथा उनसे धर्मकथा का श्रवण कर पुरुष एवं स्त्री वर्ग के लोग शिक्षित एवं प्रव्रजित होते थे।[1] 'धर्म से ही शाश्वत शिव सौख्य की प्राप्ति संभव है' इस प्रकार की धर्म कथा सुना कर लोगों को जैन धर्माचरण के लिए प्रोत्साहित करती थी।[2] तत्कालीन जन समूह भी गणिनी को सम्मान एवं वन्दना द्वारा नमस्कार पूर्वक अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत को ग्रहण कर श्रमणत्व का आचरण करता था।[3] गणधर की ही भाँति साध्वी श्रमणियों के गणों की नायिका को ही गणिनी कहा जाता था। पूरे श्रमण संघ में जो स्थान आचार्य का होता था वही स्थान निर्ग्रंथ संघ में प्रवर्तिनी का होता था। उसकी योग्यता भी आचार्य के बराबर थी अर्थात् आठ वर्ष की दीक्षा पर्यायवाली साध्वी आचार कुशल, प्रवचन प्रवीण तथा असंक्लिष्ट चित्त-वाली एवं स्थानांग, समवायांग की ज्ञाता होने पर प्रवर्तिनी के पद पर प्रतिष्ठित की जा सकती थी।[4] यहाँ प्रवर्तिनी के सभी प्रकार के गुण-समराइच्च कहा में उल्लिखित गणिनी से मिलते जुलते दिखाई देते हैं। जैन ग्रंथों में प्रधान-साध्वी के लिए गणिनी शब्द का भी प्रयोग हुआ है।[5]

तीर्थंकर-धर्म चक्रवर्ती

हरिभद्र के अनुसार त्रिदशनाथ भगवान धर्मवरचक्रवर्ती भारत वर्ष में प्रथम धर्मचक्रवर्ती माने जाते हैं।[6] उनसे पहले यहाँ धर्म नाम की कोई वस्तु न थी। अतः प्रथम धर्मचक्रवर्ती आदि तीर्थंकर अर्थात जगत गुरु त्रैलोक्य बन्धु ने ही विवाहादि क्रिया, दान-शील-तप भावना आदि विविध धर्म का प्रवर्तन किया तथा जिन्हें विविध कलाकार-शिल्पियों तथा सुरासुर का सम्मान प्राप्त है।[7] भगवान तीर्थंकर ही भारत में प्रथम धर्म संस्थापक माने जाते थे। परिणामतः त्रिभुवन नाथ गुरु को मान्यता प्रदान कर भगवान जिन देव, भवनवासी देव,

१. सम० क० ७, पृ० ६१३, ६३०, ७१२; ८, पृ० ८०७, ८४०-४१।
२. वही ८, पृ० ८०९-१०, ८१३, ८१५-१६-१७-१८-१९।
३. वही ८, ८३७-३८-३९।
४. मोहनलाल मेहता—जैनाचार, पृ० २०७।
५. वही पृ० २०७।
६. सम० क० ९, पृ० ९३९-४०।
७. वही ९, पृ० ९४३, ९४९, ९५०।

व्यंतर सुर, तप-संयम युक्त गणधर एवं साधु गणों द्वारा पूजे जाते थे।[१] तीर्थंकर भाषित धर्म को ही शिव सौख्य जनक माना जाता था।[२] पहाड़पुर अभिलेख (गुप्त संवत् १५९) में जैन विहार में तीर्थंकर की पूजा निमित्त भूमि दान का विवरण है जिसकी आय गंध, धूप, दीप, नैवेद्य आदि के लिए व्यय की जाती थी।[3] चाहमान अभिलेख में भी तीर्थंकर शांतिनाथ की पूजा के निमित्त आठ द्रम (सिक्के) के दान का वर्णन है।[४]

'मोक्ष'

कर्म राशि के क्षय तथा शुभ परिणाम की वृद्धि से ही केवल ज्ञान और तत्पश्चात् जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि से रहित हुआ जीव मोक्ष पद का अनुगामी माना जाता था।[५] इसी प्रकार समराइच्च कहा में अन्य स्थानों पर मोक्ष के विवेचन में बताया गया है कि निर्वाण प्राप्ति से जीव जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, भूख, प्यास, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा अन्य उपद्रवों से रहित सर्वज्ञ, सर्वदर्शी एवं निरुपम सुख सम्पन्न होकर मोक्ष पद प्राप्त करता है।[६] तत्त्वार्थ सूत्र में मोक्ष के पूर्व केवल ज्ञान के प्रकट होने के लिए मोहनीय कर्म क्षय तथा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय कर्म का क्षय होना आवश्यक बताया गया है।[७] इसी ग्रंथ में आगे बताया गया है कि बन्ध हेतु के अभाव से और निर्जरा से कर्मों का अत्यधिक क्षय होता है और सम्पूर्ण कर्मों के क्षय को ही मोक्ष कहा गया है।[८]

भगवती सूत्र में उल्लिखित है कि सम्यक् दृष्टि, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र[९] से ही भाव व्युत्सर्ग (विचारों का त्याग) तथा द्रव्यव्युत्सर्ग[१०] (सांसारिक पदार्थों का त्याग) द्वारा आत्मा पूर्णता को प्राप्त होता है। एक अन्य स्थान पर आया है कि जब आत्मा के सभी कर्मांश समाप्त हो जाते हैं तो वह कर्मों से

१. सम० क० ६, पृ० ५७६; ८, पृ० ७८४, ७८६, ७८८-८९; ९, पृ० ९२७।
२. वही ७, पृ० ६२९; ८, पृ० ८१०।
३. वासुदेव उपाध्याय—प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृ० १०३।
४. वही, पृ० १०३।
५. सम० क० १, पृ० ४९-५०; ७, पृ० ७२०, ७२३; ८, पृ० ८५५।
६. वही २, पृ० १५८; ८, पृ० ७८०; ९, पृ० ८७१, ९१७।
७. तत्त्वार्थ सूत्र १०।१—मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शन वरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।
८. वही १०।२-३—'बन्ध हेत्व भाव निर्जराभ्याम्। कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः।
९. भगवती सूत्र—८।१०।३५५।
१०. वही २५।७।८०२।

छुटकारा पाकर ऊपर मोक्ष पद का अनुगामी होता है।[1] सर्वदर्शन संग्रह में आस्रव (आत्मा में कर्मों का प्रवेश) को संसार भ्रमण का कारण तथा संवर (आत्मा में कर्मों के प्रवेश का क्षय) को मोक्ष का कारण बताया गया है।[2]

अतः जैन विचार धारा के अनुसार जब समुचित साधना से सम्पूर्ण कर्म समाप्त हो जाते हैं और जीव सर्वज्ञता की स्थिति में पहुँच जाता है तब वह मुक्त हो जाता है और मृत्यु के पश्चात् लोकाकाश में पहुँच कर सदा के लिए शान्ति और आनंद की अवस्था में स्थित हो जाता है;[3] अर्थात् जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि से मुक्त हो जाता है। इन उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि तप, संयम, नियम, व्रत आदि के द्वारा ही भवोपग्राही कर्मों का नाश करके केवल ज्ञान की प्राप्ति और केवल ज्ञान से ही इस भौतिक देह पंजर का त्याग करके परमपद (मोक्ष) को प्राप्त करना ही जैन धर्म का चरम लक्ष्य माना गया है।

वैदिक धर्म

समराइच्च कहा में जैन धर्म का विस्तृत वर्णन किया गया है फिर भी कथा प्रसंग में यत्र-तत्र वैदिक धर्म का भी उल्लेख है। उस काल में वैदिक तापस अधिकतर आश्रम बना कर जंगलों में रहते थे।[4] समराइच्च कहा में कुछ तपस्वी-जनों का संकेत विन्ध्यारण्यवासी के रूप में मिलता है जो गिरि कन्दराओं में तपस्या करते तथा कन्दमूल आदि खाकर अपनी जीविका चलाते थे।[5] मुनि-सेवित धर्म को परलोक का बन्धु माना जाता था।[6] परिणामतः तपोवन का सेवन करने वाले तपस्वी आदर की दृष्टि से देखे जाते थे।[7] एकान्त स्थान में रहकर यज्ञ, हवन, एवं व्रत आदि के द्वारा तप का आचरण करने के कारण ही इन्हें तपोवनवासी कहा गया है।[8] सर्वप्रथम वैदिक कालीन ऋषियों के लिए

१. भगवतीसूत्र ७।१।२२५।
२. सर्वदर्शन संग्रह पृ० ३९—'आस्रवो भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्ष कारणम्।
३. यम० हिरियन्ना—भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० १७४।
४. सम० क० ५, पृ० ४१५, ४१८, ४२२।
५. वही २, पृ० ७९९, ८००।
६. वही १, पृ० ११।
७. वही १, पृ० ३८; २, पृ० ८४; ५, ३९२; ७, पृ० ६६४।
८. वही १, पृ० १२, १४, १६, १७, २३, २४, ४०; ५, पृ० ४२३, ४२४, ४४७; ७, पृ० ६६२, ६६३, ६६४, ६६६।

ऋग्वेद में वैखानस शब्द का प्रयोग हुआ है।[१] तैत्तिरीय आरण्यक में वैखानस शब्द का संबंध प्रजापति के नखों से लगाया गया है।[२] मनुस्मृति में वानप्रस्थ[३] तथा परिव्राजक[४] का उल्लेख है तथा दोनों के लिए समान नियम व्यवस्थित किये गये हैं। वानप्रस्थ ही बाद में चल कर संन्यासी हो जाता है तथा दोनों को ब्रह्मचर्य, इंद्रिय निग्रह, भोजन नियम आदि का पालन करना पड़ता था तथा ब्रह्मज्ञान के लिए यत्न करना पड़ता था।[५] वानप्रस्थी अपनी स्त्री को भी साथ में रख सकता था, किन्तु संन्यासी के लिए ऐसा संभव नहीं था। रतिलाल मेहता के अनुसार बौद्ध धर्म के उत्थान के पूर्व ही ब्राह्मण धर्म के अंतर्गत श्रमण और तापस इन दोनों का उल्लेख प्राप्त होता है।[६] इस धर्म के अन्तर्गत तपस्वी लोग जंगलों में रहकर तपस्या करते तथा यज्ञ, हवन आदि का विधान करते थे।[७] धर्मसूत्रों में भी समराइच्च कहा की भाँति चीर-अजिनधारी, ग्राम से बाहर रहने वाले, मूल फल आदि खाने वाले और अग्नि में हवन करने वाले वानप्रस्थी का उल्लेख है।[८] आपस्तम्ब धर्मसूत्र में वानप्रस्थी के लिए मूल, फल, पर्ण और तृण से आरम्भ कर अप, वायु और आकाश के सहारे जीवित रहने का अभ्यास करना बताया गया है।[९] ये सभी साक्ष्य समराइच्च कहा में उल्लिखित तपस्वी जनों के आचरण तथा रहन-सहन का समर्थन करते हैं।

तपाचरण

समराइच्च कहा के उल्लेख से पता चलता है कि उस समय के वैदिक साधु-संन्यासी सन्ध्योपासना करते[१०] तथा कुसुम, समिधा आदि से यज्ञ, हवन आदि का भी विधान करते थे।[११] ये तपस्वी पद्मासनोपविष्ट, एकाग्रचित्त होकर तथा ध्यान

१. पी० वी० काणो—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ४८२।
२. तैत्तिरीय आरण्यक १।२३।
३. मनुस्मृति ६।२५-२९।
४. वही ६।३८, ४३, ४४।
५. पी० वी० काणो—धर्म शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ४८९।
६. रतिलाल मेहता—प्री बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० ३३७।
७. वही, पृ० ३३७-३८।
८. वशिष्ठ धर्मसूत्र—अध्याय ८।
९. आपस्तम्ब धर्मसूत्र—२।९।२२।
१०. सम० क० ७, पृ० ६६२, ६३, ६४।
११. वही ५, पृ० ४२४; ७, पृ० ६८४-८५।

लगाकर मंत्रजाप करते एवं रुद्राक्ष माला घुमाते थे।[१] कभी-कभी नदियों के तट पर स्थित मंडप में भी पूजा-पाठ एवं ध्यान लगाते थे।[२] वैदिक धर्माचरण के अनुसार समराइच्च कहा में साधु सन्यासियों को स्त्री दर्शन तथा अलीक वचन बोलने का निषेध था।[3] इसके साथ-साथ अनाथ एवं दुर्बल जीवों पर दया भाव, शत्रु-मित्र में समान भाव तथा मणि-मुक्ता को तृण के समान मानते थे।[४]

समराइच्च कहा में उल्लिखित वैदिक संन्यासियों के तपाचरण का उल्लेख स्मृतियों में भी किया गया है। मनु एवं गौतम स्मृतियों में संन्यासी को ब्रह्मचारी होना बताया गया है और उसे सदैव ध्यान एवं आध्यात्मिक ज्ञान के प्रति भक्ति भाव रखना तथा इन्द्रिय सुख एवं आनन्दप्रद वस्तुओं से दूर रहना उचित बताया गया है।[५] उसे जीवों को कष्ट नहीं देना चाहिए तथा क्रोधी एवं असत्यभाषी नहीं होना चाहिए।[६] मनु एवं याज्ञवल्क्य के अनुसार संन्यासी को प्राणायाम तथा अन्य योगांगों द्वारा मनको पवित्र करना चाहिए।[७] केवल वैदिक मंत्रों के जप को छोड़ कर उसे साधारणतया मौन व्रत रखना चाहिए।[८] तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार उसे यज्ञों, देवों एवं दार्शनिक विचारों से सम्बन्धित वैदिक वार्ता का अध्ययन एवं उच्चारण करना चाहिए।[९] सत्य की अप्रवंचना, क्रोधहीनता, विनीतता, पवित्रता, अच्छे बुरे का भेद, मन की स्थिरता, मन नियंत्रण, इन्द्रिय निग्रह तथा आत्मज्ञान आदि गुण स्मृतियों में संन्यासियों के लिए आवश्यक बताये गये हैं।[१०] समराइच्च कहा के समर्थन में स्मृतियों में वानप्रस्थों द्वारा यज्ञ करने के विधान का उल्लेख किया गया है। मनु एवं याज्ञवल्क्य स्मृतियों में उल्लिखित है कि वानप्रस्थों को पूर्णिमा के दिन श्रौत यज्ञ करना चाहिए।[११] एक अन्य स्थान पर मनु ने वानप्रस्थों के लिए अग्नि प्रज्वलित कर आहुति देने की बात कही है।[१२]

---

१. सम० क० १, पृ० १२, १८। २. वही १, पृ० ३९।
३. वही ७, पृ० ६६३। ४. वही १, पृ० ३५-३९।
५. मनु० ६।४१ एवं ४९; गौतम० ३।११।
६. मनु० ६।४०, ४७-४८; याज्ञवल्क्य० ३।६१; गौतम० ३।२३।
७. मनु० ६।७०-७५, ८१; याज्ञवल्क्य० ३।६२, ६४।
८. मनु० ६।४३; गौतम ३।१६; बौधायन धर्मसूत्र २।१०।७९; आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।९।२१।१०।
९. तैत्तिरीय उपनिषद् २।१।
१०. मनु० ६।६६, ९२-९४; याज्ञ० ३।६५-६६; वसिष्ठ० १०।३०।
११. मनु० ६।४; याज्ञवल्क्य० ३।४५।
१२. मनु० ६।९।

तापस

समराइच्च कहा के उल्लेखानुसार ध्यान-योग आदि का आचरण करने वाले दयालु स्वभाव के तपोवन वासी ऋषि धन्य समझे जाते थे।[१] तत्कालीन तपाचरण करने वाले वैदिक साधु संन्यासियों की दो श्रेणियां थीं—प्रथम साधारण तापस तथा दूसरे कुलपति। उत्तम तिथि मुहूर्त में कुलपति द्वारा तपस्वियों को आश्रम में दीक्षित किया जाता था। दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् ये तपस्वी कुलपति की सेवा करते हुए तप, व्रत, धर्म आदि का आचरण करते थे।[२] अतः वे वनवासी (आश्रम में कुलपति की सेवा करते हुए तपाचरण करने वाले) तापस कहे जाते थे।[3] उन तपोवन का सेवन करने वालों में वाल्क मुनि[४] तथा मुनिकुमार[५] का भी उल्लेख मिलता है। महाभाष्य में वानप्रस्थ के लिए तपस्वी शब्द का प्रयोग किया गया है जिनका लक्ष्य ही तपाचरण[६] करना था।

काशिकाकार के अनुसार अस्थिचमर्वाशिष्ट तापस स्वर्ग प्राप्ति के लिए तप करता है।[७] तप, श्रद्धा, दीक्षा आदि जीवन के अभिन्न अङ्ग थे तथा भोजन पर नियन्त्रण रखना तपस्या के लिए एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग माना जाता था।[८] तपस्वी जनों की तपश्चर्या तथा उनके रहन-सहन का उल्लेख धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में किया गया है जिसका विवरण पीछे दिया जा चुका है।

कुलपति

वैदिक तपस्वियों में श्रेष्ठ तथा आश्रम के आचार्य को कुलपति कहा जाता था। ये दश प्रकार के यतिधर्म पालन में निपुण एवं दिव्य ज्ञान युक्त होते थे।[९] वे आश्रम में रहने वाले सभी तपस्वियों के आचार्य व गुरु होते थे।[10] अन्य तपस्वियों से लेकर साधारण गृहस्थ तक के लोग उन्हें वन्दना-पूजा आदि के

---

१. सम० क० १, पृ० ३८; ५, पृ० ३९२; ७, पृ० ६६४, ६६७।
२. वही १, पृ० १४।
३. वही १, पृ० १२, १४, १७, २६, ३६–४०।
४. वही १, पृ० ४२–४३।
५. वही १, पृ० १६; ५, पृ० ४२०, ४२२-२३।
६. महाभाष्य—३।१।१५, पृ० ५५।
७. काशिका० ३।१।८८।
८. महाभाष्य २।३।३६, पृ० ३९०।
९. सम० क० ५, पृ० ४१७।
१०. वही ५, पृ० ४१५, ४१८, ४२२।

साथ सम्मान प्रदान करते थे।[१] इस प्रकार के कुलपति को ऋषि-अथवा महर्षि[२] कहा जाता था, जिनकी वाणी अमोघ समझी जाती थी।[३] तपस्वी-जन सम्पूर्ण प्राणि वर्ग की जननी के सदृश व्यवहार करते थे।[४] यहाँ समराइच्च कहा में ऋषि को (आश्रम के आचार्य को) ही कुलपति कहा गया है।

कुलपति का उल्लेख रघुवंश[५] तथा उत्तररामचरित[६] में भी किया गया है। बाणभट्ट ने कादम्बरी में महा-मुनि अगस्त[७] तथा शरीर में भस्म लगाये एवं मस्तक पर त्रिपुण्ड लगाये महर्षि जाबालि[८] का उल्लेख किया है जो अपने आश्रम में रहते हुए अन्य मुनिजनों से सेवित तथा धर्म पालन में निपुण समझे जाते थे। वशिष्ठ धर्मसूत्र में कहा गया है कि मुनिजन सबको अभय प्रदान करते चलते हैं, इसलिए उसे किसी से भय नहीं होता।[९]

तापसी

वैदिक धर्माचरण करने वाले तपस्वियों की भाँति कुलपति के आश्रम में नारी तापसी भी होती थीं। वे तापसी पुत्रंजीवक माला गले में धारण करती, वल्कल वस्त्र पहनती तथा हाथ में कमण्डलु लिए रहती थीं।[१०] वे तापसी तपाचरण से कृशगात कन्दमूल-फल आदि खाकर अपनी वृत्ति चलाती थीं।[११] वे कुलपति की आज्ञानुसार आचरण करती तथा उनकी वन्दना पूजा करती हुई तप-संयम आदि का आचरण करती थीं।

समराइच्च कहा के इन उल्लेखों का समर्थन वैदिक परंपरा के ग्रंथों से भी होता है। पतंजलि ने शंकरा नाम की परिव्राजिका का उल्लेख करते हुए कहा है

१. वही १, पृ० १६, १७, २१–२२–२३–२४, २६, ३१, ३३, ४१; ५, पृ० ४१४, ४१८, ४४९; ७, पृ० ६६६, ६८९, ६९०।
२. वही १ पृ० १३; ५, पृ० ४३६, ४३८; ६, पृ० ५६६; ९, पृ० ९२०, ९२२।
३. वही ४, पृ० २७२; ५, पृ० ४२३।
४. वही ५, पृ० ४३७।
५. रघुवंश १। ५।
६. उत्तररामचरित ३।४८।
७. कादम्बरी, अनुच्छेद १७
८. वही, अनुच्छेद ३८।
९. वशिष्ठ धर्मसूत्र २।११।२५।
१०. सम० क० ५, पृ० ४१०–११, ४२३–२४।
११. वही ५, पृ० ४२३।

कि कुणखाडव उसे शंकरा कहते हैं।[1] वानप्रस्थों में कुमार और कुमारियाँ रहती थीं।[2] कुछ लोग बिना गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए सीधे वैखानस व्रत ले लेते थे। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में इस प्रकार का विधान है।[3] इसीलिए अभिज्ञान शाकुन्तल में दुष्यन्त शकुन्तला के विषय में जिज्ञासा करते हैं कि क्या वह विवाह-होने तक ही वैखानस व्रत का पालन करेगी अथवा यावज्जीवन।[4] पाणिनी ने कुमार श्रमणादिभिः[5] के श्रमणादिगण में पठित श्रमण, तापसी, प्रव्रजिता शब्द का उल्लेख किया है, जिनका कुमार (कुमारी) शब्द के साथ तत्पुरुष-समास का विधान किया गया है।[6] कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में पण्डिता कौशिकी का उल्लेख संन्यासी के रूप में किया है।[7] इस प्रकार हम देखते हैं कि समराइच्च कहा में हरिभद्र के अनुसार जैन श्रमण संघ की भाँति वैदिक तपस्वियों के आश्रम में भी स्त्रियों के प्रवेश का जो उल्लेख है वह वैदिक परम्परा का उपयुक्त विवरण है।

तापस-भाजन-वस्त्र

समराइच्च कहा में उल्लिखित तपोवनवासी वल्कल वस्त्र पहनते[8], त्रिपुण्ड भस्म[9] (हवन की राख) लगाते तथा कमण्डलु लिए रहते थे।[10] वे कन्दमूल फलादि[11] खाते तथा मास पारण व्रत रहा करते थे[12] (मास में एक बार भोजन करने तथा पारण के दिन प्रथम प्रविष्ट घर से ही भोजन मिलने अथवा न मिलने पर वापस लौट आने का विधान था)। पारण अथवा पारणा शब्द 'पार' से निकला है जिसका अर्थ किसी कार्य अथवा धार्मिक क्रिया-विधि को पार करना

१. महाभाष्य ३।२।१४, पृ० २१२।
२. अष्टाध्यायी २।१।७० (श्रमणादिगण)।
३. आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।९।२१।१८, १९।
४. अभिज्ञान शाकुंतल १।२७।
५. अष्टाध्यायी २।१।७०।
६. वही २।१।७०।
७. मालविकाग्निमित्र १।१४।
८. सम० क० ५, पृ० ४१०, ४२४।
९. वही १, पृ० १२।
१०. वही १, पृ० १२; ५ पृ०, ४१०, ४११, ४२३, २४।
११. वही ५, पृ० ४१०–४११, ४२३–२४।
१२. वही १, पृ० १४-२५, २९–३१, ३३।

अर्थात् समाप्त करना है ।[१] विष्णुधर्मोत्तर में उल्लिखित है कि पारणा के साथ ही व्रत का अन्त करना चाहिए और उस समय ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिए ।[२] यहाँ समराइच्च कहा में मासपारणा व्रत का उल्लेख है जो महीने भर का व्रत था जिसका अन्त महीने के अन्त में पारण (भोजन ग्रहण) के साथ समाप्त किया जाता था । कभी-कभी शरीर त्याग के लिए लोग महा-उपवास व्रत का भी पालन करते थे ।[3] धर्मसूत्रों में भी संन्यासियों के भोजन-वस्त्र आदि का उल्लेख है । बौधायन धर्मसूत्र से पता चलता है कि संन्यासी को सिर, दाढ़ी तथा शरीर के सभी अङ्गों के बाल बनवा कर, तीन दण्डों को एक में जोड़कर, एक वस्त्र खण्ड (जल छानने के लिए कपड़ा), एक कमण्डलु एवं एक भिक्षा-पात्र लेकर जप, ध्यान आदि में संलग्न रहना चाहिए ।[४] स्मृतियों में आया है कि संन्यासी को अपने पास कुछ भी एकत्र नहीं करना चाहिए । उसके पास केवल जीर्ण-शीर्ण परिधान, जलपात्र तथा भिक्षा-पा: होना चाहिए ।[५] महाभाष्य में श्यामाक कण और बेर आदि अकृष्टपच्य अन्न तथा फलादि खाने का उल्लेख है ।[६] वे तापसी चन्द्रायण आदि व्रत का पालन करते थे ।[७] सूत्रकार ने अनुताप को भी तप कहा है । यह मासिक अर्थात् मास में पूर्ण होने वाला व्रत था । कादम्बरी के उल्लेख से भी पता चलता है कि साधु लोग उस समय चीर और वल्कल धारण करते, त्रिपुण्ड भस्म लगाते तथा रुद्राक्ष माला लिए रहते थे ।[८]

ये सभी साक्ष्य समराइच्च कहा में उल्लिखित तपस्वियों के भोजन-वस्त्र एवं तपाचरण का समर्थन करते हैं जिससे स्पष्ट होता है कि तपस्वीजन आश्रमों एवं जंगलों में रहते, वल्कल पहनते, त्रिपुण्ड-भस्म आदि लगाते, कमण्डलु तथा भिक्षा पात्र लिए रहते एवं फल-फूल, भिक्षा आदि पर अपना जीवन निर्वाह करते हुए तपाचरण में लीन रहते थे ।

१. पी० वी० काणे—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, वाल्यूम ५, पार्ट १, पृ० १२० ।
२. वही पृ० १२०–२१ में उद्धृत ।
३. वही १, पृ० ३५, ४० ।
४. बौधायन धर्मसूत्र २।१०।११–३० ।
५. मनु० ४।४३–४४; गौतम ३।१०; वशिष्ठ० १०।६ ।
६. महाभाष्य १।४।३ पृ० १३१ ।
७. वही ५।१।७२ पृ० ३३७ ।
८. कादम्बरी, अनुच्छेद १७, ३६, ३७, ३८ ।

जैन दर्शन

दर्शन शब्द का अर्थ साधारणतया 'दृष्टि' अर्थात् बाह्य चक्षु से लगाया जाता है। किन्तु सर्वसाधारण लोग जहाँ दृष्टि का अर्थ बाह्य चक्षु से लगाते हैं वहीं विद्वान विचारक इसका अर्थ आंतरिक चक्षु से लगाते हैं। स्पष्टतया जब कभी भी हम किसी समस्या के समाधान के लिए सोचना प्रारम्भ करते हैं वहीं दर्शन प्रारम्भ हो जाता है।

समराइच्च कहा में जैन दर्शन का प्रधान लक्ष्य आत्मा को सांसारिक मायाजाल से मुक्त कराकर अनन्त सुख (मोक्ष) की प्राप्ति कराना है। इस ग्रन्थ में श्रमण और श्रमण-आचार्य के अतिरिक्त कुछ दार्शनिक विचारों का भी विवेचन किया गया है जिसके अन्तर्गत लोक-परलोक, जीव गति, कर्म गति आदि का विश्लेषण किया गया है।

संसार गति

समराइच्च कहा में संसार गति को दारुण बताया गया है।[1] यहाँ इस संसार गति का हेतु मानव जीवन के कर्मों की परिणति है।[2] अतः जीव कर्म संयुक्त पाप से दुख तथा धर्म कृत्य से सुख प्राप्त करता है।[3] भगवती सूत्र में इस संसार को शाश्वत बताया गया है।[4] भगवान महावीर के अनुसार लोक किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है। अतः वह नित्य है, ध्रुव है, शाश्वत है एवं अरिवर्तनशील है। यहाँ रहने वालों की कर्मगति के अनुसार कभी सुख की मात्रा बढ़ जाती है तो कभी दुख की।

इस संसार में जीव और अजीव नाम की दो वस्तुयें दिखाई देती हैं जो किसी के द्वारा नहीं बनायी गयी हैं।[5] अतः यहाँ सभी प्राणी अपने कृत्यों के परिणामस्वरूप ही संसार गति के हेतु बनते हैं।[6] जैन दर्शन में जीव दो तरह के माने गये हैं—संसारी जीव और मुक्त जीव। संसारी जीव अपने कर्मों के अनुसार बार-बार इस संसार के हेतु बनते हैं; किन्तु मुक्त जीव अपने कर्म बन्धन से मुक्त होकर निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं।[7]

१. सम० क० ४, पृ० ३१४;८, पृ० ८२६।
२. वही ४, पृ० ३४२; ५, पृ० ३९६, ४७५, ४८६; ७, पृ० ६२३।
३. वही १, पृ० १३, ३७; ५, पृ० ४९०; ७, पृ० ७११; ८, पृ० ७८९।
४. भगवती सूत्र ९।३३।३८७।
५. सम० क० २, पृ० १०९।
६. वही ७, पृ० ६२५; ८, पृ० ८५१।
७. जैकोबी—स्टडीज इन जैनिज्म, पृ० २०।

परलोक

समराइच्च कहा में इहलोक के साथ-साथ परलोक की स्थिति पर भी विवेचन किया गया है। भूत अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश से भिन्न चेतन स्वरूप जीव परलोक गामी होता है।[1] चेतन का अचेतन से भेद माना जाता था। अतः भूत अर्थात् देह से भिन्न चैतन्य की सिद्धि पर यह विश्वास किया जाता था कि परलोक भी है।[2] हर प्राणी की मृत्यु के पश्चात् उसका चैतन्य रूप जीव परलोग-गामी होता है। कर्म की सत्ता स्वीकार करने पर तत् फलस्वरूप परलोक और पुनर्जन्म की सत्ता भी स्वीकार करनी पड़ती है।[3] जैसा कि सर्वविदित है ब्राह्मण एवं बौद्धों में भी परलोक (स्वर्ग एवं नरक) की सत्ता में विश्वास किया जाता था।[4]

जैन दार्शनिक विचारधारा के अनुसार जीव दो प्रकार के माने गये हैं—संसारी जीव और मुक्त जीव। मुक्त जीव में कोई भेद नहीं माना गया है; किन्तु संसारी जीव चार प्रकार के माने गये हैं—नारक, तिर्यक, मनुष्य एवं देव। इस पृथ्वी के नीचे सात नरक की सत्ता स्वीकार की गयी है, उनमें जो जीव निवास करते हैं वे नारकीय कहलाते हैं। ऊपर स्वर्ग में जो निवास करते हैं वे देव, मनुष्य और पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े आदि त्रियंक कहे गये हैं।[5] इन चारों विभेदों से भी परलोक की सत्ता स्पष्ट होती है।

समराइच्च कहा में परलोक की गति का विवेचन करते हुए बताया गया है कि जीव के अनैतिक कर्मों का परिणाम (मृत्यु के पश्चात्) नरक वास है। नरक लोक के संदर्भ में स्पष्ट करते हुए हरिभद्र सूरि ने बताया है कि महान् अपराध करने वाला पुरुष जो न्यायी राजा की आज्ञा से गृहीत है, भयंकर जेल रक्षकों के द्वारा लोहे की सांकल से जकड़ा हुआ शरीर वाला है, घोर अंधकार रूपी जेल में रहने वाला है तथा परतंत्र है जिससे अत्यन्त स्वजन वर्गों को वह देख भी नहीं सकता शिक्षा देने की तो बात ही दूर है।[6] अतः पाप कृत्य करने वाले प्राणी नरक लोक में अपने कृत्यों का परिणाम भोगते हैं। इसी प्रकार नरक-

१. सम० क० ३, पृ० २०४।
२. वही १, पृ० ६०; ३, पृ० २०५।
३. मोहन लाल मेहता—जैन दर्शन, पृ० ३५७।
४. वासुदेव उपाध्याय – सोसिओ-रिलिजस कन्डीशन आफ नार्थ इंडिया, पृ० १८५।
५. मोहन लाल मेहता—जैन दर्शन, पृ० ३५७।
६. सम० क० ३, पृ० २०८-९।

लोक के अतिरिक्त स्वर्ग लोक की भी कल्पना की गयी है। जिस प्रकार निम्न जाति और निम्न कुल का दरिद्र व्यक्ति व्यापार करके, कलाओं को सीख करके और देशान्तर आ करके राज्य पा लेता है, अनेक सुन्दरियों से विवाह कर लेता है, बड़े-बड़े राजाओं से पूजित होता है तथा महान एवं उत्तम सुखों से परिपूर्ण होकर कुरूप स्त्रियों एवं कुपुरुषों को याद भी नहीं करता उसी प्रकार देवगण मनुष्य को असार मानते हैं। धर्म रूप व्यवसाय करके तथा परलोक रूपी कलाओं को सीख करके देवगण पूर्व कृत कर्म के प्रभाव से ऋद्धि को प्राप्त करते हैं और त्रिदश सुन्दरियों से सेवित होते हुए अनेक दिव्य सुखों को भोगते हैं और मनुष्य भव को याद भी नहीं करते, यहाँ आने की तो बात ही दूर है।[1] अतः जैन परंपरा में उल्लिखित संसारी जीव कर्म के परिणामस्वरूप मृत्यु के पश्चात् कुछ निश्चित अवधि तक नारकभव एवं देवभव (स्वर्गलोक) में वास करते हैं और पुनः जन्म लेकर संसार चक्र में भ्रमण करते हैं।

समराइच्च कहा की भाँति राजप्रश्नीय सूत्र में भी आया है कि जीव अपुण्य कृत्यों के परिणामस्वरूप नरक लोक में महान् दुखों को भोगते हुए इच्छा होने पर भी मनुष्य लोक में नहीं आ सकते।[2] इसी प्रकार पुण्य कृत्यों के परिणाम स्वरूप स्वर्ग में उत्पन्न हुआ देव इच्छा होने पर भी मनुष्य लोक में नहीं आ सकता, क्योंकि वह स्वर्ग के काम-भोगों का त्याग नहीं करना चाहता।[3] जैन दार्शनिक विचारधारा में अच्छे कर्म का फल देव-लोक तथा असत् कर्मों का फल नरक लोक माना गया है।[4] परलोक की सत्ता में विश्वास करते हुए जैन ग्रन्थों में बताया गया है कि साधक की साधना में जब कोई दोष रह जाता है तभी उसे स्वर्ग में भ्रमण करना पड़ता है।[5] तत्त्वार्थ सूत्र में सात प्रकार के नरक लोक की चर्चा की गयी है जहाँ नारकी को नाना प्रकार की यातनाएँ सहन करनी पड़ती थीं।[6] नरक लोक की ही भाँति देवलोक की सत्ता में भी विश्वास किया गया है।[7]

---

१. सम० क० ३, पृ० २०९-१०।
२. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग २, पृ० ५९।
३. वही, भाग २, पृ० ५९।
४. स्टीवेंसन—दी हर्ट आफ जैनिज्म, पृ० २६८।
५. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १, पृ० ५८।
६. तत्त्वार्थ सूत्र २।१, २।५।
७. वही ४।१।

जीव गति

समराइच्चकहा में जैन दर्शन के प्रभावस्वरूप जीव गति का भी उल्लेख प्राप्त होता है, जिसका विश्लेषण इस प्रकार है—

चित्त, चेतना, संज्ञा, विज्ञान, धारणा तथा बुद्धि, ईहा, मति एवं वितर्क ये सब जीव हैं।[१] जिस प्रकार शब्द को कोई रोक नहीं सकता उसी प्रकार जीव को भी रोका नहीं जा सकता।[२] जीव की स्थिति के बारे में उल्लिखित है कि वह जीव भूत (पंचेंद्रिय) से भिन्न शरीर में उसी प्रकार अदृश्य रहता है जैसे अरणि में अग्नि विद्यमान रहती है।[३] अतः मृत्यु के पश्चात् देह से भिन्न चेतन स्वरूप जीव परलोकगामी होता है तथा उसका स्वरूप सूक्ष्म एवं अनीन्द्रिय है।[४] इस प्रकार यह बात सिद्ध होती है कि जीव इन्द्रियों का विषय नहीं है और न तो साधारण चर्म चक्षु से देखा ही जा सकता है अपितु सिद्ध, सर्वज्ञ तथा ज्ञानी साधुगण ही ज्ञानरूपी प्रकाश से देखते हैं।

इस चैतन्य युक्त जीव की निश्चित पहचान व्यवहार में पांच इन्द्रियों, मन, वचन, काय रूप तीनों बलों तथा श्वासोच्छ्वास और आयु आदि इन दश प्राण रूप लक्षणों की हीनाधिक सत्ता के द्वारा की जा सकती है।[५] जीव के और भी अनेक गुण हैं। उनमें कर्तृत्व शक्ति है और उपभोग का सामर्थ्य भी है तथा वह आमूर्त है।[६] संसार में इस प्रकार के जीवों की संख्या अनन्त है। प्रत्येक शरीर में विद्यमान जीव अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है और उस अस्तित्व का कभी संसार में या मोक्ष मे विनाश नहीं हो सकता।[७]

समराइच्च कहा में जीव के दो भेद बताये गये हैं—स्थावर और जंगम। पृथ्वी, जल, ज्वलन, मारुत और वनस्पतिकाय को स्थावर तथा कृमि, कीट, पतंग, महिष, गो तथा वृषभ आदि को जंगम बताया गया है।[८] स्थावर से जंगमत्व दुर्लभ है। जीव यदि जंगमत्व को प्राप्त करता भी है तो अनेक भेद

१. सम० क० ३, पृ० २१३।
२. वही ३, पृ० २११।
३. वही ३, पृ० २०५, २१३।
४. वही ३, पृ० २०४-२०५।
५. गोम्मट सार—जीवकाण्ड—१२९ (पंच वि इंदियपाणा मन बचकायेसु तिण्णिवलयाणा। आणप्पाणप्पाणा आउगयाणेण होंति दस पाणा)।
६. हीरालाल जैन—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० २१८।
७. वही पृ० २१८।
८. सम० क० ४, पृ० ३४७।

वाले कृमि, कीट, पतंग आदि योनियों में चला जाता है और फिर उनमें घूमते-घूमते पंचेन्द्रियत्व को प्राप्त करता है। उन पंचेन्द्रिय जीवों में गौ, ऊँट आदि योनियों में भ्रमण करते हुए संयोगवश मनुष्यत्व को प्राप्त करता है।[१]

भगवती सूत्र में जीव की पहचान रंगरहित, गन्धरहित, स्वादरहित, स्पर्शहीन, अरूप, शाश्वत और ब्रह्माण्ड में सर्वदा स्थित रहने वाले चैतन्य से की गयी है जिसे जीव, जीवास्तिकाय, प्राण, भूय, सत्य, विन्नु, सेया, जेया और आया आदि विभिन्न नामों से जाना जाता है।[२] जीव की इस परिभाषा के फलस्वरूप यह स्वीकार किया जाता है कि चैतन्य रूप जीव किसी रूप में सांस लेता है और किसी रूप में सांस नहीं भी लेता है।[३] अतः समराइच्च कहा की भाँति यहाँ भी जीव को अमर एवं शाश्वत बताया गया है। अर्थात् न इसे कोई मार सकता है और न जला सकता है।[४] जीव के दो भेद बताये गये हैं—संसारी और मुक्त जीव। यहाँ संसारी जीव के भी दो भेद बताये गये हैं—त्रस (चलने-फिरने वाले) और स्थावर (अचल)। समराइच्च कहा में उल्लिखित जंगम को त्रस कहा गया है। इन्द्रियों की गणना के अनुसार इन दोनों में भी कई भेद बताये गये हैं। स्थावर को पाँच भागों में विभाजित किया गया है—पृथ्वीकाय, अपकाय (जलकाय), वायुकाय, तेजकाय और वनस्पतिकाय।[५] इसी प्रकार त्रस के भी चार भेद माने गये हैं—द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव।[६]

समराइच्च कहा में जीव का परिणाम भी मल एवं कलंक मुक्त स्वर्ण की भाँति शुद्ध बताया गया है।[७] इस प्रकार का जीव स्वभाव से उचित कर्मों के विपाक को जानकर अपराध करने वाले पर भी उपशम के कारण कभी क्रोध नहीं करता है और जीव भाव से इहलौकिक तथा पारलौकिक सुख को दुख ही मानता हुआ वह मुक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की प्रार्थना नहीं करता।[८] ममत्व रूपी विषवेग से रहित होता हुआ निर्वेद के द्वारा नारक, तिर्यक, नर और देव

---

१. सम० क० ४, पृ० ३४७-४८।
२. भगवती सूत्र—२०।२।६६५।
३. वही ६।१०।२५६।
४. वही ८।३।३२५।
५. वही ३३।१।८१४।
६. भगवती सूत्र—३३।१।८१४।
७. सम० क० १, पृ० ६०।
८. वही १, पृ० ६०।

भवों में वास को वह दुख ही मानता है तथा वह जीव भयंकर भवसागर में दुख से पीड़ित प्राणी समुदाय को देखकर सामान्य रूप से अपनी शक्ति के अनुसार बाहर और भीतर से अनुकम्पा करता है ।[1]

इस प्रकार वह प्राणी (जीव) अपरिमित परिग्रह से दूर रहता है तथा देश-विरति परिणाम से युक्त अणुव्रतों को स्वीकार करके अतिचारों को नहीं करता । भाव से भी उसके परिणाम का पतन नहीं होता और आचरण के प्रभाव से जीव अन्त में परम पद (मोक्ष का अनुगामी) का भागी हो जाता है । भगवती सूत्र के अनुसार भी भावव्युत्सर्ग (विचारों का त्याग) तथा द्रव्यव्युत्सर्ग (शरीर, काम, संसार एवं अन्य प्रकार के सांसारिक बन्धन से युक्त कर्मों का त्याग) से यह जीव मोक्ष को प्राप्त होता है ।[2] इस प्रकार सम्यक्-ज्ञान एवं सम्यक्-चरित्र से पूर्णता को प्राप्त होकर वह अनन्त सुख का भागी होता है ।

कर्मगति

समराइच्च कहा में जीव के सुख-दुख तथा पाप-पुण्य आदि का कारण कर्म परिणति बताया गया है ।[3] इस संसार में व्यक्ति पूर्वकृत कर्म के प्रभाव से ही क्लेश का भाजन बनता है, दारिद्र्य दुख का अनुभव करता है अथवा सुख समृद्धि का हेतु बनता है । इस प्रकार जीव अनादि कर्म संयुक्त पाप से दुख तथा धर्म कार्य से सुख का अनुभव करता है ।[4] कर्म की महत्ता स्वीकार करते हुए हरिभद्र ने इसकी आठ मूल प्रकृतियाँ बतायी हैं । इन्हीं आठ मूल कर्म प्रकृतियों के ही परिणामस्वरूप अनुकूल एवं प्रतिकूल फल प्राप्त होते हैं । ये आठ मूल प्रकृतियाँ हैं—ज्ञानावरणीय (जीव के सभी ज्ञान पर परदा डाल कर उसका घात कराने वाली), वेदनीय (सुख-दुख का अनुभव कराने वाली), मोहनीय, (क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह और चरित्र आदि से आत्मा का बध करके उसका घात करने वाली), आयु (देवायु, मनुष्यायु, त्रियंचायु और नरकायु में भ्रमण करने वाली), नाम (शुभ और अशुभ नाम प्रकृत बंध द्वारा आत्मा का घात कराने वाली), गोत्र (उच्चगोत्र और निम्नगोत्र के बन्धन द्वारा आत्मा का घात कराने वाली) और अन्तराय (दान, लाभ एवं भोग-उपभोग आदि से दूर रख कर आत्मघात कराने वाली)[5] । इन आठों मूल कर्म प्रकृतियों की स्थिति दो प्रकार

१. सम० क० १, पृ० ६०-६१ ।
२. भगवती सूत्र—२५।७।८०३ ।
३. सम० क० ४, पृ० ३४२; ५, पृ० ३९६, ४७५, ४८६; ७ पृ० ६२३ ।
४. वही १, पृ० १३, ३७; ५, पृ० ४९०; ७, पृ० ७११; ८, पृ० ७९८ ।
५. वही १, पृ० ५८; ९, पृ० ४४५-४६-४७ ।

की बतायी गयी है—उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति। उत्कृष्ट स्थिति ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय की तीस कोड़ा कोड़ी सागरोपम, नाम और गोत्र की बीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम, मोहनीय की सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागरोपम और आयु की तैंतीस सागरोपम की स्थिति मानी गयी है।[१] जघन्य स्थिति वेदनीय की बारह मुहूर्त, नाम-गोत्र की आठ मुहूर्त और शेष की अन्तर मुहूर्त है।[२]

साधारणतया जैन दर्शन में कर्मों की यह स्थिति जीव के परिणामस्वरूप तीन प्रकार की मानी गई है—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन तीन कर्मों की जघन्य अर्थात् कम से कम स्थिति अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अर्थात् अधिक से अधिक स्थिति तीस कोड़ा-कोड़ी सागर की होती है। वेदनीय की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ा-कोड़ी सागर की है। मोहनीय कर्म की जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर की है। आयु की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति क्रमशः अंतर्मुहूर्त और तैंतीस सागर की तथा नाम और गोत्र दोनों की अंतर्मुहूर्त और बीस कोड़ा-कोड़ी सागर की कही गयी है। जघन्य और उत्कृष्ट के बीच की समस्त स्थितियाँ मध्यम कहलाती हैं।[3]

समराइच्च कहा की भाँति भगवती सूत्र में भी कर्म बन्ध को चार प्रकार का बताया गया है—प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेश बन्ध।[४] इनकी प्रकृति के अनुसार कर्म को आठ मूल प्रकृतियाँ बतायी गयी हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।[५] भेद-प्रभेद से इन्हें एक सौ अट्ठावन प्रकार का बताया गया है।[६] जिस प्रकार भोजन शरीर में पहुँच कर विभिन्न रूपों में परिवर्तित हो जाता है और उसके (शरीर के) विकास में सहायक होता है इसी प्रकार कर्म के गुण भी आत्मा में

१. सम० क० १, पृ० ५८।
२. वही १, पृ० ५८।
३. हीरालाल जैन—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० २३४-३५ (एक मुहूर्त का प्रमाण आधुनिक कालगणना के अनुसार अड़तालीस मिनट होता है तथा संख्यातीत वर्षों के काल को सागर कहते हैं)।
४. भगवती सूत्र १।४।३८।
५. वही १८।३।६२१।
६. जे० सी० सिकदार—स्टडीज इन दी भगवती सूत्र, पृ० ६००।

मिलकर उसे मूक रूप में आठ प्रकार से बाधित करते हैं।[1] प्रत्येक कर्म प्रकृति की कुछ निश्चित अवधि होती है जिसके अन्दर वह अपना प्रभाव दिखाती है और अवधि समाप्त होने पर पुनः आत्मा से अलग हो जाती है।[2]

समराइच्च कहा में कर्म के संयोग से दुख तथा कर्म की निवृत्ति से सुख की प्राप्ति बताया गया है।[3] जरा दुख है उसकी निवृत्ति सुख है, मरण दुख है और उसकी निवृत्ति सुख है, क्लेश दुख है उसकी निवृत्ति सुख, प्रिय दुख है और उसकी निवृत्ति सुख है। अतः अनादि कर्म संयोग से ये प्राणी गण सुख के स्वरूप को नहीं जानते। इसी प्रकार जन्म, जरा, मरण, रोग, इच्छा, प्रिय, संक्लेश आदि को भी समझना चाहिए।

उपरोक्त प्रकार के परिणाम को प्राप्त होने पर कोई जीव ऐसा होता है जो इसका भेदन करता है और कोई ऐसा भी है जो इसका भेदन नहीं करता है।[4] कर्म भेदन के परिणाम स्वरूप जीव सम्यक्त्व को प्राप्त होता है तथा वह बहुकर्म मलमुक्त होकर अपने स्वरूप भाव को प्राप्त होकर प्रसन्न, दयावान, तथा संसार से उद्विग्न हो सभी भवोपग्राही कर्मांश का नाश करके और जन्म, जरा, मरण, रोग शोक आदि से रहित होकर परम पद को प्राप्त करता है।[5] समराइच्च कहा की भाँति भगवती सूत्र में भी जीव की विभिन्न गतियों का कारण कर्मबन्ध ही बताया गया है और जीव इन कर्म के गुणों से मुक्त हो कर पूर्णता को प्राप्त होता है।[6] यही पूर्णता की स्थिति सर्वार्थ सिद्धि (मोक्ष) की स्थिति जानी जाती है जिसे प्राप्त कर लेने पर जीव को पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता।

बन्धनों से मुक्त जीव पूर्णता को प्राप्त होकर मुक्ति (आवा-गमन से रहित) को प्राप्त होता है।[7] जब आत्मा के समस्त कर्म अलग हो जाते हैं तब जीव कर्ममलमुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त होता है।[8]

चार्वाक-दर्शन-जीव

हरिभद्र सूरि ने समराइच्च कहा के तीसरे भव में आस्तिकवाद के साथ-

१. जैकोबी—स्टडीज इन जैनिज्म, पृ० २५-२६।
२. वही पृ० २६।
३. सम० क० ३, पृ० २१७।
४. वही १, पृ० ५९।
५. वही १, पृ० ५९, ६०, ६५; ४, पृ० ३३३; ९, पृ० ६९३।
६. भगवती सूत्र ७।१।२५५।
७. जैकोबी—स्टडीज इन जैनिज्म, पृ० २०।
८. मोहनलाल मेहता—जैन दर्शन, पृ० ३४८।

साथ नास्तिकवाद का भी उल्लेख किया है। नास्तिकवाद को चार्वाक सिद्धान्त माना जाता है जिसका सिद्धान्त सांसारिक सुखों का पूर्णतः उपभोग करना था। क्योंकि उनके अनुसार इस भौतिक जीव का पुनर्जन्म नहीं होता।

चार्वाक शब्द का व्युत्पन्नार्थ—चारु अर्थात् मनोरम तथा वाक् अर्थात् उपदेशमय वचन से लगाया जाता है। निसर्ग से ही प्राणी को परोक्ष की अपेक्षा प्रत्यक्ष-सुख को प्राप्ति के लिए तथा प्रत्यक्ष दुख से निवृत्ति पाने के लिए प्रवृत्ति होती है।[1] चार्वाक के दार्शनिक सिद्धान्त में एकमात्र जड़ तत्त्व की मान्यता है।[2] इसके सिद्धान्त में भूमि, जल, अग्नि, और वायु ये ही चार तत्त्व प्रमेय रूप में स्वीकृत किये गये हैं। इन्हीं चार भूतों का उचित मात्रा में संयोग होने से स्वभावतः चेतना उत्पन्न हो जाती है जिस प्रकार किण्वादि तथा गुड़ और महुआ आदि मादक द्रव्यों का संयोग होने पर मादकता[3] एवं चूना, पान-सुपारी के एकत्र होने पर रक्तिमा की उत्पत्ति हो जाती है।[4] इस सिद्धान्त के अनुसार 'मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ' आदि साधारण उक्तियों से तथा स्थूलता और कृशता आदि विशेषणों के योग से देह के अतिरिक्त अन्य किसी भी अतीन्द्रिय आत्मा की सिद्धि नहीं होती है।[5]

समराइच्च कहा में चार्वाक विचारधारा के अनुसार पांच भूतों अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के मेल से ही पैदा हुए चैतन्य को जीव कहा गया है और जब ये भूत नष्ट हो जाते हैं तो यह कहा जाता है कि जीव मर गया।[6] ऊपर के उल्लेखानुसार चार्वाक मत में चार तत्त्वों को ही प्रधानता बतायी गयी है जब कि समराइच्च कहा में आकाश नामक तत्त्व को भी जोड़ दिया गया है। पृथ्वी, जल, तेज, आदि भूतों में एक ऐसी परिणाम की विचित्रता पायी जाती है जिससे चेतनता शरीर में ही आती है, अन्यत्र नहीं।[7] आस्तिकवाद जहाँ यह मानता है कि ये भूत अचेतन हैं जो शरीर रूप में परिणत होने पर प्रत्यक्ष रूप में चेतना नहीं आने देते, क्योंकि जो वस्तु जिनके अलग रहने में नहीं पायी जाती वह उनके समूह में भी नहीं पायी जा सकती। अर्थात् उनके अनुसार इस

१. सर्वानन्द पाठक—चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा, पृ० ८।
२. बार्हस्पत्य सूत्र २-३।
३. वही पृ० ४।
४. शंकराचार्य—सर्व सिद्धान्त संग्रह ७।
५. सर्वानन्द पाठक—चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा, पृ० २७।
६. सम० क० ३, पृ० २०१, २०४।
७. सम० क० ३, पृ० २०६।

अचेतन भूत के अतिरिक्त चैतन्य जीव का अलग अस्तित्व है।[1] जब कि नास्तिक वाद के अनुसार इन्द्रियों का गुण ही जीव है तथा उसकी अभिमान्यता में शरीर से भिन्न जीव नाम की दूसरी वस्तु नहीं है।[2] आदि पुराण में चार्वाक मत की व्याख्या में बताया गया है कि पाप, पुण्य तथा परलोक आदि सत्य नहीं हैं। शरीर के विनष्ट होते ही आत्मा भी नष्ट हो जाती है।[3] अर्थात् यहाँ भी शरीर से भिन्न जीव नामकी कोई वस्तु नहीं मानी गयी है।

लोक-परलोक वाद

प्राचीन आस्तिकवाद के अनुसार जहाँ लोक तथा परलोक में विश्वास किया जाता था, वहीं नास्तिक वाद मात्र भौतिक लोक में विश्वास करता था। नास्तिक मत में स्वर्ग-नरक आदि कोई वस्तु नहीं है क्योंकि पंचभूतों के मेल से उत्पन्न चैतन्य को ही जीव कहते हैं और भूतों के नष्ट हो जाने पर वह जीव भी शरीर के साथ नष्ट हो जाता है, जिसके लिए स्वर्ग नरक आदि परलोक गमन का प्रश्न ही नहीं उठता।[4] नास्तिक वाद का यह भी विचार था कि कोई भी जीव मृत्यु के पश्चात् लौट कर अपना स्वरूप नहीं दिखलाता जिससे यह सिद्ध होता है कि परलोक नाम की कोई वस्तु है ही नहीं।[5] अतः नास्तिक विचारधारा के अनुसार यह संसार ही सब कुछ है जहाँ जीव को हर प्रकार के भोगोपभोग का सेवन करना चाहिए।

महाभारत में भी चार्वाक मत के प्रतिपादन में परलोक में अविश्वास किया गया है। यहाँ तपस्वी वेषधारी चार्वाक ने युधिष्ठिर से पारलौकिक सुख को व्यर्थ बताते हुए कहा है कि परलोक नाम की कोई बात है ही नहीं तो परलोक सुख कहाँ से सम्भव है।[6] चार्वाक मत के अनुसार यदि आत्मा का परलोक गमन यथार्थ है तब कभी-कभी बान्धवों के स्नेह से आकृष्ट होकर वह परलोक मे लौट भी आता है, पर ऐसा नहीं होता है। अतएव आगत परलोकियों के अभाव में परलोक की सत्ता सिद्ध नहीं होती जिससे स्पष्ट होता है कि यह सम्प्रदाय अपर-लोकगामी है।[7] इस तथ्य का समर्थन समराइच्च कहा से भी होता है।

१. सम० क० ३, पृ० २०४, २०६।
२. वही ३, पृ० २०८, २१०-११।
३. आदि पुराण ५।६५-६८।
४. सम० क० ३, पृ० २०२।
५ वही ३, पृ० २०२।
६. महाभारत—शान्तिपर्व ३८।२२-२७, ३९।३-५।
७. सर्वानन्द पाठक—चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा, पृ० २७।

बार्हस्पत्यसूत्र में उल्लिखित है कि इस चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा अनुभूयमान लोक के अतिरिक्त किसी भी परलोक की सत्ता नहीं है।[1] व्यर्थ में स्वर्ग की कामना कभी भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि स्वर्ग नामक पदार्थ का कहीं भी अस्तित्व नहीं है।[2] इन सभी उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि नास्तिकवाद की विचारधारा में जो पदार्थ दृष्टिगत होते हैं वे ही सत्य हैं। चक्षु ही तो दृष्टि का उत्कृष्टतम साधन है।

पुराणों में भी कहीं-कहीं नास्तिकवाद की व्याख्या में परलोक की सत्ता में अविश्वास प्रकट किया गया है। पद्मपुराण में एक जगह उल्लिखित है कि न कहीं स्वर्ग का अस्तित्व है और न किसी प्रकार के मोक्ष का, व्यर्थ ही लोग इनकी उपलब्धि के लिए कष्ट उठाते हैं।[3] रामायण में भी पिता की मृत्यु के पश्चात् शोक में व्याप्त राम को आश्वासन देते हुए जाबालि नामक एक द्विज ने आस्तिकवादी परंपरा के विचारों को ही व्यक्त करते हुए कहा है कि हे महामते! वास्तव में इस प्रत्यक्ष लोक के अतिरिक्त अन्य परलोक आदि कुछ नहीं है। अतः जो प्रत्यक्ष है उसे ग्रहण कीजिए और जो परोक्ष है उसे उपेक्षित कीजिए।[4] सर्व सिद्धान्त संग्रह में भी कहा गया है कि इस प्रत्यक्ष दृश्यमान संसार के अतिरिक्त अन्य कोई भी लोक (स्वर्ग नरक आदि) तत्त्व नहीं है।[5]

हरिभद्र सूरि ने षड्दर्शन समुच्चय में लोकायत मत के सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने में परलोक का खण्डन करते हुए कहा है कि जितना स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, और श्रोत्र इन इंद्रियों के द्वारा प्रत्यगोचर हो रहा है उतना ही भूभर है, और यदि कहा जाय कि परलोक की भी सत्ता है तो वह केवल शशक के शृंग तथा बन्ध्या के पुत्र के ही समान है। आगे बताया गया है कि वह परलोक सत्ता वृक पद के समान है। मानों जो यथार्थ में प्रकृत वृक पद का चिह्न न होकर कृत्रिम मात्र है, अर्थात् राजमार्ग की धूलि में अपनी अंगुलियों से चित्रित एक कृत्रिम वृक का चिह्न निर्मित कर कोई लोक प्रतिष्ठित अनुभवी पंडित लोगों को उसे दिखला कर यह कहता है कि रात में एक वृक आया था, उसी का यह पद चिह्न है और अन्य लोग भी इस पर विश्वास कर लेते हैं।[6]

१. बार्हस्पत्य सूत्र, २९ (नास्ति परलोकः); देखिए—त्रिषष्टिशलाका पुरुष-चरित १।१।३३०।
२. बार्हस्पत्य सूत्र, १२ (नैव दिव्याच्च)।
३. पद्मपुराण—सृष्टि खण्ड १३।३२३।
४. रामायण २।१०९।१७ (स नास्ति परमित्येत कुरु बुद्धिं महामते। प्रत्यक्षं यत्तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु)।
५. शंकराचार्य—सर्वसिद्धांत संग्रह ८।
६. षड्दर्शन समुच्चय श्लोक ८१।

उपरोक्त उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि चार्वाक विचार धारा के लोग परलोक की सत्ता में विश्वास नहीं करते थे। उनका विचार था कि जब तक जीवन है तब तक शरीर को हर प्रकार से सुख देना ही उचित है।

मृत्यु

आस्तिक विचारकों के अनुसार मृत्यु हमेशा मारने के लिए तैयार रहती है,[1] जिसे नास्तिक चिन्तकों ने निराधार माना है। उनका विचार है कि क्या घर छोड़ कर साधु बनने वालों के पास मृत्यु नहीं आती। उनके अनुसार जगत की स्थिति ही ऐसी है कि मूर्ख, पंडित, साधु, गृहस्थ आदि सभी को मरना पड़ता है, और अंत में मरकर श्मशान जाना ही पड़ता है। इसलिए आरम्भ से ही श्मशान वास करना उचित नहीं।[2] पंचभूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) के नष्ट हो जाने पर शरीर के साथ ही साथ जीव भी नष्ट हो जाता है।[3] चार्वाक विचारधारा के अनुसार घड़े में रहने वाली चिड़िया की भाँति कोई आत्मा शरीर में नहीं रहती जो मृत्यु के पश्चात् परलोक की यात्रा करे।[4] आदिपुराण में भी चार्वाक मत के संदर्भ में उल्लिखित है कि शरीर के नष्ट होते ही आत्मा भी नष्ट हो जाती है। इसलिए जो व्यक्ति प्रत्यक्ष का सुख छोड़कर परलोक की कामना करता है वह इस लोक के भी सुखों से वंचित हो जाता है।[5] शरीर की स्थिति प्राणमय है। अतः प्राणवायु के निकल जाने पर शरीर और इंद्रिय समूह मृत हो जाते हैं तथा प्राणवायु के रहने पर शरीर जीवित रहता है।

देह, इंद्रिय, मन और प्राण ये भौतिकवाद पर आधारित हैं। भूतों में ही इस मत के समस्त विचार निहित हैं। इन स्थूल भूतों के आगे जाने पर भौतिक-वादी दृष्टि असमर्थ हो जाती है। उपनिषदों आदि में कालवाद, नियतिवाद, स्वभाववाद, यदृच्छावाद, भूतवाद और पुरुषवाद आदि का प्रसंग मिलता है।[6] मृत्यु अर्थात् इस जड़ तत्व विनिर्मित देह का नाश ही मोक्ष है।[7] इस प्रकार चार्वाक् दर्शन में इन पंचभूतों के (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) संयोग से ही जीव की उत्पत्ति होती है तथा इनके नष्ट हो जाने पर मृत्यु की सत्ता

---

१. समः क० ३, पृ० २०२।
२. वही ३, पृ० २०२।
३. वही ३, पृ० २०१।
४. वही ३, पृ० २०१।
५. आदि पुराण ५।६५-६८।
६. श्वेताश्वरोपनिषद्—(शंकर भाष्य सहित-गीता प्रेस), १।२।
७. बार्हस्पत्य सूत्र ८ (मरणमेवापवर्गः)।

स्वीकार की जाती है। चार्वाक-सिद्धान्त मृत्यु के पश्चात् परलोक (स्वर्ग-नरक) तथा मोक्ष आदि में विश्वास नहीं करता, क्योंकि वह दृश्य नहीं है।

विषय-सुख

आस्तिक चिन्तकों के अनुसार जहाँ विषय परिणाम भयानक माना जाता था, वहीं नास्तिक विचारधारा के लोग यह कह कर विषयों के उपयोग को स्वीकृति देते हैं कि आहार का परिणाम भी तो भयानक है तो क्या इसे भी छोड़ देना चाहिए।[१] उनके विचार में जगत की स्थिति ऐसी है कि उपाय जानने वालों के लिए दारुणत्व की संभावना नहीं है।[२] जीव भूतों का मिश्रित चैतन्य रूप है। जिसकी मृत्यु के पश्चात् उसके नरक-स्वर्ग आदि लोक में जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस भष्मीभूत शरीर का पुनर्गमन नहीं होता। अतः विषयों का सेवन उचित है, क्योंकि सुख सेवन से ही सुख की उपलब्धि होती है न कि तप, व्रत, संयम आदि कष्टों से।[३]

आस्तिकवादी संप्रदाय में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ माने गये हैं; पर नास्तिकवादी एक मात्र काम अर्थात् विषयासक्ति को ही पुरुषार्थ मानते हैं।[४] वार्हस्पत्य सूत्र में एक स्थान पर कहा गया है कि एक मात्र काम क्रीड़ा ही प्राणियों की उत्पत्ति का कारण है।[५] मदोन्मत तथा कामिनी सुन्दरियों का संगम करने में संकोच नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसमें सद्यः तथा प्रत्यक्ष आनन्दानुभूति होती है[६] और सुन्दरी तथा मदमाती कामिनियों का दर्शन करना चाहिए क्योंकि इससे प्रत्यक्ष मानसिक प्रसन्नता प्राप्त होती है।[७]

आचार्य वात्स्यायन ने विषय-सुख का चयन उचित बताया है। उनके अनुसार कामाचार भी दैनिक आहार के समान ही सेवनीय है। जिस प्रकार दैनिक आहार का अजीर्णादि दोषों के उत्पादक होने पर शरीर की रक्षा के लिए उपयोगी मानकर सेवन किया जाता है उसी प्रकार कामाचार का भी सेवन करना विधेय

१. सम० क० ३, पृ० २०२-३।
२. वही ३, पृ० २०२-३।
३. वही ३, पृ० २०२-२०४।
४. वार्हस्पत्य सूत्र ५ (काम एवैकः पुरुषार्थः)।
५. वही १६ (काम एव प्राणिनां कारणाम्)।
६. वही १५ (मत्त कामिन्यः सेव्याः)।
७. वही १६ (दिव्य प्रमदादर्शनञ्च)।

है। कामाचरण के सर्वथा परित्याग से उन्मादि आदि दोषों की उत्पत्ति की संभावना रहती है, जिससे शरीर की स्थिति भी उपद्रवित हो सकती है।[1]

सर्वसिद्धान्तसंग्रह में चार्वाक दर्शन के विवरण के अनुसार षोडसी कोमलांगी रमणी का संगम, सुन्दर वस्त्र तथा सुगंधित माला का धारण और श्वेत चंदन के अनुलेपन में ही स्वर्ग सुख की अनुभूति होती है शत्रुओं के शस्त्रघात जनित पीड़ा आदि उपद्रवों में ही नरक अर्थात् दुख की अनुभूति होती है और प्राणवायु का निकल जाना अर्थात् मृत्यु ही मोक्ष है।[2] प्रबोध चन्द्रोदय में बताया गया है कि 'विषय संगम जनित अनुपम सुख दुख मिश्रित होने के कारण त्याज्य है' यह मूर्खों का विचार है। भला ऐसा कौन आत्महितैषी व्यक्ति होगा जो रूक्ष भूसी से छिपे श्वेत-स्वच्छ और उत्तम तण्डुल कणों से युक्त धान्य अन्न को त्यागना भी चाहेगा।[3]

मनुष्यत्व

आस्तिक वाद जहाँ धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति को ही मनुष्यत्व का आधार मानता है तथा उसे सुकृत कर्म का परिणाम बताता है, वहीं नास्तिकवाद मनुष्यत्व को भूतों अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश की ही परिणति बताता है।[4] वार्हस्पत्यसूत्र में बताया गया है कि अर्थ अर्थात् धनोपार्जन तथा कामाचरण—ये दो ही पुरुषार्थ मान्य हैं अर्थात् यहाँ धर्म और मोक्ष की मान्यता नहीं दी गई है।[5] इस प्रकार चार्वाक विचारधारा में मनुष्यत्व की प्राप्ति सुकृत अथवा दुष्कृत कर्म का परिणाम न होकर पंच भूतों का ही परिणाम है जिसकी सार्थकता धनोपार्जन तथा कामाचरण में ही है।

धर्मकृत्य और विश्वास

दान

समराइच्च कहा में व्यक्ति का महानतम लक्ष्य परमार्थ की सिद्धि बताया गया है। इस परमार्थ की सिद्धि के लिए दान, शील और तप ये तीन प्रमुख

१. वात्स्यायन-कामसूत्र—जय मंगला टीका १।२।४६।
२. शंकराचार्य—सर्वसिद्धान्त संग्रह ९,१०।
३. चन्द्रोदय २।५०।
४. सम० क० ३, पृ० २०२।
५. वार्हस्पत्य सूत्र २७ (अर्थकामौ पुरुषार्थौ)।

साधन माने गये हैं ।[१] इसी ग्रंथ में आगे यहाँ तक उल्लेख है कि दान और परोपकार रहित सम्पत्ति का उपभोग करना लोक विरुद्ध है ।[२] अतः स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज में दान देने की प्रवृत्ति अधिक थी । व्यापारिक वर्ग के लोग तो निज भुजोपार्जित धन से महादान देते थे ।[३] काणे के अनुसार दान उसे कहते हैं जिसके द्वारा किसी दूसरे को अपनी वस्तु का स्वामी बना दिया जाता है ।[४] देवल ने शास्त्रोक्त दान की परिभाषा इस प्रकार दी है—शास्त्र द्वारा उचित ठहराये गये व्यक्ति को शास्त्रानुमोदित विधि से प्रदत्त धन को दान कहा जाता है ।[५]

दान की महत्ता के प्रमाण वैदिक काल से प्राप्त होते हैं । वैदिक काल में विविध प्रकार के दानों का उल्लेख है, यथा—गौ दान, अश्व दान, रत्नदान, ऊँट दान, नारी दान, (दासी के रूप में) तथा भोजन दान आदि ।[६] ऋग्वेद में आया है कि—जो गायों का दान करता है वह स्वर्ग में उच्च स्थान पाता है; जो अश्व दान करता है वह सूर्य लोक में निवास करता है, जो स्वर्ण दान करता है वह देवता होता है, जो परिधान का दान करता है वह दीर्घ जीवन प्राप्त करता है ।[७] तैत्तिरीय ब्राह्मण में सोने, परिधान, गाय, अश्व, मनुष्य, पर्यंक एवं अन्य कई प्रकार की वस्तुओं को दान देने का उल्लेख है ।[८] तैत्तिरीय संहिता में उल्लेख है कि व्यक्ति जब अपना सर्वस्व दान कर देता है तो वह भी एक प्रकार का तप ही है ।[९] बृहदारण्यक उपनिषद् में दम, दया और दान नामक तीन विशिष्ट गुणों को गिनाया गया है ।[१०] छान्दोग्य उपनिषद् में बताया गया है कि जानश्रुति ने साम्वर्ग विद्या के अध्ययन हेतु रैक्व को एक सहस्र गाय, एक सोने की सिकड़ी, एक रथ जिसमें खच्चर जुते थे, अपनी कन्या (पत्नी के रूप) एवं

---

१. सम० क० ५, पृ० ४४० ।
२. वही ८, पृ० ७४७ ।
३. वही ६, पृ० ४९७ ।
४. पी० वी० काणे—धर्म शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ४४८ ।
५. देवल—अपरार्क, पृ० २८७, दान क्रिया कौमुदी, पृ०, २, हेमाद्रि दान खण्ड, पृ० १३ आदि (काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ४४७ में उद्धृत) ।
६. पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ४४७ ।
७. ऋग्वेद १०।१०७।२७ ।
८. तैत्तिरीय ब्राह्मण २।२।५ ।
९. तैत्तिरीय संहिता ६।१।६।३ ।
१०. बृहदारण्यक उपनिषद् ५।२।३ ।

कुछ गाँव दान में दिये थे।[1] महाभारत के प्रायः सभी पर्वों में दान का उल्लेख है।[2] पुराणों में भी दान के महत्त्व आदि का उल्लेख प्राप्त होता है।[3]

पतंजलि ने भी परलोक के साधनों में यज्ञ यागादि का उल्लेख किया है और कहा है कि दान और तीर्थ स्वर्ग प्राप्ति में सहायक समझे जाते थे। महाभाष्य में गोदान का उल्लेख कई बार आया है।[4] पुत्र जन्म के अवसर पर दस सहस्र तक गायें दान किये जाने का उल्लेख है।[5] भोजन दान बड़ा ही पुण्य कृत्य माना जाता था। दूसरों को भोजन करने से स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है।[6] बृहस्पति स्मृति में भूमि दान का उल्लेख है जिसमें बताया गया है कि इस दान से या तो स्वर्ग अथवा राजपद प्राप्त होता है।[7] अत्रि संहिता के अनुसार देवता भी भूमि दान देने वालों की प्रशंसा करते हैं।[8]

इस साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि दान का महत्त्व वैदिक काल से चला आ रहा है। प्राचीन काल में दान को इस लोक तथा परलोक में सुख एवं समृद्धि का हेतु समझ कर अत्यधिक महत्त्व दिया गया था। उत्सव-महोत्सव आदि के अवसर पर दान का विधान था जिसका उल्लेख आगे किया गया है।

दाता तथा ग्राहक

समराइच्च कहा में दान देने वाले तथा दान लेने वाले के गुण-अवगुण का भी उल्लेख है। शुद्ध दान देने वाला मनुष्य उसी प्रकार अमर तथा शिव सुख सम्पत्ति का जनक माना जाता था जैसे उत्तम क्षेत्र में बोया हुआ बीज अधिक फलदायक होता है।[9] इसी प्रकार विशुद्ध ग्राहक उसे ही स्वीकार किया जा सकता है जो नियमतः पाँच महाव्रतों को धारण करने वाला, गुरु सेवा में रत

---

१. छन्दोग्य उपनिषद् ४।२।४-५।
२. देखिए—महाभारत-सभा पर्व, वन पर्व, विराट पर्व आदि।
३. अग्नि पुराण, अध्याय २०८, २१५ तथा २१७; मत्स्य पुराण-अध्याय ८२, ९१ तथा २७४-२८९; वराह पुराण-अध्याय ९९-१११।
४. महाभाष्य—२, ३, ६९, पृ० ४५५; ३, ३, १२ पृ० २९१।
५. वही—१, ४, ३, पृ० १३१—यस्मिन् दस सहस्राणि पुत्रे जाते गवां ददौ।
६. वही ३, ३, ७, पृ० २८७।
७. बृहस्पति स्मृति १३।१५—"स नरः सर्वदा भूप यो ददाति वसुंधराम्। भूमि दानस्य पुण्येन फलं स्वर्गः पुरंदर।"
८. अत्रि स्मृति—दानफलवर्णन, श्लोक ३३५—'आदित्यो वरुणो विष्णु-ब्रह्मा सोमो हुताशनः। शूल पाणिस्तु भगवानभिनन्दन्ति भूमिदम्।
९ सम० क० ३, पृ० १९१।

तथा ध्यान में चित्त लगाने वाला हो।[१] समराइच्च कहा के इस उल्लेख में जैन प्रभाव दिखाई पड़ता है। महाव्रतों के उल्लेख से सूचित होता है कि अन्य धर्मों के अनुयायी श्रेष्ठ यात्रा के रूप में नहीं स्वीकार किये गये। दान के सुपात्र तथा कुपात्र ग्राहकों का विवेचन करते हुए समराइच्च कहा में बताया गया है कि कुपात्र को दिया गया शुभ दान उसी प्रकार अशुभदायक हो जाता है जैसे सर्प को पिलाया हुआ दूध विष के रूप में परिणत हो जाता है तथा सुपात्र को दिया गया अल्प दान भी उसी प्रकार फलवान होता है जैसे गाय को दिया हुआ तृण दूध में बदल जाता है।[२]

दान के दाता और ग्राहक के गुण-अवगुण तथा सुपात्रता एवं कुपात्रता का उल्लेख अन्यत्र भी मिलता है। जैन ग्रंथ तत्वार्थ सूत्र में भी दान की विधि, देय वस्तु, दाता और ग्राहक की विशेषता पर बल दिया गया है। दान लेने वाले पात्र के प्रति श्रद्धा का होना और तिरस्कार या असूया का न होना तथा दान देते समय या बाद में विवाद न करना इत्यादि बातें दाता के गुणों के अन्तर्गत आती हैं।[3] दान लेने वाले का सत्पुरुषार्थ जागरुक रहना पात्र की विशेषता है।[४] जैन ग्रन्थों के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों में भी दाता और ग्राहक के गुण-अवगुण का उल्लेख प्राप्त होता है। देवल के अनुसार दाता को पाप रोग से हीन धार्मिक दित्सु (श्रद्धालु) दुर्गुणहीन, शुचि तथा निन्दित व्यवसाय से रहित होना चाहिए।[५] दक्ष ने लिखा है कि माता-पिता, गुरु, मित्र, चरित्रवान व्यक्ति, उपकारी, दरिद्र, असहाय तथा विशिष्ट गुण वाले व्यक्ति को दान देने से पुण्य प्राप्त होता है;, किन्तु धूर्तों, वन्दियों (वन्दना करने वाले), मल्लों (कुश्ती लड़ने वाले), कुवैद्यों, जुआरियों, बंचकों, चाटों, चारणों और चोरों को दिया गया दान निष्फल होता है।[६] मनु-स्मृति[७] तथा विष्णु धर्मसूत्र[८] में कपटी तथा वेद न जानने वाले ब्राह्मणों को दान का पात्र नहीं बताया गया है। दक्ष ने तो एक अन्य स्थान पर बताया है कि अयोग्य व्यक्ति को दान देने से उस दान का पुण्य नष्ट हो जाता है।[९]

---

१. सम० क० ३, पृ० १९०, १९२।
२. वही ३, पृ० १९३।
३. तत्वार्थ सूत्र—विवेचन सहित, पृ० २७८।
४. वही पृ० २७८।
५. पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास भाग १, पृ० ४५०।
६. दक्षस्मृति ३।१७-१८।
७. मनु० ४।१९३-२००।
८. विष्णु धर्मसूत्र ९३।७-१३।
९. दक्ष० ३।२९—विधि हीने तथाऽपात्रे यो-ददाति प्रतिग्रहम्। न केवल हि तद्दानं-शेषमप्यस्य नश्यति।

ब्राह्मण धर्म की परम्परा में दान के ग्राहक बहुधा विद्वान् ब्राह्मण ही हुआ करते थे।[1] कलचुरी के दान पत्र में वेदशास्त्र जानने वाले ब्राह्मणों को ही दान का योग्य पात्र (ग्राहक) बताया गया है।[2] प्राचीन काल में दान देते समय इस बात का ध्यान रखा जाता था कि दान में दी गई वस्तु का दुरुपयोग न होकर उसका सदुपयोग हो। सुपात्र ही दान में प्राप्त वस्तु आदि का सदुपयोग कर सकते थे इसलिए विद्वान् ब्राह्मण तथा श्रमण आदि को दान दिया जाता था। ब्राह्मण तथा जैन ग्रन्थों के उल्लेख इस बात को स्पष्ट कर देते हैं कि प्राचीन काल में अधिकतर योग्य (विद्वान् आदि) तथा चरित्रवान व्यक्ति ही दान का सुपात्र ग्राहक था।

समय

समराइच्चकहा में दान देने के विभिन्न अवसरों का उल्लेख प्राप्त होता है। पुत्र के जन्मोत्सव पर[3] विवाहादि[4] संस्कार के समय तथा प्रव्रज्या ग्रहण करते समय[5] राजा-महाराजा तथा धनी-सम्पन्न वर्ग के लोग दान देते थे। इसके अतिरिक्त महाकार्तिकी महोत्सव[6] के अवसर पर तथा तपस्वी जनों के देहोपचार (आवश्यकतानुसार भोजन वस्त्र आदि से सेवा करना) के समय अत्यन्त विशुद्ध समयानुसार दिया हुआ दान उसी प्रकार महाफल दायक माना जाता था जिस प्रकार समय पर किया गया कृषिकर्म अधिक फलदायक होता है।[7] जैन तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में दान के उचित अवसरों की महत्ता का प्रतिपादन है। पूर्व मध्य कालीन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि जात-कर्म (पुत्र जन्मोत्सव), नाम कर्म, तथा श्राद्ध (मृतक-संस्कार) आदि संस्कारों के समय तथा धार्मिक उत्सव एवं त्योहारों के अवसर पर दान वितरित किया जाता था।[8] याज्ञवल्क्य स्मृति में

---

१. वासुदेव उपाध्याय-दी सोसियो-रिलिजस कन्डीशन आफ नार्थ इंडिया, पृ० ३०३।

२. इपि० इंडि० ११, पृ० १९२-८।

३. सम० क० ४, पृ० २८७; ६, पृ० ४९७; ७, पृ० ६४४।

४. वही ९, पृ० ८९७।

५. वही १, पृ० ६८; ३, पृ० २२१-२२; ४, पृ० ३४६, ३५३; ५, पृ० ४७५, ४७८; ६, पृ० ५६४; ८, पृ० ८३७, ८४५; ९, पृ० ८९७ तथा ९७८।

६. वही ४, पृ० २३९ (प्रति वर्ष कार्तिक मास की पूर्णिमा के दिन महोत्सव मनाया जाता था तथा उक्त अवसर पर खुशी में लोग दान देते थे)।

७. वही ५, पृ० १९३।

८. वासुदेव उपाध्याय—दी सोसिओ-रिलिजस कण्डीशन आफ नार्थ इण्डिया, पृ० ३११।

उल्लेख है कि प्रतिदिन के दान-कर्म से विशिष्ट अवसरों के दान कर्म अधिक सफल एवं पुण्य कारक माने जाते हैं।[1] विष्णु धर्म सूत्र में पूर्णिमा के दिन विभिन्न प्रकार के पदार्थों के दान करने से उत्पन्न फलों की चर्चा है।[2]

पूर्व मध्य काल में पुत्र-जन्मोत्सव के समय दान देने का उल्लेख प्राप्त होता है।[3] गाहड़वाल वंशीय राजा जयचन्द ने अपने पुत्र के नामकरण के समय दो गाँवों का दान किया था।[4] इसी वंश के गोविन्दचन्द नामक शासक ने श्राद्ध के समय दान की स्वीकृति दी थी जो अश्विनी कृष्ण पक्ष के पन्द्रहवें दिन पड़ता था।[5] कलचुरी दान-पत्र में भी राजा[6] और रानी[7] के श्राद्ध के अवसर पर दान देने का उल्लेख है। प्राचीन धार्मिक विश्वासों के आधार पर सूर्य ग्रहण[8] तथा चन्द्र ग्रहण[9] के अवसर पर दान दिया जाता था।[10] इसके अतिरिक्त अक्षय तृतीया (वैशाख शुक्ल पक्ष तृतीया), माघ की पूर्णिमा, श्रावण पूर्णिमा[11] तथा कार्तिक पूर्णिमा[12] के अवसर पर भी दान दिये जाते थे।

दान के भेद

समराइच्च कहा के कथा प्रसंग में दान के तीन भेद गिनाये गये हैं। ये हैं—ज्ञान दान, अभय दान और धर्मोपग्रह दान[13]। जैन परम्परा में दस प्रकार के दान गिनाये गये हैं यथा—अनुकम्पा दान, संग्रह दान, भयदान, कारुण्य दान,

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति १।२०३।
२. विष्णु-धर्मसूत्र—अध्याय ८९।
३. जर्नल आफ दी एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल ७, पृ० ४०; इपि० इंडि० ४, पृ० १२८।
४. इंडि० एंटी० १८, पृ० १३० राजपुत्र श्री हरिश्चन्द्र नामकरणे।
५. वही १९, पृ० ३५१; इपि० इंडि० ४, पृ० ९८ तथा १०५।
६. इपि० इंडि० २, पृ० ३१०—'गांगेय देवस्य संवत्सरे श्राद्धे'।
७. इंडि० ऐंटी० १६, पृ० २०५—'आत्मीय मातुः राज्ञि श्री संवत्सरीके'।
८. इपि० इंडि० ३, पृ० ३५५; १३, पृ० २०; २१, पृ० २१२; देखिए—इंडि० ऐंटी १८, पृ० १५।
९. इंडि० ऐंटी० १६, पृ० २०१-६।
१०. वही १५, पृ० ६; इपि० इंडि० ४, पृ० १०७; ८, पृ० १५२।
११. इपि० इंडि० ४, पृ० ११०।
१२. वही २६, पृ० ७२; १०, पृ० ७५।
१३. सम० क० ३, पृ० १८८।

लज्जा दान, गौरव दान, अधर्म दान, धर्म दान, करिष्यति दान और कृत दान[१]। जिनका तुलनात्मक विश्लेषण इस प्रकार है—

ज्ञान दान

समराइच्च कहा में ज्ञान दान को अन्य दानों से श्रेष्ठ बताया गया है, क्योंकि ज्ञान ही शिव-सुख सम्पत्ति का बीज होने के साथ-साथ परम निर्वाण की प्राप्ति का प्रमुख साधन माना जाता था।[२]

स्मृतिकार वशिष्ठ ने गोदान, भूमिदान तथा विद्या दान (ज्ञान दान) में ज्ञान दान को श्रेष्ठ बताया है।[3] महाभारत[४] में इन तीनों प्रकार के दानों में भूमि दान को श्रेष्ठतर बताया गया है, जबकि अत्रि ने वशिष्ठ के समर्थन में ज्ञान दान की ही महत्ता स्वीकार की है।[५] मानव-जीवन की सारी क्रियायें मस्तिष्क से उत्पन्न बुद्धि के अनुसार संचालित होती हैं। ज्ञान के आधार पर किया गया कर्म श्रेष्ठ होता है जो कि जीव को शाश्वत सुख की ओर ले जाता है। चूंकि परमानन्द की प्राप्ति ही जीव का चरम लक्ष्य है इसलिए ज्ञान दान को सभी दानों से श्रेष्ठ कहा जा सकता है।

धर्मोपग्रह दान

समराइच्च कहा में नवकोटि[६] से परिशुद्ध तथा आचार के अनुकूल धार्मिक जनों को दिया गया द्रव्य तथा बुद्धिमानों को दिया गया अशन-पान, वस्त्र, पात्र, योग्य औषधि और उत्तम आसन आदि धर्मोपग्रह दान बताया गया है।[७] धर्मोपग्रह दान के भी दो भेद गिनाये गये हैं—प्रथम साधारण द्रव्यादि दान तथा दूसरा महादान। देवी-देवताओं के पूजन के अवसर पर दिया गया द्रव्य

१. जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, तृतीय भाग, पृ० ४५०।
२. सम० क० ३, पृ० १८८।
३ वशिष्ठ स्मृति १९।२०—त्रिण्याहुरतिदानानि गावः पृथ्वी सरस्वतीम्। अतिदानं हिरण्यानां विद्यादानं ततो अधिकम्।''
४. महाभारत-अनुशासन पर्व ६२।११—'अतिदानानि सर्वाणि पृथ्वीदानं उच्यते।
५. अत्रि०, दानफल वर्णन, श्लोक ३३८—'सर्वेषामेव दानानां विद्यादानं ततो-अधिकम्।'
६. मन, वचन और काया (शरीर) से हिंसा न करना, न कराना तथा न तो करने वाले का समर्थन करना ही नव-कोटि से परिशुद्ध कहा गया है।
७. सम० क० ३, पृ० १९०।

दान साधारण दान की श्रेणी में रखा गया है।[१] विवाह के अवसर पर दिया गया दान[२] किसी गुणी तथा कलाकार की कला पर प्रसन्न होकर दिया हुआ दान[३], साधारण दान कहा जा सकता है। दूसरा धर्मोपग्रह दान महादान बताया गया है जिसका विवेचन आगे किया गया है। जैन परम्परा से ज्ञात होता है कि धर्म कार्यों में दिया गया दान धर्म दान कहलाता है।[४] जिनके लिए तृण, मणि मोती आदि एक समान हैं ऐसे सुपात्रों को जो दान दिया जाता है वह धर्मदान कहा जाता है और वह दान कभी व्यर्थ नहीं जाता, क्योंकि वह अनन्त सुख का कारण होता है।[५] धर्मोपग्रह दान धार्मिक तथा ज्ञानी जनों को दिया जाता है जिसका सदुपयोग महत्त्व के कार्यों में होता है। इसलिए इसे अन्य प्रकार के दानों से श्रेष्ठ किन्तु ज्ञान दान से निम्न बताया जा सकता है।

अभयदान

समराइच्च कहा में तीसरे प्रकार का दान अभय दान बताया गया है। जीवों पर दया करके उन्हें अभय दान देना धन-दौलत, वस्त्र तथा द्रव्यादि दान से श्रेष्ठतर बताया गया है।[६] अभय दान का विश्लेषण करते हुए समराइच्च कहा में जीव हिंसा का विरोध दर्शाया गया है जिससे यहाँ जैन प्रभाव स्पष्ट होता है। वर्णन में उल्लिखित है कि जिससे जल, तेज, वायु तथा वनस्पति जीवों की और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रियों की सम्यक् मन, वचन और काया के योग से हिंसा नहीं होती वही अभय दान है।[७] जैन परम्परा से पता चलता है कि शोकग्रस्त जीवों को दया दान देना कारुण्य दान है।[८] प्राणियों पर करुणा करके तथा उन्हें कष्ट न देकर निर्भय कर देना ही अभय दान कहा जा सकता है।

महादान

समराइच्च कहा में साधारण दान के अतिरिक्त महादान का भी उल्लेख है।

---

१. सम० क० ३, पृ० १७३।
२. वही ६, पृ० ५७८; ९, पृ० ८९६।
३. वही ८, पृ० ७४६-४७।
४. जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, तृतीय भाग, पृ० ४५२।
५. वही पृ० ४५२ :
६. सम० क० ३, पृ० १८८-९; ४, पृ० ३२४; ५, पृ० ४४१; ९, पृ० ९५६।
७. सम० क० ३, पृ० १८९।
८. जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, तृतीय भाग, पृ ४५१।

यह महादान क्रिया कार्तिक पूर्णिमा के दिन महाकार्तिकी महोत्सव पर[1], विवाह के अवसर पर[2], पुत्र के भावी कुशल क्षेम के लिए उसके जन्मोत्सव पर[3], देवपूजन के अवसर पर[4], प्रव्रज्या ग्रहण करते समय[5], स्वयं उपार्जित धन से अन्य शुभ अवसरों पर[6] सम्पन्न की जाती थी। समराइच्च कहा में महादान की विधि आदि का उल्लेख नहीं है। किन्तु ब्राह्मण ग्रंथों में महादान के भेद, विधि आदि पर प्रकाश डाला गया है।

अग्नि पुराण में दस महादानों का उल्लेख है, यथा—सोना, अश्व, तिल, हाथी, दासियाँ, रथ, भूमि, घर, दुलहिन (पत्नी रूप में स्त्री) एवं कपिला गाय।[7] धर्मशास्त्रकार के अनुसार पुराणों में महादानों की संख्या सोलह दी गयी है—तुला पुरुष (पुरुष के बराबर सोना या चाँदी तौल कर ब्राह्मणों को बाँट देना), हिरण्यगर्भ, ब्रह्माण्ड, कल्पवृक्ष, गोसहस्र, कामधेनु, हिरण्याश्व, हिरण्याश्वरथ (या केवल रथ), हेम हस्ति रथ, पंचलांगल, धरा दान (या हैमधरा दान), विश्वचक्र, कल्पलता (या कहाकल्प), सप्त सागर, रत्नधेनु और महाभूतघट।[8] महाभारत में महादानानि[9] शब्द का उल्लेख आया है। कलिंगराज खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख में कल्पवृक्ष दान का नाम आया है।[10] अन्य अभिलेखों में भी तुलापुरुष[11] नामक महादान का उल्लेख कई बार आया है। प्राचीन काल में राजा-महाराजा तथा धनिक लोग महादान में ग्रहीता को उसके वजन के बराबर स्वर्णदान करते थे। इस प्रकार का महादान तुलापुरुष दान[12],

---

१. सम० क० ४, पृ० २३९।
२. वही ९, पृ० ८९७।
३. वही ४, पृ० २८७; ६, पृ० ४९७; ७, पृ० ६४४।
४. वही ८, पृ० ८१५।
५. वही १, पृ० ६८; ३, पृ० २२१-२२; ४, पृ० ३४६, ३५३; ५, पृ० ४७५, ४८७; ६, पृ० ५६४; ८, पृ० ८३७, ८४५; ९, पृ० ८९७, ९७८।
६. वही ८, पृ० ७६५।
७. अग्नि पुराण २०९।२३-२४।
८. पी० वी० काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ४६०।
९. महाभारत—आश्रमवासि पर्व ३।३१, १३।१५।
१०. इपि० इंडि० २०, पृ० ७९।
११. वही ७, पृ० २६; १०, पृ० ११२; ९, पृ० २४; ११, पृ० २०; १४, पृ० १९७।
१२. इंडि० एँटी० १८, पृ० १५।

हेमाश्वतुल्यदान,[1] तथा कनकतुलापुरुष दान[2] कहा जाता था।

समराइच्च कहा में उल्लिखित महादान का समर्थन ब्राह्मण ग्रन्थों तथा अभिलेखों से होता है। महादान का शाब्दिक अर्थ सबसे बड़ा दान है। प्राचीन काल के लोग धार्मिक भावना से प्रेरित होकर शुभ अवसरों पर कभी-कभी प्रसन्नता में अपना सर्वस्व दान कर देते थे। उस समय अपनी सबसे मूल्यवान वस्तु यथा—सोना, चाँदी, अश्व, रथ, गो आदि का अधिक संख्या या मात्रा में दान करना महादान कहा जाता था। महादान के समय दाता प्रेय की चिन्ता न कर श्रेय को ही प्राथमिकता देता था।

कर्मपरिणाम

समराइच्च कहा से ज्ञात होता है कि उस काल में कर्मवाद के सिद्धान्तों में काफी विश्वास किया जाता था। तत्कालीन समाज में यह धारणा थी कि प्रमाद चेष्टित कर्म की परिणति बड़ी ही दारुण होती है।[3] अशुभ कर्म परिणाम से शीतल जल भी अग्नि का रूप ले लेता है, चन्द्रमा की धवलता अंधकार रूप में बदल जाती है, मित्र शत्रु के रूप में परिणत हो जाता है और अर्थ की बात अनर्थ के रूप में परिवर्तित हो जाती है।[4] अतः प्रमाद चेष्टित कर्म उभयलोक विरुद्ध माना जाता था।[5] जहाँ प्रमाद चेष्टित कर्म उभय लोक विरुद्ध था वहीं अप्रमाद चेष्टित कर्म के आचरण का परिणाम शुभ माना जाता था। सुख एवं आनन्द के हेतु शुभ कार्य में विष भी अमृत हो जाता है, अयश भी सुयश में परिणत हो जाता है एवं दुर्वचन भी सुवचन का रूप ले लेता है।[6] सुकृत के ही आधीन उपभोग एवं परिभोग रूपी सुख समझे जाते थे।[7] भगवती सूत्र में धार्मिक कृत्यों एवं विचारों से युक्त कर्म को सत् कर्म बताया गया है जिसका परिणाम शुभ दायक माना जाता था।[8] इसी ग्रंथ में एक अन्य स्थान पर उल्लेख है कि अपने किये गये पाप कृत्यों के ही परिणाम स्वरूप लोग दुख के

---

१. इपि० इंडि० ४, पृ० ११८; १३, पृ० २१८।
२. वही १४, पृ० २७८।
३. सम० क० ७, पृ० ७२१; ८, पृ० ८११, ८२५; ९, पृ० ९५५-५६।
४. वही ७, पृ० ६११।
५. वही ७, पृ० ७१९-२०, ७२२, ७२४; ९, पृ० ९३०।
६. वही ७, पृ० ६१२, ७२२।
७. वही ६, पृ० ५८७-८८; ९, पृ० ८६२-६३, ९४१।
८. भगवती सूत्र १२।२।४४३।

भागी बनते हैं और इन पाप पूर्ण कृत्यों के नष्ट हो जाने पर ही सुख की उपलब्धि कर सकते हैं।[१]

कर्मवाद की भावना अति प्राचीन काल से ही चली आ रही है। रामायण में भी कर्म फल का वर्णन प्राप्त होता है। जिस तरह का कर्म होगा, परिणाम भी उसी तरह का भोगना पड़ेगा। यहाँ बताया गया है कि कौसल्या को पुत्र वियोग सम्भवतः इसलिए हुआ होगा कि उन्होंने पूर्व जन्म में स्त्रियों का पुत्रों से विद्रोह कराया होगा।[२] महाभारत में भी बताया गया है कि जो दोनों लोकों (यह लोक तथा परलोक) को प्राप्त करने का आकांक्षी हो उसे धर्माचरण में मन लगाना चाहिए।[३] अष्टाध्यायी में भी पता चलता है कि सुकर्म से पुण्य फल मिलता है।[४] अच्छे-बुरे कर्म करने वालों के लिए विशेष शब्द थे यथा—पुण्यकृत, सुकर्मकृत, पापकृत आदि।[५] मार्कण्डेय पुराण में उल्लिखित है कि कर्म की शक्ति मानव की सबसे बड़ी शक्ति है। यही उसकी सबसे बड़ी विजय है तथा इसीलिए तो स्वर्ग के देवता भी पृथ्वी पर मनुष्य देह में जन्म लेना चाहते हैं।[६] आगे यह भी कहा गया है कि जिन मनुष्यों का चित्त, इंद्रिय और आत्मा अपने वश में है एवं जो कर्म करने में उद्यत है उसके लिए स्वर्ग में या पृथ्वी में कुछ भी ऐसा नहीं है जो ज्ञान और कर्म की उपलब्धि से बाहर हो, जिसे वे चाहें तो न जान सकें या न पा सकें अथवा न पहुँच सकें।[७] जो मानव कर्म करुणा से प्रेरित है, जिसमें अभिसंधान या कपट का भाव नहीं है उसमें कर्म का बन्धन नहीं होता। उसे करने वाले मनुष्य की आत्मा भी शुद्ध हो जाती है।[८] अभिलेखों से भी ज्ञात होता है कि सातवीं से बारहवीं शताब्दी में उत्तर भारत में पुण्य-अपुण्य कृत्यों का परिणाम स्वर्ग लोक एवं नरक लोक प्राप्ति माना जाता था।[९] इस प्रकार कर्मवाद का सिद्धान्त प्राचीन काल की अनुपम उपलब्धि है।

---

१. भगवती सूत्र १०।२।३९६।
२. रामायण २।५३।१९, नूनं जात्यंतरे तात स्त्रियः पुत्रैर्वियोजिताः। जनन्या मम सौमित्रे तदप्येतदुपस्थितम्।
३. सुखमय भट्टाचार्य—महाभारत कालीन समाज पृ० २७२।
४. अष्टाध्यायी ६।२।१५२।
५. वासुदेवशरण अग्रवाल—पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पृ० ३७९।
६. मार्कण्डेय पुराण ५७।६२-६३।
७. वही २०।३६-३७।
८. वही ९५।१५।
९. वासुदेव उपाध्याय—सोसिओ-रिलिजस कण्डीशन आफ नार्थ इंडिया, पृ० १८५।

परलोक (देवलोक तथा नरकलोक)

हरिभद्र के काल में कर्म की परिणति ही परलोक की आधारशिला समझी जाती थी। समराइच्च कहा में उल्लिखित है कि पुण्यकर्म से चक्री, देवता तथा सिद्धिगामी महान सुख भोगते हैं।[1] यहाँ सुकृत कर्म के फलस्वरूप मृत्योपरांत जिस देवलोक की प्राप्ति[2] में विश्वास किया जाता था उस देवलोक का वर्णन इस प्रकार से किया गया है—वहाँ किरण युक्त सुन्दर महल दर्शनीय हैं, गोशीर्ष, सरस रक्त चन्दन, नाना प्रकार के सुगन्धित द्रव्य तथा पुष्प वहाँ भरे पड़े हैं, काला अगरु तथा अन्य सुगन्धित धूप वहाँ सुगन्ध फैलाते रहते हैं, जगह-जगह पर उत्तम देव वृक्ष तथा पुष्प मालाएँ वहाँ दिखाई देती है, वहाँ के देव मनोहर, सुरूप, महान, ऋद्धि वाले, द्युतिमान, यशस्वी, बलवान, प्रतापी, सुखी, उत्तम वस्त्र एवं आभूषण वाले, दिव्य शरीर वाले, उत्तम वर्ण तथा गन्ध वाले तथा अपने तेज से दशों दिशाओं को प्रकाशित करने वाले होते हैं, संगीत-नाटक आदि से युक्त दिव्य भोगों को भोगते हुए आनन्द से रहते हैं, वहाँ का आकाश शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु से व्याप्त तथा कीचड़ एवं अन्धकार से रहित होता है, जल और वृक्ष सदा पुष्पित रहते हैं, वहाँ इंद्रियों के विषय मनोज्ञ होते हैं, शृंगार युक्त सुन्दर देवियों के साथ क्रीड़ा करते हुए वहाँ के देव गतागत समय को भी नहीं जानते।[3]

समराइच्च कहा में स्वर्गलोक के साथ नरक लोक में भी विश्वास प्रकट किया गया है। तत्कालीन समाज में जहाँ सत्कर्म की परिणति (मृत्यु के पश्चात्) देवलोक मानी जाती थी वहीं पाप कर्म की परिणति नरक लोक की प्राप्ति समझी जाती थी।[4] अतः शुद्ध भाव से तपस्या एवं उत्तम कार्य न करने पर नरक की प्राप्ति में विश्वास किया जाता था।[5] यहाँ हरिभद्र सूरि ने पाप कृत कर्म दोष से नरक लोक में विभिन्न प्रकार की यातनाओं का उल्लेख इस प्रकार किया है—वहाँ नारकी को कभी वज्रशिला पथों पर विदीर्ण किया जाता था तो कभी नित्य दीपित कुम्भीपाक तथा लौह के कड़ाहों में पकाया जाता था, पर्वत यन्त्रों से, आरा से तथा अन्य तेज शस्त्रों से चीरा जाता था, भयंकर त्रिशूल से भेदा जाता था, वज्रतुण्ड वाली पक्षियों से नोचा जाता था, तपे हुए बड़े-बड़े रथों में

१. सम० क० ३, पृ० २२१।
२. वही ६, पृ० ५३३, ५८३; ८, पृ० ८१४।
३. वही ९, पृ० ९६६ से ९६९ तक।
४. वही ३, पृ० २२१; ४, पृ० ३८६, ७, पृ० ७२२; ८, पृ० ८०५।
५. वही ८, पृ० ८५३ से ८५५।

आँखों को निकाल कर जोड़ा जाता था, नरकपालों द्वारा नारकी के हिंसात्मक कार्यों के प्रतिफल में शरीर के तिल के बराबर-बराबर टुकड़े काटकर पक्षियों को लुटा दिया जाता था, झूठ बोलने का फल जिह्वा छेदन था, पर द्रव्य हरण करने का फल असिचक्र से शरीर को काटकर गृद्धों को लुटाना था, परस्त्री गमन का फल नरकाग्नि में संतप्त सेमर के वृक्ष से आलिंगन कराकर यन्त्रों से अधिक कष्ट पहुँचाया जाता था, परिग्रह आदि दोषों के फलस्वरूप कौए, कुत्ते और गृद्धों से शरीर का मांस नोंचा जाता था, मांस भक्षण के परिणाम स्वरूप स्वशरीर का ही मांस काटकर उसे ही खिलाया जाता था और मद्यपान के फलस्वरूप शीसे को तपा कर पिलाया जाता था।[1] यहाँ इस वर्णन में स्पष्ट रूप से जैन प्रभाव दिखाई पड़ता है।

समराइच्च कहा में नारकी की यातनाओं के साथ-साथ नरकलोग के स्वरूप का भी उल्लेख है। नरकलोक अन्दर मे गोलाकार और बाहर से चौरस है, नीचे उस्तरे के समान है, नित्य अन्धकारयुक्त, चन्द्र और सूर्य की ज्योति से रहित होता है, चर्बी-रुधिर तथा पिव के कीचड़ से उसका तल लिप्त रहता है, वह नरक अशौच पदार्थों की सड़न, परम दुर्गन्ध वाला, कबूतर और अग्नि के वर्ण वाला, अत्यन्त ही दुःसह तथा रूक्ष स्पर्श वाला होता है, थिम-थिम शब्द वाले क्षार जल, चल-चल शब्द वाली ठण्डी रेत, धर-धर शब्द वाले चर्बी का कीचड़, फिड़-फिड़ शब्द वाले पिव, कीटों से व्याप्त रुधिर के झरने, जलती हुई चिनगारियाँ, कण-कण शब्द से युक्त असि के वृक्ष, फूंकार करने वाले भयंकर सर्प, रेत मिश्रित आँधी और कर-कर करते हुए यंत्र वहाँ अपना स्वच्छन्द प्रदर्शन करते रहते हैं, इसके अतिरिक्त नरक में तीक्ष्ण, गोखरु के काँटे से भरे हुए विषमार्ग होते हैं, असि, चक्र, भाला, बर्छी, त्रिशूल आदि वहाँ प्रचुर मात्रा में भरे रहते हैं, वह स्थान काँटों के बन माला, दुर्गन्धित तथा दूषित रस वाला, कठोर स्पर्श वाला और दुष्ट शब्दों से युक्त होता है।[2] यहाँ समराइच्च कहा में नरकलोक के स्वरूप के साथ ही नारकी के स्वरूप का भी वर्णन इस प्रकार किया गया है—नारकी वर्ण से 'अत्यन्त काले, बड़े-बड़े रोम वाले, भयंकर भय पैदा करने वाले होते है। वे सदा डरते रहते हैं, सदा उद्विग्न रहते हैं तथा सदा परम अशुद्ध सम्बद्ध नरक के भय का अनुभव करते रहते हैं नरक की वेदनाएँ विचित्र कर्म जनित और दारुण होती हैं, यथा—उत्तमांगों का छेद, शूलवेध, विषम जिह्वा रोग, असन्धि छेद, तपे हुए ताँबे आदि का पान, वज्रतुण्डों से भक्षण, अंगों का छेदन, गर्वीले हिंसक जीवों का भय, हड्डी निकालना, तपाई

१. सम० क० ८, पृ० ८५३ से ८५५ तक।
२. वही ९, पृ० ९६५–६६।

हुई लोहे की स्त्री से आलिंगन, चारों तरफ से शस्त्राघात, जलती हुई शिला पर गिराया जाना तथा इसके अतिरिक्त और भी अतुलनीय उष्ण और शीत की वेदना होती है।[1]

प्राचीन भारतीय परम्परा में वैदिक काल से ही परलोक में विश्वास किया जाता था। ऋग्वेद में एक स्थान पर ग्यारह देवों को स्वर्ग का देवता बताया गया है।[2] इसी प्रकार अथर्ववेद में भी स्वर्ग तथा पृथ्वी पर रहने वाले देवों की कल्पना की गयी है।[3] वैदिक काल के विचारों से परलोक की कल्पना का आभास होता है जिससे स्पष्ट होता है कि उस समय के लोगों में लोक-परलोक की भावना विद्यमान थी। सभी आस्तिक सम्प्रदायों में इस लोक के अतिरिक्त परलोक में भी विश्वास किया जाता था। जीव अपने पूर्व कृत कर्म के अनुसार सुख एवं दुःख को प्राप्त होता है।[4] इसी विचार को लेकर जैन, बौद्ध तथा वैदिक सम्प्रदाय में स्वर्ग-नरक की मान्यता स्वीकार की गयी है।

जैन मत में हिंसक, परिग्रही, लोभी, मुनि निंदक, मिथ्याभाषी, परस्त्री-लम्पट तथा चोर आदि नरक के पात्र माने गये हैं जिनके विभिन्न प्रकार के पापपूर्ण कृत्यों का फल समराइच्च कहा में गिनाया गया है जिसका वर्णन नरक गति के अन्तर्गत तत्त्वार्थ सूत्र में भी आया है कि नारकी और देवों का उपपात (देवता अथवा नारकी जिस नियत स्थान में उत्पन्न होते हैं उसे उपपात कहा गया है) जन्म से होता है।[5] नारकी जीवों के निवास स्थान को नरक भूमि कहा गया है। उस भूमि के सात विभाग माने गये हैं, यथा—रत्नप्रभा (रत्नों की अधिकता वाला भाग), शर्करा (कंकण, पत्थर वाला भाग), वालुका प्रभा, पंक-प्रभा, धूम्रप्रभा तथा तमप्रभा।[6] ये नरकवास निरन्तर अशुभतर लेश्या, अशुभतर परिणाम, अशुभतर देह एवं पीड़ा वाले हैं।[7] उन नरकवासों में नारकी जीव परस्पर दुःख पैदा करने वाले होते हैं।[8] इसी ग्रन्थ में देवों के चार निकाय

---

१. सम० क० ९, पृ० ९६६।
२. ऋग्वेद १।१३९।११, १०।१५८।१।
३. अथर्ववेद १०।९।१२।
४. ऋग्वेद १।१६४।१९; गरुण पुराण २।१४।१८; महाभारत—दान पर्व ७१।८१।
५. तत्त्वार्थ सूत्र २।३५।
६. वही २।१।
७. वही २।३।
८. वही २।४।

बताए गये हैं—कल्पोत्पन्नपर्यन्त चार निकायों के देवता अनुक्रम से दश, आठ, पाँच और बारह भेद वाले होते हैं।[१] आगे बताया गया है कि भवनपति से ईशानपर्यन्त तक के देव मनुष्य सदृश शारीरिक सुख भोगने वाले होते हैं।[२] शेष देवों में दो-दो कल्पवासी देव अनुक्रम से स्पर्श, रूप, रस और संकल्प द्वारा विषय सुख भोगते है।[३] व्याख्या प्रज्ञप्ति के छठें उद्देशक में नरकस्थ पृथ्वी कायिक जीव की सौधर्म आदि देवलोक में उत्पत्ति होने की चर्चा है तथा सातवें उद्देशक में स्वर्गस्थ पृथ्वी कायिक जीव की नरक में उत्पत्ति होने की बात कही गयी है।[४] इससे स्पष्ट होता है कि जैन विचारधारा में परलोक के अन्तर्गत स्वर्ग एवं नरकलोक की मान्यता थी जो क्रमशः पुण्य एवं अपुण्य कृत्यों की परिणति समझी जाती थी।

महाभारत में भी कर्म के आधार पर परलोक के अस्तित्व में विश्वास प्रकट किया गया है।[५] गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं कि पापाचारी तथा नराधमों को मैं बार-बार घोर नरक में गिराता हूँ। अतः हे अर्जुन ! काम, क्रोध तथा लोभ यह तीन प्रकार के नरक के द्वार आत्मा का नाश करने वाले हैं और इन तीनों विकारों से दूर हुआ जीव परम-गति को प्राप्त होता है।[६] पुराणों से भी परलोक की बात पुष्ट होती है। मार्कण्डेय पुराण में महारौरव की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि वह तांबे जैसी लाल-लाल जलती हुई भूमि का लोक है; निरन्तर धू-धू करती हुई अग्नि अपने ताप से उसे तपाया करती हैं।[७] स्वर्ग और नरक दोनों ही परलोक अन्तर्गत थे। पाणिनि ने भी महारौरव का उल्लेख किया है[८] जिसे नरकलोक माना गया है। पतंजलि ने भी ऐसे कार्यों को जो परलोक जप के साधन हैं, स्वर्ग्य कहा है।[९] इसीलिए ब्राह्मण अधिक जप करते थे[१०] और अग्नि के समक्ष

१. तत्त्वार्थ सूत्र ४।३।
२. वही ४।८।
३. वही ४।९।
४. जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १, पृ० २०८।
५. सुखमय भट्टाचार्य—महाभारत कालीन समाज, पृ० २७२।
६. गीता १६।२०–२१–२२।
७. मार्कण्डेय पुराण १२।४–५।
८. अष्टाध्यायी ६।२।३८।
९. महाभाष्य ५।१।१११, पृ० ३४५।
१०. वही ३।१।३२, पृ० ६४।

तप करते थे।[1] अभिलेखों से ज्ञात होता है कि सातवीं से बारहवीं शताब्दी में भी उत्तर-भारत में स्वर्ग और नरकलोक के विचार विद्यमान थे।[2] उस समय स्वर्गलोक का महत्त्व इस लोक की अपेक्षा अधिक था, इसीलिए स्वर्ग प्राप्ति के लिए राजाओं द्वारा भूमि-दान दिया जाता था।[3] धार्मिक कृत्य ही स्वर्ग प्राप्ति का कारण समझा जाता था।[4] किन्तु अनैतिक कृत्यों का फल नरकलोक की प्राप्ति समझा जाता था।[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि उस काल में परलोक की भावना विद्यमान थी। परलोक दो तरह का माना जाता था—स्वर्ग एवं नरकलोक। पुण्य एवं सत्कर्मों का फल देवलोक तथा अपुण्य एवं दुष्कृत्यों का परिणाम नरकलोक था जहां जीव को नाना प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते थे। समराइच्च कहा में नरक और नारकीय लोगों का वर्णन यह स्पष्ट करता है कि उस समय समाज में व्याप्त हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि दुष्कर्मों की तरफ से घृणा पैदा करके लोगों को अहिंसा, सत्य, अचौर्य एवं सदाचार की ओर आकर्षित करना था।

शकुन

समराइच्च कहा के उल्लेखानुसार तत्कालीन समाज के लोग शुभ एवं अशुभ सूचक शकुन में भी विश्वास करते थे। पुरुष की दाहिनी भुजा तथा दाहिनी आँख एवं स्त्री की बायीं आँख फड़कने पर शुभ शकुन की सम्भावना में विश्वास विश्वास किया जाता था।[6] इसके अतिरिक्त असमय में पुष्प का खिलना शास्त्रों के अनुसार अशुभ की सम्भावना में विश्वास किया जाता था।[7] जैन सूत्रों में अनेक शुभ एवं अशुभ शकुनों का उल्लेख मिलता है। अनेक वस्तुओं का दर्शन शुभ तथा अनेक का अशुभ माना जाता था। रोगी, विकलांग, आतुर, वैद्य, कषाय वस्त्रधारी, धूल से धूसरित, मलिन शरीर वाले, जीर्ण वस्त्रधारी, बायें

१. महाभाष्य २।१।१५, पृ० ५५।
२. वासुदेव उपाध्याय—दी सोसिओ-रिलिजस कन्डीशन आफ नार्थ इण्डिया; पृ० १८५।
३. इपि० इंडि० ३, पृ० २६६।
४. वही ११, पृ० ८।
५. वही ४, पृ० १३३; १२, पृ० २४।
६. सम० क० २, पृ० १२४; ४, पृ० ३४०; ८, पृ० ७६२; ५, पृ० ४०९— 'एत्थन्तरम्मि फुरियं मे दाहिण भुयाये। तओ मये चिंतियं। न अन्नहारि-सिवयणं ति होयव्व मणेईण। अणुकूलो सउण संघाओ।
७. बृहत्कल्प भाष्य १५४७-४८; ओघनिर्युक्ति भाष्य ८२–४।

हाथ से बायें हाथ की ओर जाने वाले स्नेहाभ्यक्त श्वान, कुब्जक और बौने, गर्भवती नारी, बड्ड कुमारी (जो बहुत समय तक कुमारी हो), काष्ठभार को वहन करने वाले आदि के दर्शन को अशुभ माना जाता था जिनके दर्शन से कार्य की सिद्धि में अविश्वास प्रकट किया जाता था। पक्षियों में जंबूक, चास, मयूर, भरद्वाज और बकुल शुभ माने जाते थे। यदि वे दक्षिण दिशा में दिखाई पड़े तो सर्व संपत्ति का लाभ समझना चाहिए।[१]

शकुन का उल्लेख स्मृतियों में भी किया गया है। दक्ष स्मृति में गुरुजनों का दर्शन, दर्पण या घृत में मुख दर्शन, केश संवारना, आँख में अंजन लगाना तथा दूर्वास्पर्श आदि मंगल सूचक बताया गया है।[२] गोभिल स्मृति में बताया गया है कि यदि वेदज्ञ ब्राह्मण, सौभाग्यवती स्त्री, गाय, वेदी (जहाँ आहुति के लिए अग्नि जलाई जाती हो) आदि दिखाई पड़े तो विपत्ति से छुटकारा मिल जाता है।[3]

पराशर ने भी वैदिक यज्ञ करने वाले, कृष्ण पिंगल वर्ण की गाय, राजा, संन्यासी तथा समुद्र को शुभ सूचक बता कर प्रतिदिन उनका दर्शन करने की बात कही है।[४] इसी प्रकार गोभिल स्मृति में बहुत-सी वस्तुओं का देखना अशुभ माना गया है, यथा—पापी, विधवा, अछूत, नंगा तथा नकटा आदि।[५] यद्यपि समराइच्च कहा मे पुरुष की दाहिनी आँख और दाहिनी भुजा तथा स्त्री की बायीं आँख फड़कना शुभ तथा अकाल कुसुमोद्गम अशुभ सूचक शकुन बताया गया है, फिर भी उपरोक्त साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि शुभ एवं अशुभ शकुन में लोगों का विश्वास था, चाहे वह किसी भी रूप में रहा हो।

तन्त्र-मन्त्र

हरिभद्र कालीन समाज के लोग तंत्र-मंत्र में भी विश्वास करते थे। समराइच्च कहा में मंत्र जाप से महाविद्या की सिद्धि में विश्वास प्रकट किया गया है।[६] मंत्र जाप से पिशाचिका का प्रकट होना इस बात को सिद्ध करता है कि उस समय के लोग भूत-प्रेत में विश्वास करते थे। समराइच्च कहा में पिशाचिका

१. व्यवहारभाष्य १।२।
२. दक्षस्मृति २।३०।
३. गोभिलस्मृति २।१६३-६५।
४. पराशर स्मृति १२।४७।
५. गोभिल स्मृति २।१६३–६५।
६. सम० क० ५, पृ० ४४३, ४४६, ४४९।

के स्वरूप का वर्णन करते हुए बताया गया है कि वह तलवार धारी, लालनेत्र वाली, मुण्डमाला पहने हुए भयंकर रूप वाली, बड़े पेट एवं ताड़ के समान जंघाओं वाली, नाभि में गयी हुई गर्दन वाली एवं भयंकर आकृति वाली होती थी।[1] इस बात का समर्थन पहाड़पुर अभिलेख से भी होता है जहाँ पिशाचिका के स्वरूप के वर्णन में बताया गया है कि वह बड़े और खुले हुए मुँह वाली एवं भयंकर आकृति वाली होती है।[2] समराइच्च कहा में मंत्र सिद्धि से अजितबला नामक देवी की सिद्धि में विश्वास प्रकट किया गया है जिसकी सिद्धि से सम्पूर्ण दुःख एवं आपदाओं का अन्त समझा जाता था।[3]

चक्रवर्ती ने प्राचीन भारत में अनैतिहासिक काल से ही तंत्रवाद के प्रचलन की संभावना व्यक्त की है।[4] शामशास्त्री के विचार में ईशा पूर्व छठी एवं सातवीं शताब्दी से भी पहले के सिक्कों पर अंकित चित्रलिपि तांत्रिक विचार-धारा के प्रतीक जान पड़ते हैं जिसके आधार पर उनका अनुमान है कि भारत में इसका प्रचलन ईशा से एक हजार वर्ष पूर्व था।[5] चक्रवर्ती के अनुसार अथर्ववेद के साथ-साथ इसके पूर्व ऋग्वेद एवं अन्य वैदिक ग्रन्थों से भी तंत्र-मंत्र के प्रचलन का पता चलता है।[6] वैदिक काल में लोग अपने मनोगतभावों की सिद्धि के लिए मंत्र शक्ति का सहारा लेते थे।[7] बागची के अनुसार वैदिक काल से ही लोग हवन की वेदी पर शुद्ध मंत्रोच्चार करते थे और तत्कालीन विश्वास के अनुसार उस मन्त्र की शक्ति से प्रभावित होकर देवता लोग वहाँ (हवन की वेदी पर) आते थे और उन लोगों की (मंत्रोच्चारण करने वालों की) मनो-

---

१. सम० क० ५, पृ० ४५०-५१।
२. वासुदेव उपाध्याय—दी सोसिओ-रिलिजस कण्डीशन आफ नार्थ इंडिया, पृ० १८८।
३. सम० क० ५, पृ० ४५२, ४५५, ५६, ५७।
४. चिंताहरण चक्रवर्ती—दी तंत्राज स्टडीज आन दियर रिलिजन एण्ड लिट-रेचर, पृ० १०।
५. शाम शास्त्री—जर्नल आफ दी एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, वाल्यूम ४, पृ० ६२८।
६. चिन्ताहरण चक्रवर्ती—दी तंत्राज स्टडीज आन दियर रिलिजन एण्ड लिटरेचर, पृ० १०।
७. बागची—इवोल्यूशन आफ तंत्राज—कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया, वाल्यूम ४, पृ० २११।

कामना को पूर्ण करते थे ।[1] आगे तन्त्र-मन्त्र के प्रचलन पर विचार प्रकट करते हुए बागची का मत है कि दार्शनिक विचारधारा के परिणाम स्वरूप तंत्र साहित्य एवं तंत्र साधना का प्रचलन शैव धर्म तथा पंचरात्र (सांख्य योग) के उदय से प्रारम्भ हुआ ।[2] धीरे-धीरे इस तन्त्र-मन्त्र का प्रचलन अन्य धर्मों में प्रारम्भ हो गया जिसका उल्लेख बौद्ध साहित्य, जैन साहित्य एवं धर्मशास्त्रों तथा पुराणों में किया गया है ।[3]

अति प्राचीन काल से ही जादू-टोना और अन्धविश्वास प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण अंग समझे जाते रहे हैं । कितने ही मंत्र मोहनी, विद्या, जादू टोटका आदि का उल्लेख जैन सूत्रों में आता है जिनके प्रयोग से रोगी चंगे हो जाते, भूत-प्रेत भाग जाते, शत्रु हथियार डाल देते, प्रेमी-प्रेमिका एक दूसरे के प्रति आकर्षित हो जाते थे ।[4] बृहत्कल्प भाष्य में नवकार मंत्र को व्याधि, जल, अग्नि, तस्कर, डाकिनी, वैताल, और राक्षस आदि उपद्रव को शान्त करने के परमशक्तिशाली कहा गया है ।[5] वसति में रहने वाले श्रमणों के लिए यदि जल, अग्नि और आंधी आदि का उपद्रव होता तो स्तम्भनी विद्या का प्रयोग करते थे ।[6] स्तम्भनी और मोहनी विद्याओं द्वारा चोरों का स्तम्भन और मोहन किया जाता था ।[7] अभोगिनी विद्या जपने पर दूसरों के मन की बात का पता चल जाता था तथा उससे चोरों का भी पता लगाया जाता था ।[8] नट्टुमत्त विद्याधर राजकुमारी को शंकरी विद्या प्रदान करते हुए कहता है—'यह विद्या पठित सिद्ध है तथा स्मरण मात्र से सखी और दासी सहित उपस्थित होकर तुम्हारी आज्ञा का पालन करेगी । यह शत्रु को पास आने से रोकेगी और प्रश्न करने पर मेरी प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में तुम्हें सूचित करेगी ।[9] यहाँ शंकरी विद्या के गुणों की समता समराइच्च कहा

---

१. बागची—इवोल्यूशन आफ तंत्राज—कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया, वाल्यूम ४, पृ० २१३ ।

२. वही पृ० २१४ ।

३. चक्रवर्ती—दी तंत्राज स्टडीज आन दियर रिलिजन एण्ड लिटरेचर, पृ० १४, १५, १६ ।

४. जगदीश चन्द्र जैन—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ३३९ ।

५. बृहत्कल्प भाष्य—४।५११२-१३, ५११६ ।

६. बृहत्कल्प भाष्य, ४।२७४४ ।

७. वही ३।४८०९ ।

८. वही ३।४:३३ ।

९. उत्तराध्ययन टीका १३, पृ० १८९ ।

में उल्लिखित अजितबला विद्या से की जा सकती है जिसकी सिद्धि से सम्पूर्ण आपदाओं के समाप्त होने में विश्वास किया जाता था। उत्तराध्ययन टीका में एक अन्य स्थान पर वैताली विद्या का भी उल्लेख है। कहा जाता है कि इस विद्या के प्रभाव से अचेतन काष्ठ भी खड़ा हो जाता और चेतन की भांति प्रवृत्ति करने लगता था। अशनिघोष विद्याधर अपनी कन्या सुतारा को इस विद्या के द्वारा हरण करके लाया था।[1] वेगवती विद्या भी अपहरण करने के काम में प्रयुक्त समझी जाती थी।[2] इन सभी विद्याओं की सिद्धि के लिए मन्त्र का जाप करना पड़ता था। वशीकरण मन्त्र को पाणिनि ने 'बन्धन ऋषि' अर्थात् मन को बांधने वाला वेद मंत्र कहा है।[3]

अभिलेखों से ज्ञात होता है कि ७०० ई० से १२०० ई० तक के काल में तन्त्र और मन्त्र का विशेष प्रचार था। समाज में लोग अनेक प्रकार के तान्त्रिक पूजन एवं जादुई शक्ति में विश्वास करते थे।[4]

गुरुमहत्व

समराइच्च कहा में गुरु की महत्ता में भी विश्वास प्रकट किया गया है। गुरु ही परलोकोपकार का कारण तथा शाश्वत सिद्धि का हेतु समझा जाता था।[5] गुरु की निन्दा अथवा उसकी आलोचना करना धर्म विरुद्ध समझा जाता था।[6] गुरु की वन्दना एवं पूजा धर्म लाभ का कारण समझा जाता था।[7] गुरु-देवता को साक्षी करके समाज मे विवाह आदि पुण्य सम्बन्ध स्थापित किये जाते थे।[8] गुरु की आज्ञा के अनुसार ही आचरण करने पर अलंघनीय को भी लांघ जाने मे विश्वास करता था।[9] गुरु ही ज्ञान का मुख्य कारण था जिस ज्ञान को प्राप्त कर लेने पर सभी अपने उद्देश्य को प्राप्त कर सकते थे।

१. उत्तराध्यययन टीका १८, पृ० २४२।
२. वही १८, पृ० २४७।
३. वासुदेवशरण अग्रवाल—पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पृ० ३७९।
४. वासुदेव उपाध्याय—दी सोसिओ-रिलिजस कन्डीशन आफ नार्थ इण्डिया, पृ० १८३।
५. सम० क० ७, पृ० ६१९-२०; ६, पृ० ५७६-७७।
६. वही ६, पृ० ५७५।
७. वही ३, पृ० २२१; ५, पृ० ४०५, ४७०; ६, पृ० ५६७; ७, पृ० ६३५; ८, पृ० ७५२, ८३६, ८४५; ९, पृ० ९१७, ९२८, ९७२।
८. वही ७, पृ० ६७६-७७, ९२।
९. वही ७, पृ० ६२६; ८, पृ० ८०२–३, ८१२; ९, पृ० ८९३-९४।

गुरु महत्व एवं उसके आदर सत्कार का उल्लेख धर्मसूत्रों में भी मिलता है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में वर्णित है कि गुरु का आदर ईश्वर की भांति करना चाहिए।[1] मनु ने भी गुरु के प्रति आदर भाव रखने की बात कही है।[2] रामायण में गुरु को प्रज्ञा चक्षु प्रदान करने वाला बता कर उसे माता-पिता से भी श्रेष्ठतर कहा गया है।[3] राम ने माता-पिता की ही भांति गुरु को भी अर्चना का पात्र बताया है।[4] जैन ग्रन्थ भगवतीसूत्र में भी गुरु (धर्मगुरु) तथा जिन की पूजा का उल्लेख है।[5] ये सभी साक्ष्य समराइच्च कहा में उल्लिखित गुरु के महत्त्व एवं उसकी पूजा का समर्थन करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट होता है गुरु का महत्व सभी धार्मिक परम्पराओं में समान रूप से मिलता है। गुरु ही ज्ञान-विज्ञान का कारण था जिसके सहारे व्यक्ति सदाचार का आचरण करते हुए लोक एवं पर लोक में सुख का भागी होता था।

आतिथ्य सत्कार

समराइच्च कहा के उल्लेखानुसार हरिभद्र के काल में अतिथ्य सत्कार का बहुत महत्त्व समझा जाता था। आगन्तुकों को आसन प्रदान कर कुशल क्षेम पूछा जाता था।[6] साधु-साध्वियों का स्वागत सत्कार उनकी वन्दना-पूजा आदि के साथ किया जाता था।[7] आतिथ्य सत्कार के साथ-साथ शरणागत की रक्षा को भी धार्मिक महत्त्व दिया जाता था।[8]

भगवती सूत्र में भी अतिथि सत्कार का उल्लेख कई स्थानों पर किया गया है।[9] किसी साधु-संन्यासी के आ जाने पर लोग उठकर अगवानी लेते तथा

१. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १।२।६।१३।
२. मनु० २।७२।
३. रामायण, २।१११।३।
४. वही २।३०।३३।
५. भगवती सूत्र, १।३।३०।
६. समo कo १, पृ० १२-१३; ५, पृ० ४०२-३, ४४३; ६, पृ० ५४९, ५५२।
७. वही ३, पृ० १८१, २००; ४, पृ० २८२; ५, पृ० ३६६, ४७३; ६, पृ० ५६४; ७, पृ० ६१०।
८. वही ५, पृ० ३८५।
९. भगवती सूत्र १२।१।४३८; १५।१।५४१; १५।१।५५७।

उन्हें प्रणाम करके आसन प्रदान करते थे।[1] अतिथि के सत्कार में लोग श्रद्धा के साथ आसन तथा भोजन-पान आदि प्रदान करते थे।[2]

आतिथ्य सत्कार का उल्लेख वैदिक काल से प्राप्त होता है। ऋग्वेद में आया है कि उसके रक्षक और मित्र बनो जो तुम्हें विधिवत् आतिथ्य देता है।[3] तैत्तिरीय उपनिषद् में समावर्तन के समय गुरु शिष्य से कहता है कि आतिथ्य-सत्कार करो।[4] महाभारत के उल्लेख से पता चलता है कि यदि शत्रु भी अतिथि हो जाय तो उसका भी आतिथ्य सत्कार करना चाहिए।[5] मार्कण्डेय पुराण के अनुसार समस्त देव, पूजनीय पितर, ऋषि और अतिथि आदि के प्रति जो अपने कर्तव्यों का पालन करता है उसी का जीवन इस लोक में यथार्थ है।[6]

महाभाष्य में अतिथि सेवा को आतिथ्य कहा गया है जिसके घर अतिथि जाता था वह आतिथ्य कहा जाता था।[7] अतिथि परिवार विशेष के भी होते थे और सम्पूर्ण ग्राम के भी। आगत विद्वत समाज या सन्त समूह सम्पूर्ण ग्राम का अतिथि माना जाता था। इसी कारण भाष्यकार ने 'आगतातिथि' का प्रयोग किया है।[8] अतिथि को पीने के लिए दिया जाने वाला जल 'अर्घ्य' कहा गया है[9] तथा मधुपर्क से उसका स्वागत किया जाता था।[10]

ऊपर के उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि आतिथ्य सत्कार का प्रचलन एवं एवं महत्त्व ऋग्वैदिक काल से ही चला आ रहा था और हरिभद्र के काल में भी इस प्रथा का विशेष महत्त्व समझा जाता था। इस प्रथा को सदाचार के अन्तर्गत माना जाता था जिसका आचरण कर व्यक्ति सुख, समृद्धि एवं मोक्ष तक का अनुगामी समझा जाता था।

१. भगवती सूत्र १२।१।४३८।
२. वही ३।१।१३४; १५।१।५४१।
३. ऋग्वेद ५।१।८।
४. तैत्तिरीय उपनिषद् १।११।२।
५. महाभारत—शांतिपर्व १४६।५।
६. मार्कण्डेय पुराण—९५।६।
७. महाभाष्य—५।४।२६।
८. वही २।२।२४, पृ० ३६६।
९. वही ५।४।२५।
१०. वही ५।१।६६।

आधार ग्रन्थ-सूची

अथर्ववेद—सं०, बर्लिन १९२४, तथा निर्णय सागर प्रेस बम्बई, १८९५-९।
अष्टाध्यायी—पाणिनिकृत, रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर. १९६४-६८।
अङ्गविज्जा—सं०, पुण्य विजय, प्राकृत टेक्स्ट, सोसायटी, वाराणसी, १९५७।
अमरकोश—अमरसिंह कृत—सं०, गुरु प्रसाद शास्त्री, बनारस १९५० तथा सानुवाद टीका, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।
अर्थशास्त्र—कौटिल्यकृत—एन इंगलिश ट्रांसलेशन विद क्रिटिकल एण्ड इक्सप्लानेटरी नोट्स—आर० पी० कांगले—यूनिवर्सिटी आफ बाम्बे १९६३।
अनुयोग द्वार सूत्र—रतलाम १९२८।
अनुयोग द्वार टीका—हरिभद्र कृत—रतलाम १९२८।
अनुयोग द्वार चूर्णी—रतलाम १९२८।
अभिधान रत्नमाला—हलायुधकृत—संपादक, जयशंकर प्रसाद जोशी, वाराणसी, शक सं० १८७९।
अन्त: कृद्दशा—सं०, पी० यल० वैद्य, पूना १९३२।
टीका—अभयदेवकृत—सं०, यम० सी० मोदी, अहमदाबाद, १९३२।
अंगुत्तर निकाय—लंदन १८८५, १९००।
अपराजित पृच्छा—भुवनदेवकृत—बड़ोदा १९५०।
अग्निपुराण—खण्ड १ तथा २, संपादक पं० श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृत संस्थान, बरेली १९६८।
अश्व शास्त्र—नकुलकृत—तंजौर सरस्वती महल सीरीज १९५२।
अभिज्ञानशाकुन्तल—कालिदासकृत—साहित्य भण्डार, मेरठ, १९६५।
अट्ठकथा—लंदन १९२४-१९४०।
अष्टादश स्मृति—वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई १९०८।
आचारांग सूत्र—आगमोदय समिति, सूरत, १९३५।
आचारांग चूर्णी—जिनदास गणि कृत, रतलाम, १९४१।
आश्वलायन गृह्य सूत्र—सं०, ए० एफ० स्टेंजलर, लिपजिग, १८६४।
आश्वलायन श्रौत सूत्र—सं०, आर० विद्यारत्न कलकत्ता, १८६४।
ओघनिर्युक्ति भाष्य, बम्बई, १९०९।
आपस्तम्ब—धर्मसूत्र—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९३९।

आपिशल शिक्षा सूत्र—सम्पादक—युधिष्ठिर, भारतीय प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अजमेर सं० २०२४।

आवश्यक चूर्णी—जिनदास गणि कृत, रतलाम, १९२८।

आवश्यक सूत्र—टीका, मलय गिरि, रतलाम, १९२८ तथा आगमोदय समिति, बम्बई, १९१६।

आवश्यक निर्युक्ति दीपिका—सूरत १९३९, तथा चूर्णी रतलाम १९२८।

आदिपुराण—जिनसेन कृत—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी—भाग १, १९५१ तथा भाग २, १९६५।

औपपातिक सूत्र—टीका अभयदेवकृत—द्वितीय संस्करण, वि० सं०१९१४।

उपमितिभवप्रपंचा कथा—सिद्धर्षिकृत—सं०, पी० पीटर्सन, कलकत्ता, १८९९।

उत्तराध्ययन—सं०, जे० शार्पेण्टियर, उपासला, १९२२।

उत्तराध्ययन टीका—बम्बई १९३७।

उत्तररामचरित—भवभूति कृत—मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पटना, वाराणसी १९६३।

उवासक दशा—सं०, पी० एल० वैद्य, पूना, १९३० तथा कलकत्ता, १८८९-९०।

ऐतरेय ब्राह्मण—सं०, टी० आफ्रेक्ट, बान (जर्मनी) १८७९, तथा त्रिवेन्द्रम १९४२।

कठोपनिषद्—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९३०।

कथाकोष—अनुवादक सी० एच० टानी, लंदन १८९५।

कथा सरित्सागर—सोमदेवकृत—अनुवादक सी० एच० टानी, लंदन १९२४।

काशिका वृत्ति—बनारस १९३१।

कामन्दक नीतिसार—सं०, गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, १९१२।

कामसूत्र—वात्स्यायन कृत—जयमंगला टीका सहित सं०, दुर्गाप्रसाद, बम्बई, १९००।

कादम्बरी—बाणभट्टकृत—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९५०-५१ तथा अंग्रेजी अनुवाद—सी० एम० रीडिंग, लंदन, १८९६।

कुमारपाल चरित—हेमचन्द्र कृत, पूना १९३६।

कुट्टनीमतम—दामोदर कृत—बनारस, १९२४।

कर्पूरमंजरी—राजशेखरकृत—कैम्ब्रिज १९०१, तथा सं०, राजकुमार आचार्य, बनारस, १९५५ ।

कूर्मपुराण—सं०, नीलमणि मुखोपाध्याय, कलकत्ता, १८९०, तथा भाग १ और २ संस्कृत संस्थान, बरेली, १९७० ।

कृत्यकल्पतरु—लक्ष्मीधर कृत—सं०, के० वी० रंगस्वामी आयंगर, बड़ौदा, १९४१-५३ ।

कुवलयमाला कहा—उद्योतन सूरि, बड़ोदा, १९२७ ।

कालिदास ग्रन्थावली—(रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत, अभिज्ञानशाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशी)—सं०, सीताराम चतुर्वेदी, अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, काशी, सं० २००७ ।

किरातार्जुनीयम्—भारविकृत—निर्णय सागर मुद्रणालय, बम्बई, १९५४ ।

कालिकापुराण—वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ।

काव्य मीमांसा—राजशेखर कृत - सं०, के० यस० रामस्वामी शास्त्री, बड़ोदा १९३४; तथा बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना ।

कल्पसूत्र—बम्बई १९३८ तथा श्री अमर जैनागम शोध संस्थान सिवाना १९६८ ।

कृत्य रत्नाकार—चंडेश्वर कृत—कलकत्ता १९२५ ।

कुमारपाल प्रतिबोध—जिनमण्डन कृत—गायकवाड ऑरियन्टल सीरीज १४, १९२० ।

गौतम धर्मसूत्र—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी १९६६ ।

गोपथ ब्राह्मण—कलकत्ता १८७२ ।

गोभिल स्मृति—आनन्दाश्रय प्रेस, पूना १९०५ ।

गोम्मटसार—जीव काण्ड—अंग्रेजी अनुवाद सहित—रामचन्द्र शास्त्रमाला, बम्बई, १९२७-२८ ।

चरक संहिता—भाग १ तथा भाग २—चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी १९६२ ।

छान्दोग्य उपनिषद्—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९३०, तथा गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० १९९४ ।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—टीका—शान्ति चन्द्र कृत, बम्बई, १९२० ।

जैन सिद्धान्त बोल संग्रह—तृतीय भाग—जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर (राजस्थान) वि० सं० २००५ ।

जातक—कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, १८९५-१९०७ ।

तत्वार्थ सूत्र—विवेचन कर्ता पं० सुखलालजी संघवी—भारत जैन मण्डल, वर्धा तथा रायचन्द जैन शास्त्रमाला, बम्बई १९३२।

तिलोय पण्णत्ति—सोलापुर संस्करण।

तिलक मंजरी—धनपालकृत—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९०३।

तैत्तिरीय ब्राह्मण—सं०, राजेन्द्रलाल, कलकत्ता, १८५५-७०।

तैत्तिरीय संहिता—सायण भाष्य सहित, पूना १९४०।

तैत्तिरीयारण्यक—सं०, हरिनारायण आप्टे, पूना १८९८।

तैत्तिरीय उपनिषद्—गीता प्रेस गोरखपुर, सं० १९९४।

थेरिगाथा—सं०, रिजडेविड्स, लंदन १९०९।

दशकुमार चरित—दण्डी कृत—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९४८।

दशवैकालिक चूर्णी—रतलाम, १९३८।

दशवैकालिक सूत्र निर्युक्ति सहित—बंबई १९१८, १९५४।

दान प्रकाश—जाम नगर, विक्रम सं० १९९७।

दिव्यावदान—सं०, ई०बी० कावेल तथा आर०ए० नील, कैम्ब्रिज, १८८६।

दीर्घनिकाय—पाली टेक्स्ट सोसायटी, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, १८९०-१९११।

देशीनाममाला—हेमचन्द्र कृत—द्वितीय संस्करण—सं०, पी० वी० रामानुज स्वामी, विजयानगरम्, १९३८।

धम्मपद—ओरियण्टल बुक सप्लाइंग एजेंसी, पूना, १९२३।

नायाधम्मकहा—आगमोदय समिति, बंबई १९१९।

नाट्यशास्त्र—भरत मुनिकृत—चोखंबा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९२९।

नीतिवाक्यामृत—सोमदेव सूरि कृत—प्रकाशक पं० सुखलालशास्त्री, दिल्ली १९५०।

नैषधीयचरित—श्रीहर्षकृत—सं०, यन० यस० पी०, बंबई १९३३।

निशीथ सूत्र—भाष्य तथा चूर्णी—सन्मति ज्ञानपीठ; आगरा १९५७-६०।

पद्मपुराण—कलकत्ता १९५७, तथा गुरु मंडल ग्रन्थ माला १८।

पन्नवन सुत—टीका मलय गिरि, बंबई १९१८-१९।

प्रबन्ध चिंतामणि—मेरुतुंग—बंबई १९३२, तथा सिंघी जैन ग्रंथमाला १।

प्रबोध चन्द्रोदय—कृष्णमिश्र कृत—निर्णय सागर प्रेस, बंबई, १९०४।

प्रश्न व्याकरण—टीका अभयदेव, बंबई १९१९।

प्रज्ञापना सूत्र—टीका, मलयगिरि, बंबई १९१२-१९।

प्रश्नोपनिषद्—गीता प्रेस गोरखपुर, संवत् १९९४।
प्रियदर्शिका—हर्षकृत, मद्रास १९३५।
पृथ्वीराज विजय—जयानक कृत—अजमेर १९४१।
पराशर स्मृति—वंकटेश्वर प्रेस, बम्बई १९५८।
पारस्कर गृह्यसूत्र—सम्पादक, गोपाल शास्त्री, चौखंबा संस्कृत सीरीज, बाराणसी १९२६।
बिद्धशाल भंजिका—राजशेखर कृत—संपादक जितेन्द्र विमल चौधरी, कलकत्ता, १९४३।
वृद्धहारीत स्मृति—आनन्द सागर प्रेस, संस्कृत ग्रंथमाला ४८ के अन्तर्गत।
वैखानस स्मार्त सूत्र—सं०, डॉ० केलेण्ड, कलकत्ता १९२७।
वैखानस श्रौत सूत्र—कलकत्ता १९४१।
बृहत्कथा कोष—हरिषेण कृत—बम्बई १९४३।
विविध तीर्थ कल्प—जिनप्रभ सूरि कृत—सिंघी जैनग्रंथ माला १०, १९३४।
वैजयन्ती—यादव प्रकाश—मद्रास, १८९३।
बौधायन धर्मसूत्र—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बाराणसी, १९३४।
,, स्मृति—आनन्द सागर संस्कृत ग्रंथमाला ४८ के अन्तर्गत।
बार्हस्पत्य सूत्र—प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास।
बृहदारण्यक उपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत् २०१२।
बृहत् कल्पभाष्य—संघदास गणि कृत—टीका मलयगिरि और क्षेम कीर्ति—सं०, पुण्य विजय, आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर, १९३३-३८।
बृहत् कल्पभाष्यवृत्ति—आत्मानन्द जैन ग्रंथमाला।
बृहत् संहिता—बाराणसी १९५९, तथा प्रकाशक सुधाकर द्विवेदी, बनारस १८९५-९७।
ब्रह्माण्ड महापुराण—श्री वंकटेश्वर प्रेस, बम्बई १९०६।
ब्रह्मवैवर्त पुराण—श्री वंकटेश्वर प्रेस, बम्बई १९०६, तथा कलकत्ता १९५५।
वराह पुराण—बम्बई १९०२।
बृहस्पति स्मृति—आनन्द सागर संस्कृत ग्रंथमाला ४८ के अन्तर्गत।
वसिष्ठ स्मृति—आनन्द सागर संस्कृत ग्रंथमाला ४८ के अन्तर्गत।
व्यवहार भाष्य तथा टीका—मलयगिरि, भावनगर, १९२६।
बृहत् कथा मंजरी—क्षेमेन्द्रकृत—बम्बई, १९३१।
बृहत् कथा श्लोक संग्रह—बुद्धस्वामी कृत—पेरिस, १९०८-१९२९।

व्याख्या प्रज्ञप्ति टीका —अभयदेव कृत—आगमोदय समिति, बम्बई १९२१।
वेणी संहार—भट्ट नारायण कृत—सं०, जीवानन्द विद्या सागर, कलकत्ता, १८७५।
बीस स्मृतियाँ—भाग १, तथा २, संस्कृत संस्थान, बरेली, १९६६।
भर्तृहरि शतक त्रयी—(नीति शतक, शृंगार शतक तथा वैराग्य शतक), बम्बई १९४६।
भगवती सूत्र—आगमोदय समिति, बम्बई १९२१।
भरद्वाज गृह्यसूत्र—सं०, जे० डब्लू० सलोमनस, १९१३।
भविसयत्त कहा—धनपाल कृत, बड़ौदा १९२३।
भागवत पुराण—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९४०।
मज्झिम निकाय—महाबोधि सभा, सारनाथ, बाराणसी १९६४, तथा लंदन १८८८, १८९९।
मनुस्मृति—चौखम्भा प्रकाशन, बाराणसी १९६५।
महाभारत—गीता प्रेस गोरखपुर, तथा भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना, १९३३, १९६६।
महाभाष्य-पतञ्जलिकृत—सं०, आभ्यंगर शास्त्री, पूना; तथा सं०, यफ० कीलहार्न, बम्बई, १८९२-१९०६।
मानव धर्म शास्त्र—अंग्रेजी अनु० सर डब्लू० जोंस, लंदन १८२५।
मानव गृह्यसूत्र—सं०, अष्टावक्र, यफ० सेंटपीटर्सबर्ग, १८२५।
मालतीमाधव—भवभूतिकृत—निर्णय सागर प्रेस, १९३६।
मानसोल्लास—सोमेश्वरकृत—खण्ड १, २—गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा, १९२५, १९३९।
मिलिन्द पन्ह—आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १८९०।
मार्कण्डेय पुराण—अनु० पार्जिटर बंगवासी एडीशन, कलकत्ता १९०४; तथा संस्कृत संस्थान, बरेली, १९६७।
मत्स्य पुराण—कलकत्ता १९५४; तथा (भाग १, २)—संस्कृत संस्थान, बरेली, १९७०।
महावग्ग—सं०, जगदीश कश्यप, नालन्दा १९५६।
महावंस—हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, हिन्दी संस्करण।
मेघदूत—कालिदास कृत—टीका मल्लिनाथ कृत, गोपाल नारायण कं०, बम्बई १९४९।
महावीरचरित—भवभूतिकृत—बम्बई १९०१।

मनुस्मृति (मेधातिथि भाष्य सहित)—कलकत्ता १९३२-३९ ।
यजुर्वेद संहिता—बम्बई १९२९ ।
यशस्तिलक—(पूर्व खण्ड तथा उत्तर खण्ड)—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९०१ तथा १९०३ ।
यशस्तिलक चम्पू महाकाव्य—महावीर जैन ग्रंथमाला, वाराणसी, १९६० ।
याज्ञवल्क्य स्मृति—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९६७ ।
युक्तिकल्पतरु—भोजकृत सं०, ईश्वरचन्द्र शास्त्री, कलकत्ता, १९१७ ।
योगिनीतंत्र—प्रकाशक-रसिक मोहन चट्टोपाध्याय, कलकत्ता ।
रत्नावली—हर्षकृत—मद्रास १९३५ ।
राजतरंगिणी—कल्हणकृत—अनुवादक—आर० यस० पंडित, इलाहाबाद १९३५, तथा बम्बई १८९२ ।
राजप्रश्नीय सूत्र—आगमोदय समिति सूरत, तथा बम्बई १९२५ ।
रघुवंश—कालिदास कृत—चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी १९६१ ।
रामायण—वाल्मीकि कृत—कल्याण प्रेस, बम्बई १९३५ तथा सं०, वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री—निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९३० ।
लीलावती—भास्कराचार्य-संपादक, यच० सी० बनर्जी, कलकत्ता, १८९३ ।
व्यास स्मृति—कलकत्ता, १८७६ ।
विनय पिटके महावग्ग—सं० जगदीश कश्यप, नालंदा, १९५६ ।
विष्णु धर्मसूत्र—कलकत्ता; तथा आक्सफोर्ड १८८१ ।
विष्णु धर्मोत्तर पुराण—बम्बई, १९१२ ।
वायुपुराण—(प्रथम तथा द्वितीय खण्ड)—संस्कृत संस्थान, बरेली १९६७; तथा गीता प्रेस गोरखपुर ।
विपाक सूत्र—टीका—अभयदेव, बड़ौदा, विक्रम संवत् १९२२ ।
वासुदेव हिण्डी—प्रकाशक, आत्मानन्द सभा, भावनगर ।
व्यवहार सूत्र—भाष्य सहित, सम्पादक—घासीलाल मुनि ।
वाजसनेयी संहिता—संपादक—ए० वेबर, लंदन १८५२ ।
स्थानाङ्ग—मलय गिरि टीका—बम्बई १९१९ ।
समवायांग—आगमोदय समिति बम्बई सन् १९१८-२० ई० ।
सर्व दर्शन संग्रह—भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना, १९२४ ।
संदेशरासक—अब्दुलरहमान-कृत—बम्बई १९४५ ।
समरांगणसूत्रधार—भोजकृत—बड़ौदा, १९२५ ।

समराइच्च कहा—हरिभद्रसूरि कृत—पं० भगवानदास कृत संस्कृत छायानुवाद सहित—जैन सोसायटी, अहमदाबाद, भाग १,१९३८; भाग २,१९४२।

समराइच्च कहा—हरिभद्रकृत, सं०, हर्मन जैकोबी, कलकत्ता, १९२६।

समराइच्च कहा—हरिभद्र कृत सं०, यम० सी० मोदी, अहमदाबाद १९३५, १९३६।

सुमंगल विलासिनी—पाली टेक्स्ट सोसायटी, लंदन १८८६, १९३२।

सौर पुराण—पूना, १९२४।

स्कन्द पुराण—आनन्द आश्रम मुद्रणालय, पूना १९२४।

संयुत्त निकाय—पाली टेक्स्ट सोसायटी, लंदन १८८४-१९०४।

सूत्र कृताङ्ग टीका—वाराणसी, १९६४।

स्मृतिनां समुच्चय—(अंगिरा, अत्रि स्मृति, अत्रि संहिता, आपस्तम्ब, औशनस, गोभिल, दृक्ष, देवल, प्रजापति, बृहस्पति, यम, लघुहारीत, वशिष्ठ, वेद-व्यास, शंखलिखित, शंख, शतातप, सम्वर्त तथा बोधायन स्मृति आदि) संपादित विनयगणेश आप्टे, पूना १९२९।

श्रीमद्भागवत पुराण—गीताप्रेस गोरखपुर; तथा पेरिस १८४०।

श्रीमद्भगवद्गीता—गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०२३।

शंखायन धर्मसूत्र—भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना।

शतपथ ब्राह्मण—आक्सफोर्ड १८८२-१९००।

शक्तिसंगम तंत्र—गायकवाड ओरियन्टल सीरीज।

श्वेताश्वरोपनिषद्—शंकर भाष्य सहित—गीता प्रेस गोरखपुर।

षड्दर्शन समुच्चय—हरिभद्रसूरि कृत—एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, कलकत्ता, १९०५।

हर्षचरित—बाणभट्ट कृत—अंग्रेजी अनुवाद—ई० बी० कावेल, तथा यफ० डब्लू०, थामस, लंदन,१८९७; तथा निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९१२।

हरिवंश पुराण—ज्ञानपीठ संस्करण, काशी १९६२, तथा क्षेमराज वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९४७।

हरिभद्र सूरि चरितम्—हरगोविन्द दास कृत—जैन विविध साहित्य शास्त्र माला।

हितोपदेश—संपादक काशीनाथ पाण्डुरंग परब, बम्बई।

त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित—हेमचन्द्र कृत—प्रसारक सभा, भाव नगर, १९०५-९; तथा—यच० यम० जानसन द्वारा अनूदित, बड़ौदा १९३१,३७,४९-५४।

ज्ञातृधर्म कथा—टीका-अभयदेव कृत-आगमोदय समिति बम्बई, १९१९ई०, तथा एन० सी० वैद्य-पूना १९४० ।

ऋतु संहार—कालिदास कृत—बम्बई १९३८ ।

ऋग्वेद संहिता—वैदिक संशोधन मंडल, पूना १९३६-१९४६ ।

आधुनिक सहायक ग्रन्थ

अग्रवाल, वासुदेवशरण—पाणिनिकालीन भारत वर्ष, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, वि० सं० २०१२ ।

अग्रवाल, वासुदेवशरण—कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन—चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी १९५८ ।

अग्रवाल, वासुदेवशरण—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन-बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, १९५३ ।

अग्रवाल, वासुदेवशरण—प्राचीन भारतीय लोकधर्म, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, १९६४ ।

अग्निहोत्री, प्रभुदयाल—पतंजलि कालीन भारत, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६३ ।

आचार्य, पी० के०—आर्कीटेक्चर आफ मानसार—आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९३५ ।

अल्तेकर, ए०यस०—राष्ट्रकूटाज एण्ड दियर टाइम्स—ओरियन्टल बुक एजेंसी, पूना १९६७ ।

,, ,, —प्राचीन भारतीय शासन पद्धति—भारतीय भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद १९५९ ।

,, ,, —स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन ऐंसियन्ट इण्डिया, दिल्ली, १९५८ ।

ओमप्रकाश—फूड एण्ड ड्रिंक्स इन ऐंसियन्ट इण्डिया—मुंशीराम मनोहर-लाल ओरियन्टल बुक सेलर्स एण्ड पब्लिशर्स, दिल्ली, १९६१ ।

अवस्थी, ए०बी० यल०—स्टडीज इन स्कन्दपुराण, कैलाश प्रकाशन, लखनऊ, १९६६ ।

इलियट एण्ड डाउसन—हिस्ट्री आफ इण्डिया ऐज टोल्ड बाई हर ओन हिस्टोरियन्स, वाल्यूम नं० १, और नं० २, लंदन १८६६ ।

उपाध्याय, भरत सिंह—बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, शक सं० १८८३ ।

उपाध्याय, भगवतशरण—भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका—रणजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स, चाँदनी चौक, दिल्ली, १९६५।

उपाध्याय, वासुदेव—प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, प्रज्ञा प्रकाशन, पटना, १९७०।

,, ,, —सोसिओ रिलिजस कण्डीशन आफ नार्थ इण्डिया, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६४।

कनिंघम, अलेक्जेंडर—अर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया ऐनुअल रिपोर्ट्स।

,, ,,—ऐंसियन्ट ज्योग्राफी आफ इण्डिया, लंदन, १८७१।

काणे, पी०वी०—धर्मशास्त्र का इतिहास—हिन्दी अनुवाद (अनुवादक-अर्जुन चौबे कश्यप)—भाग १, २ तथा ३, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ।

काणे, पी०वी०—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, वाल्यूम १ से ५ तक भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना १९३०-६२।

कुमार स्वामी, ए० के०—यक्षाज, वाशिंगटन, १९२८।

खरे, सुशीला—प्राचीन भारतीय संस्कृति में सरस्वती, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६६।

—गोपीनाथ कविराज अभिनन्दन ग्रंथ, अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ, सितम्बर, १९६७।

गुप्त, परमेश्वरीलाल—गुप्त साम्राज्य का इतिहास—विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी १९७०।

गोपाल, लल्लन जी—इकोनामिक लाइफ आफ नार्दर्न इण्डिया, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पटना, वाराणसी १९६५।

घोषाल, यू० यन०—ए हिस्ट्री आफ इण्डियन पोलिटिकल ऐडियाज, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५९, तथा १९६६।

घूर्ये फेलिसिटेशन वाल्यूम—संपादक के० यम० कपाडिया, पापुलर बुक डिपाट, बम्बई ७।

जैन, गोकुलचंद्र—यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन—भारतीय ज्ञानपीठ।

जैन, जगदीशचन्द्र तथा मोहनलाल मेहता—जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग २—बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, १९६६।

जैन, जगदीशचन्द्र—जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, चौखम्बा भवन चौक, वाराणसी १९६५।

जैन हीरालाल—प्राचीन भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान—मध्यप्रदेश साहित्य परिषद् व्याख्यान माला, भोपाल, १९६२।

जैन, श्रीचन्द्र—हमारे पशु-पक्षी—आत्माराम एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली १९६७।

जैन, श्रीचन्द्र—जैन कथाओं का सांस्कृतिक अध्यन, बोहरा प्रकाशन, जयपुर, १९७१।

जैन, कोमलचन्द्र—जैन और बौद्ध आगमों में नारी जीवन, सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति, अमृतसर, १९६७।

जैकोबी, हर्मन—स्टडीज इन जैनिज्म—जैन साहित्य संशोधक कार्यालय, अहमदाबाद।

चक्रवर्ती, पी० सी०—आर्ट आफ वार इन ऐंसियन्ट इण्डिया, यूनिवर्सिटी आफ ढाका, १९४१।

चक्रवर्ती, सी० यच०—दी तंत्राज-स्टडीज इन दियर रिलिजन एण्ड–लिट-रेचर–पुन्थी पुस्तक, कलकत्ता, १९६३।

चकलादार, यच० सी०—मोसल लाइफ इन ऐंसियन्ट इण्डिया—स्टडीज इन कामसूत्र—बृहत्तर भारत परिषद्, कलकत्ता, १९२९।

चन्द, रायगोविन्द—प्राचीन भारत में लक्ष्मी प्रतिमा, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, १९६४।

चोधरी, गुलाबचन्द्र—पोलिटिकल हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्डिया फ्राम जैन सोर्मेज (६५०-१३००), सोहनलाल जैन धर्म प्रकाशक समिति, अमृतसर, १९६३।

टार्न, डब्लू०-डब्लू०—ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इंडिया, कैम्ब्रिज १९५१।

डे०, यन० यल०—ज्योग्राफिकल डिक्शनरी आफ ऐंसियन्ट एण्ड मेडिकल इंडिया, लन्दन, १९२७।

टकाकुसू, जे० ए०—रिकार्ड्स आफ बुद्धिस्ट रिलिजन ऐज प्रैक्टिज्ड इन इंडिया एण्ड मलाया आर्कोपेलागो बाई इत्सिंग, आक्सफोर्ड, १८९६।

दत्ता, बी० यन०—हिन्दू ला आफ इनहेरिटेन्स—कलकत्ता १९६७।

दास गुप्त, टी० सी०—ऐस्पेक्ट आफ बंगाली सोसायटी—कलकत्ता १९३५।

दास, बेचर—जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १, पार्श्वनाथ शोध संस्थान, वाराणसी १९६६।

दीक्षितार—आर्ट आफ वार इन ऐंसियन्ट इंडिया—मैक्मिलन एण्ड कम्पनी लिमिटेड—लंदन १९४८।

द्विवेदी, हजारीप्रसाद—प्राचीन भारत के कलात्मक मनोविनोद, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई १९५८।

दूबे, सेवत—ज्योग्राफिकल कान्सेप्ट्स इन ऐंसियन्ट इंडिया, नेशनल आर्कियालोजिकल सोसायटी आफ इंडिया, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, १९६७।

दी कल्चरल हैरिटेज आफ इण्डिया, वाल्यूम ४—एडीटेड बाई-हरिदास भट्टाचार्य—रामकृष्णमिशन इन्स्टीच्यूट, कलकत्ता।

नाहर, पी० सी०—जैन इन्सक्रिप्सन्स (जैन लेख संग्रह)—वाल्यूम ३, कलकत्ता १९१८-२८।

नाथ, प्रान—इकोनामिक कन्डीशन इन ऐंसियन्ट इंडिया, लंदन, १९३२।

नियोगी, पुष्पा—कन्ट्रीब्यूशन्स टु दी एकोनामिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इंडिया, प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स १९६२।

प्रभु, पण्ढरिनाथ—हिन्दू सोशल अर्गनाइजेशन—लागमेन्स ग्रीन एण्ड कम्पनी, १९३८।

पाठक, सर्वानन्द—चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९५५।

पाण्डेय, लालता प्रसाद—सन वर्शिप इन ऐंसियन्ट इंडिया, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, पटना, वाराणसी।

पाण्डेय, एम० एस०—हिस्टारिकल ज्योग्राफी—एण्ड टांपोग्रेफी आफ बिहार, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पटना, वाराणसी १९६३।

पाण्डेय, राजबली—हिस्टारिकल एण्ड लिटरेरी इन्सक्रिप्सन्स, वाराणसी, १९६२।

पाण्डेय, राजबली-हिन्दू संस्कार—चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी १९६६।

पिंजर, एन० एम०—इक्स्प्लानेटरी नोट्स आन ओसन आफ स्टोरी, ट्रांसलेटेड बाई टानी, वाल्यूम १ से १० तक—मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पटना, वाराणसी।

फेरेण्ड, जी०—वायेज डो मरचेण्ड अरबे सुलेमान येन इन्दे पेत पेन चाइना, पेरिस १९२२।

बनर्जी जे० एन०—डेवलेपमेंट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, यूनिवर्सिटी आफ कलकत्ता, १९५६।

बनर्जी, आर० डी०—ईस्टर्न इण्डियन स्कूल आफ मेडिवल स्कल्पचर, दिल्ली १९३३।

बाजपेयी, के० डी०—ज्योग्राफिकल इंसाइक्लोपीडिया आफ ऐंसियन्ट एण्ड मेडिवल-इण्डिया—वाराणसी १९६७।

बेनी प्रसाद—थियरी आफ गवर्नमेंट इन ऐंसियन्ट इण्डिया, सेण्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, १९६८।

बेचरदास—जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १—बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, १९६६।

बैशम, ए० एल०—दी वण्डर दैट वाज इण्डिया—दिल्ली, १९६३।

बनर्जी, जी० एन०—हेलेनिज्म इन ऐंसियन्ट इण्डिया, कलकत्ता प्रकाशन १९२०।

बन्द्योपाध्याय, एन० सी०—इकोनामिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन ऐंसियन्ट इण्डिया भाग १—कलकत्ता १९४५।

बरुआ एण्ड सिनहा—भरहुत इन्सक्रिप्सन्स—कलकत्ता १९२६।

ब्राउन, सी० जे०—कैटलाग आफ क्वायन्स इन दी प्राविंसियल म्यूजियम लखनऊ—आक्सफोर्ड १९२०।

बील, सैमुअल—लाइफ आफ ह्वेन्सांग—लन्दन १९११।

भट्टाचार्य, सुखमय—महाभारत कालीन भारतीय समाज (हिन्दी अनुवाद), इलाहाबाद, १९६६।

भट्टाचार्य, पी० एन०—कामरूप शासनावली, रंगपुर, वि० सं० १३३८।

भट्टाचार्य, तारापद—दी कल्ट आफ ब्रह्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी १९६९।

भण्डारकर, डी० आर०—लेक्चर्स आन ऐंसियन्ट इंडियन नुमिस्मेटिक्स-यूनिवर्सिटी आफ कलकत्ता, १९२१।

भण्डारकर, आर० जी०—वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टम्स, स्ट्रेसबर्ग, १९१३।

भार्गव, पुरुषोत्तम लाल—इंडिया इन दी वैदिक एज,—दी अपर इंडियन पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ १९७१।

भाटिया, प्रतिपाल—परमाराज—मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली १९७०।

मजूमदार, आर० सी०—सुवर्णद्वीप, पार्ट १—ढाका १९३७; पार्ट २, कलकत्ता १९३८ ।

मजूमदार, बी० पी०—सोसिओ इकोनामिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इंडिया, कलकत्ता—१९६० ।

मजूमदार, ए० के०—चालुक्याज आफ गुजरात, भारतीय विद्या भवन बम्बई, १९५६ ।

मलाल शेखर—डिक्शनरी आफ पाली प्रापर नेम्स, इंडियन टेक्स्ट सीरीज, लंदन, १९३७-३८ ।

मुनि, जिनविजय जी—हरिभद्राचार्यस्य समय निर्णय; जैन साहित्य संशोधक समाज, पूना ।

यम० हिरियन्ना—भारतीय दर्शन की रूपरेखा (हिन्दी अनुवाद)—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली—१९६५ ।

मेहता, मोहनलाल—जैन आचार, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी १९६६ ।

मेहता, मोहनलाल -जैन दर्शन—श्री सन्मतिज्ञानपीठ, आगरा, १९५९ ।

,, एवं हीरालाल जैन—जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ४—पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान—बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी १९६८ ।

मेहता, रतिलाल—प्री बुद्धिस्ट इंडिया—बाम्बे इक्जामिनर प्रेस, १९३९ ।

मेहता, मोहनलाल एण्ड डा० के० रिषभचन्द्र—प्राकृत प्रापर नेम्स, पार्ट १, एल० डी०—इन्स्टीच्यूट आफ इन्डोलाजी, अहमदाबाद, १९७० ।

मैक्क्रिण्डिल—इनवेजन आफ इंडिया—वेस्टमिनिस्टर, कौंस्टेबुल एण्ड कं० १८९३ ।

,, —ऐंसियन्ट इंडिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई टोलेमी, कलकत्ता, १९२७ ।

,, ऐंसियन्ट इंडिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज एण्ड एरियन, कलकत्ता, १९६० ।

मैक्डोनल, ए० ए०—वैदिक माइथाल्जी, स्ट्रेसबर्ग १८९७ ।

मैक्डोनल, ए० ए० एवं कीथ—वैदिक इंडेक्स आफ नेम्स एण्ड सब्जेक्ट्स, वाल्यूम १, २, मोती लाल बनारसी दास दिल्ली, पटना, वाराणसी, १९६७ ।

मिश्र, राजेन्द्र लाल—ऐन्टीक्विटीज आफ उड़ीसा, वालूम १, कलकत्ता, १९६१।

मिश्र, शिव शेखर—मानसोल्लास एक सांस्कृतिक अध्ययन—चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी १९६६।

मोतीचन्द—सार्थवाह—बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, १९६३।

,, —प्राचीन भारतीय वेश-भूषा, भारती भण्डार, प्रयाग सं० २०१२।

यूल, सर हेनरी—दी बुक आफ सेर मार्कोपोलो—ट्रांस्लेटेड एण्ड एडीटेड बाई सर यच० यूल, २ वालूम-लंदन १९०३ तथा लंदन १९२०।

रैप्सन, ई० जे०—कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, दिल्ली १९५५।

राय चौधरी, एच० सी०—पोलिटिकल हिस्ट्री आफ इंडिया—कलकत्ता १९३८।

राव, विजय बहादुर—उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६६।

राव, गोपीनाथ—एलीमेन्ट्स आफ हिन्दू आइक्नोग्राफी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पटना, वाराणसी १९६८।

ला, बी० सी०—हिस्टारिकल ज्योग्राफी आफ एंसियन्ट इंडिया, पेरिस १९६८।

,, —ज्योग्राफी आफ अर्ली बुद्धिज्म—लंदन १९३२।

,, —ज्योग्राफिकल एसेज-लंदन, १९३७।

,, —इंडिया एज डिस्क्राइब्ड इन दी अर्ली टेक्स्ट्स आफ बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म—लंदन, १९४१।

लेगे, जे० एच०—ट्रेवेल्स आफ फाहियान—आक्सफोर्ड १८८६।

वाकर, बेन्जामिन—हिन्दू वर्ल्ड, जार्ज एलेन एण्ड अनविन लिमिटेड, लंदन १९६८।

विद्याप्रकाश—खजुराहो—बम्बई, १९६७।

वोगल, सी० जे० डी०—ग्रीक फिलासफी—ई० जे० ब्रिल लीडेन, १९५९।

वाटर्स, टामस—आन युवान च्वांग्स ट्रेवेल्स इन एंसियन्ट इंडिया, लंदन १९०४-५।

विंटरनित्स, यम०—हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, भाग २—नयी दिल्ली १९७२।

सरकार, डी० सी०—दी शक्ति कल्ट एण्ड तारा, यूनिवर्सिटी आफ कलकत्ता १९६७।

सरकार, डी० सी०—लक्ष्मी एण्ड सरस्वती इन आर्ट एण्ड लिटरेचर—यूनिवर्सिटी आफ कलकत्ता—१९७० ।

सरकार, डी० सी०—स्टडीज इन दी ज्योग्राफी आफ ऐंसियन्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया—मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, पटना, वाराणसी १९६० ।

सरकार, डी० सी०—सेलेक्ट-इन्सक्रिप्सन्स, कलकत्ता १९४२ तथा मोती लाल बनारसी दास दिल्ली, पटना, वाराणसी १९६६ ।

सरकार, डी० सी०—इण्डियन इपिग्रैफिकल ग्लासरी, मोतीलाल बनारसी दास, १९६१ ।

सचाऊ, ई० सी०—अलबरूनीज इण्डिया, वाल्यूम १, २, लंदन १९१० तथा १९१४ ।

स्टीवेंसन, यम०—दी हर्ट आफ जैनिज्म, मुंशीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली, १९७० ।

सिकदार, जे० सी०—स्टडीज इन दी भगवतीसूत्र, रिसर्च इन्सटीच्यूट आफ प्राकृत, जैनालोजी एण्ड अहिंसा, मुजफ्फरपुर (बिहार) १९६४ ।

सिंहल, सी० आर०—बिबलियोग्रैफी आफ इंडियन क्वायन्स, बम्बई १९५० ।

सिंह, आर० सी० पी०—किंगशिप इन नार्दर्न इण्डिया (सन् ६००-१२००), मोतीलाल बनारसी दास, १९६८ ।

सूर्यकान्त—वैदिक कोश—बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी १९६३ ।

सेन, मधू—ए कल्चरल स्टडी आफ निशीथ चूर्णी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी ।

शर्मा, दशरथ—अर्ली चौहान डायनेस्टीज, यस० चन्द एण्ड कम्पनी दिल्ली, जालन्धर—लखनऊ १९५९ ।

शर्मा, आर० यस०—इण्डियन फ्यूडलिज्म, यूनिवर्सिटी आफ कलकत्ता १९६५ ।

शर्मा, आर० यस०—भारतीय सामन्तवाद—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९७३ ।

शर्मा, जे० पी०—रिपब्लिक्स इन ऐंसियन्ट इण्डिया, ई० जे० ब्रिल लीडेन, १९६८ ।

शर्मा, बृजनारायण—सोसल लाइफ इन नार्दर्न इंडिया, मुन्शीराम मनोहर लाल, नई सड़क, दिल्ली १९६६ ।

शास्त्री, कैलाशचन्द्र—जैन धर्म, भारतीय दिगम्बर जैन संघ मथुरा, १९६६ ।

शास्त्री, के० ए० यन०—फारेन नोटिसेज आफ साउथ इंडिया, मद्रास १९३९ ।

शास्त्री, के० ए० नीलकण्ठ—दी चोलाज, यूनिवर्सिटी आफ मद्रास, १९५५।

शास्त्री, नेमिचन्द्र--हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली, मुजफ्फरपुर. १९५५।

शास्त्री, नेमिचन्द्र—आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, श्री गणेश प्रसाद वर्णी ग्रंथमाला, वाराणसी १९६८।

हर्ष, यफ० एवं रार्कहिल. डब्लू० डब्लू०--चाऊ जू कुआ—सेंटपीटर्स बर्ग १९११।

हसन, अबू जईद एण्ड सुलेमान—ऐंसियन्ट एकाउन्ट्स आफ इण्डिया एण्ड चाइना, लन्दन १७३३।

हार्पकिंस, ई० वाशवर्न—इपिक माइथालोजी, स्ट्रेसवर्ग १९१५।

हैंडोकी, के० के०—यशस्तिलक एण्ड इंडियन कल्चर, सोलापुर, १९६८।

त्रिपाठी, हरिहरनाथ—प्राचीन भारत में अपराध और दण्ड—चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६४।

त्रिपाठी, हरिहरनाथ—प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका—मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पटना, वाराणसी १९६५।

पत्र-पत्रिकाएँ

आर्कियालॉजिकल सर्वे आफ इंडिया, ऐनुअल रिपोर्ट।

ओरियन्टल कान्फ्रेन्स, बनारस।

एपिग्रैफिया इण्डिका।

एपिग्रैफिया कर्नाटिका।

इंडियन ऐण्टीक्वेरी।

इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, कलकत्ता।

कार्पस इस्क्रिप्शनम इण्डिकैरम।

कुमायूँ आसाम डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स।

जर्नल आफ दी बाम्बे ब्रांच आफ रायल एशियाटिक सोसायटी, बाम्बे।

जर्नल आफ दी नुमिस्मेटिक सोसायटी आफ इण्डिया, वाराणसी।

जर्नल आफ दी रायल एशियाटिक सोसायटी, लन्दन।

जर्नल आफ दी एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल।

जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री।

जर्नल आफ दी बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी।

डिस्ट्रिक्ट गजेटियर पूर्निया १९११ ।
पूना ओरियण्टल ।
बाम्बे गजेटियर ।
भागलपुर बिहार डिस्ट्रिक्ट गजेटियर ।
राजस्थान भारती, बीकानेर ।
जैन एंटीक्वेरी ।

कोश

संस्कृत हिन्दी कोश—आप्टे, वामन शिवराम—मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पटना, वाराणसी ।
संस्कृत इंगलिश कोष--आप्टे वी० एम०--पूना १९६७ ।
हलायुध कोष--सं०, जयशंकर जोशी, पब्लिकेशन ब्यूरो, लखनऊ ।
पाइअ-सद्द-महण्णवो (प्राकृत शब्द महार्णव)--प्राकृत ग्रन्थ परिषद् वाराणसी १९६३ ।

शब्दानुक्रमणिका

त

श

●

लेखक ने सन् १९६९ ई० में काशी विद्यापीठ से 'इतिहास' विषय में स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त की। तत्पश्चात काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के 'प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग' में जनवरी १९७० ई० में प्रोफेसर लल्लन जी गोपाल के निर्देशन में शोध-कार्य प्रारंभ करके तीन वर्ष के अन्दर ही 'डॉक्टर आफ फिलॉसॉफी' की उपाधि प्राप्त की। सम्प्रति ये उक्त विभाग में 'पोस्ट डॉक्टारल रिसर्च' कर रहे हैं। अब तक आप के लगभग बीस शोध निबन्ध विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं।